श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

सहजानन्द वस्तु-तथ्य प्रवचन
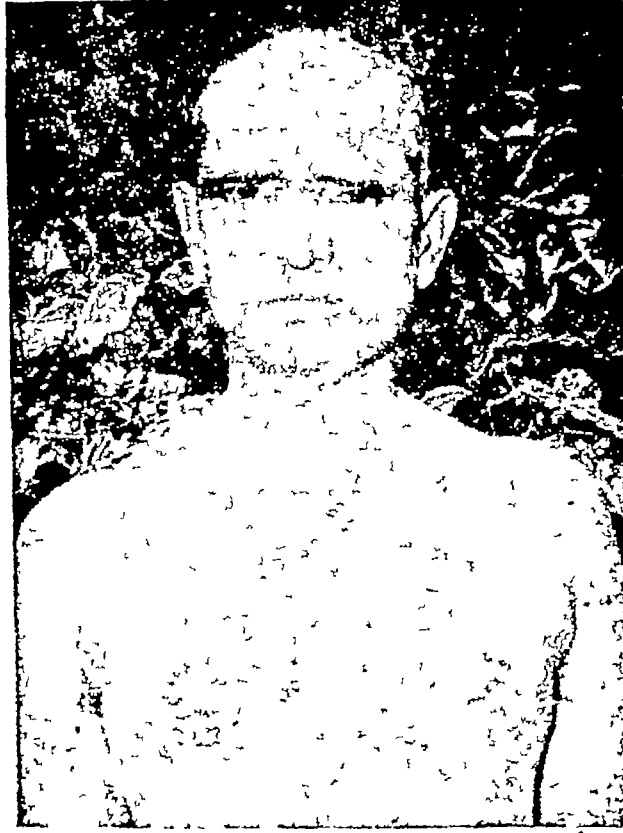
प्रवक्ता —
अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्त-न्याय-साहित्यशास्त्री
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
'श्रीमत्सहजानन्द' महाराज

प्रकाशक -
खेमचन्द जैन सर्राफ,
मन्त्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उ० प्र०)

प्रथम संस्करण १०००
सन् १९७८

लागत बिना जिल्द १)२५ रु०
जिल्द का पृथक् १)५० रु०

भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्य मंदिरके संरक्षक

(१) श्रीमती राजो देवी जैन ध० प० स्व० श्री जुगमदरदासजी जैन आड़ती, सरधना
(२) श्रीमती सरलादेवी जैन ध० प० श्री ओमप्रकाश जी दिनेश वस्त्र फैक्टरी, सरधना

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन बैंकर्स, सदर मेरठ
(२) श्रीमती फूलमाला देवी, ध० प० ला० महावीरप्रसादजी जैन बैंकर्स, सदर मेरठ
(३) श्रीमान् ला० लालचन्द विजयकुमार सर्राफ, सहारनपुर
(४) श्रीमती शशिकान्ता जैन ध० प० श्री धनपालसिंह जी सर्राफ, सोनीपत
(५) श्रीमती सुवटी देवी जैन, सरावगी गिरीडीह
(६) श्रीमती जमना देवी जैन ध० प० श्री भवरीलाल जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया

नवीन स्वीकृत संरक्षक

(७) श्रीमती रहती देवी जैन ध० प० श्री विमलप्रसादजी जैन, मंसूरपुर
(८) श्रीमती श्रीमती जैन ध० प० श्रीनेमिचदजी जैन, मुजफ्फरनगर
(९) श्रीमान् शिखरचद जियालाल जी एडवोकेट, ,,
(१०) श्रीमान् चिरंजीलाल फूलचंद बैजनाथजी जैन बडजात्या नई मडी, ,,
(११) श्रीमती पूना बाई ध० प० स्व० श्री दीपचन्द जी जैन गोटेगांव

सहजानन्द-साहित्य-उद्घोष

वस्तु सामान्यविशेषात्मक है, द्रव्यपर्यायात्मक है। अत: स्याद्वाद द्वारा समस्त विवाद विरोध समाप्त कर वस्तुका पूर्ण परिचय कीजिए और आत्मकल्याणके अनुरूप नयोको गौण मुख्य करके अभेदपद्धतिके मार्गसे आत्मलाभ लीजिए।

परमात्म-आरती

ॐ जय जय अविकारी ।

जय जय अविकारी, स्वामी जय जय अविकारी ।
हितकारी भयहारी, शाश्वत स्वविहारी ॐ··· ॥ टेक ॥

काम क्रोध मद लोभ न माया, समरस सुखधारी ।
ध्यान तुम्हारा पावन, सकल क्लेशहारी ॥ १ ॥ ॐ

हे स्वभावमय जिन तुमि चीना, भव सन्तति टारी ।
तुव भूलत भव भटकत, सहत विपति भारी ॥ २ ॥ ॐ····

परसम्बध बध दुख कारण, करत अहित भारी ।
परमब्रह्म का दर्शन, चहु गति दुखहारी ॥ ३ ॥ ॐ ··

ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिमन सचारी ।
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगुण भण्डारी ॥ ४ ॥ ॐ ···

बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शातिचारी ।
टलें टलें सब पातक, परबल बलधारी ॥ ५ ॥ ॐ···

नोट—यह आरती निम्नाकित अवसरोपर पढी जाती है—

१– मन्दिर आदिमे आरती करनेके समय ।
२– पूजा, विधान, जाप, पाठ, उद्घाटन आदि मगल कार्योमे ।
३– किसी भी समय भक्ति-उमगमे टेकका व किसी छदका पाठ ।
४– सभाओमे बोलकर या बुलवाकर मगलाचरण करना ।
५– यात्रा वदनामे प्रभुस्मरणसहित पाठ करते जाना ।

卐卐卐 卐
卐 卐
卐卐卐卐卐
卐 卐
卐 卐卐卐
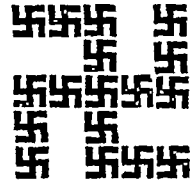
आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥ टेक ॥

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ॥ १ ॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥ २ ॥

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुःख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ॥ ३ ॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुंचू निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥ ४ ॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ॥५॥

[धर्मप्रेमी बधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरोपर निम्नांकित पद्धतियों मे भारतमे अनेक स्थानोपर पाठ किया जाता है। आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमे श्रोतावो द्वारा सामूहिक रूपमे।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरपर।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रो द्वारा।
४—सूर्योदयसे एक घटा पूर्व परिवारमे एकत्रित बालक-बालिका, महिला तथा पुरुषो द्वारा।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओ द्वारा।

सहजानन्द वस्तु-तथ्य प्रवचन

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

(१)

(१) प्राणियोके दु खी रहनेका कारण—हम आप सब संसारी प्राणी एक यह ही चाहते है कि हम दुःखी न हो और सुखी हो, शान्त हो, पर शान्तिका उपाय कषाय करना नही, किन्तु कषायसे दूर रहना है। कपाय स्वय दुःख स्वरूप है। कषाय रखकर दुःखसे दूर होनेकी आशा करना बिल्कुल व्यर्थ है। तो सुख चाहिए, शान्ति चाहिए, आराम चाहिए तो यह आवश्यक है कि अपनेमे कषाय न जगें। सभी कषायोका अनुभव परख लीजिए। जब चित्त मे क्रोध जगता है तब भीतरमे यह धधक जाता है, दु खी हो जाता है। अच्छा किसी न्याय की बात पर क्रोध होता हो तो देखो, अन्यायपर क्रोध होता हो तो देखो, किसी भी विषयमे क्रोध होता हो वह देखो, दुःखका सभी अनुभव करते हैं। जब मान कषाय जगती है तो यह सब भूल जाता है कि संसार तो अनादि अनन्त है और यह लोकक्षेत्र बहुत परिमाण वाला है। इस जरासे परिचित क्षेत्रके लिए क्या गर्व करना ? अगर सारे लोकमें हमारा यश फैले तो थोडा यशका प्रयत्न कर लें, पर सारे लोकमे तो यश फैलता नही। तो जरा सी बिन्दु बराबर जमीनमे चलाकी कामना करके क्यो दुःखी होते ? गर्व होता है यशके आधारपर। कुछ यश मिलता हो, कोई दूसरा अच्छा कहता हो तो वहाँ गर्व होता है। और जिसके गर्व हुआ उसने अपना पतन किया। किसीमे चाहे कुछ पुण्योदयवश तृष्णा बनती रहे मगर भीतर तो खोखला हो जाता है। जो बात जिस विधानसे होनी होती है उसे कौन टालेगा ? कोई सोचे कि हम गर्व करें और संसारमे शान्तिके पात्र रहे तो कैसे हो सकेगा ? मायाचार कषाय प्रकट क्लेशमय है। जब किसीके साथ छल किया जाता है तो इसका आत्मबल खत्म हो

जाता है। फिर इसके ज्ञानमे क्रान्ति नही रहती, दबा हुआ रहता है, कायर बनकर रहता है, और निरन्तर कितनी ही प्रकारके विभाव जगते हैं, कल्पनायें जगती है, वहां यह दुःखी होता है। और लोभका रग तो बहुत ही बुरा रग है। धनका लोभ हो तो वह तो एक बहुत दु ख वाली स्थिति है।

(२) **यशोलोभकी महती मलीमसता**—किसीको ज्ञानका लोभ होता तो किसीको धन का। तो देखो जगतमे हमारा यश हो, इस भावसे ही लोभ जगता है सबके। धनका, विद्याका, अपनी नामवरीका, किसी बातका जब लोभ जगता है सो सब लोभका आधार है यश। नही तो पूछ लो कि धनी क्यो ज्यादा बनते जा रहे ? लखपति हो गए तो अब करोडपति बनना चाहते। अरे खानेको रोटी नही मिलती क्या ? तन ढांकनेको कपडे नही मिलते क्या ? बताओ कौन सी कमी आयी जो करोडपति बननेका भीतरमे भाव रखते ? उदयवश बन जाय करोड-पति तो उसकी बात नही कह रहे, मगर जो इच्छा रखता, तृष्णा करता तो यह बताये वह कि करोडपति क्यो बनना चाहता ? इसीलिए कि लोग कहेगे कि अच्छा धनिक तो यह है। और जहां सभा होगी वहा लोग आगे बैठा लेंगे या अन्य कुछ बात, इसलिए धनी बनता है। तो आखिर आयी ना यशकी बात ? कोई लोग कहते हैं कि भाई पुत्र नही है, सब सूना लगता है। अरे तो पुत्र न होनेसे दुःख मान रहा क्या यह ? यह सोच रहा है कि मेरे बाद लोग क्या कहेगे कि कुछ नही रहा। यह इसका लडका है, मेरा नाम रहेगा, इस तरहसे कोई यश की बात चित्तमे है तब उसको पुत्रकी बात मनमे आती है। तो सब जगहके दद फदोका कारण यश वाञ्छा है जो कि बिल्कुल अप्रयोजक है। सो यशकी चाह करना कितना पागल-पन है ? यह यश सारी दुनियामे तो फैलता नही, बिन्दु भर जगहमे कुछ यश हो तो कल्पित यशमे यह लट्टू रहता है। सारे जीवोमे तो यश फैल नही सकता, कुछ हजार पांच सौ मे यश आ गया वो उससे अपनेको बेसुध बना देते हैं। अनन्त काल तक तो यश रहेगा नही, रह जायगा कोई १०-२०-५० अथवा १०० वर्ष तक, तो इस अनन्त कालके सामने यह १०० ५० वर्षका समय क्या कीमत रखता है ? इतने के लिए मरते फिरते है। इस यशका लोभ, यशकी वाञ्छा यह इस जीवको घेर घेर करके बरवाद करने वाली चीज है।

(३) **शाश्वत सत्य शान्तिका उपाय और सकट हेतु विध्वंसक धर्मपालन**—बाहरमे कौन सा पदार्थ ऐसा है कि जिसके पा लेनेसे इस जीवको शान्ति लाभ हो ? तो कुछ भी समा-गम बनाये, कुछ भी बात आये, उससे शान्तिका लाभ नही। तब कहां लाभ है ? धर्मपालन मे। रूढि वश भी लोग कहते हैं कि धर्म करो। धर्मसे सुख होता है। और चित्तमे विचार [illegible] करनेसे सुख होता कि नही ? धर्म क्या चीज है, धर्मका पालन किसलिए

करना है और धर्मकी किसको जरूरत है ? इन तीन बातोका निर्णय हो तो धर्मपालनकी दिशा अच्छी बन सकती है। कितनी बात समझना है—धर्म किसे चाहिए, धर्म किसे कहते और धर्म किसलिए करना, इन तीनो बातोको भली प्रकार समझना है। धर्म किसे चाहिए ? जिसको कुछ पीर हो, संकट हो, और अन्तः स्वरूप कष्ट सहित हो उसे धर्म चाहिए। संकटोका निवारण करनेके लिए धर्मकी आवश्यकता है, पर सकट नाम किसका ? कही धन कम हो गया या कोई कठिन रोग हो गया या कोई हानि हो गई या घरमे कोई गुजर गया, इसको सकट नही कहते है। ये सकट हैं ही नही। कोई घरका गुजर गया, आयुसे आया, आयुक्षयसे गुजर गया। चला गया, कही भी हो। आपपर क्या सकट आया ? अगर १०-५ हजार कही गिर गए या कुछ हो गया, नुक्सान पड गया तो आपपर क्या सकट आया ? वह तो बाहरकी चीज है। आप तो एक ज्ञानस्वरूप परमार्थ आत्मतत्त्व है। सोचिये जरा विवेकपूर्वक कि सकट क्या आया ? बाहरी पदार्थोंकी कुछ से कुछ परिणति होना इसका नाम सकट नही है। संकट तो इसका नाम है कि जो भेरेमे विकल्प उठते हैं और जन्म मरण होता है। तीन बातें रख लो–जन्म, मरण और विकल्पका होना, सो इन तीनमे भी मूल तो विकल्पका होना है। जन्म, मरणका भी कारण क्या है ? विकल्प होना। तो सकट क्या ? विकल्प होना। तो सकट क्या है हम आप पर ? जो चित्तमे ये व्यर्थके विकार विकल्प हुआ करते हैं ये है सकट। किसीकी समझमे यह बात आयी भी होगी, किसीकी समझमे नही भी आयी होगी। कभी ऐसा किसी को भी उल्टा लग रहा हो कि क्या कह रहे हैं ? अरे इन पर खुद गुजरे और शान्त रहे तब जानें। बैठ गए तख्तपर और बोलने लगे। सकट इसका नाम नही है कि बाहरी पदार्थमे कुछ परिणति बन जाय, अरे सकट है विकल्पका नाम। तो लग ही रहा होगा ऐसा। सो भैया यहां कोई दावा नही किया जा रहा है, जिसके सकट है वह बोल रहा है। तो आखिर यह सकट मिटे कैसे ? उसकी कोई निगाह तो बनानी होगी। बाह्य पदार्थोंकी परिणतिका सग मान मानकर सब सकट समझ-समझ कर अनन्तकाल तो व्यतीत कर डाला और संकटोसे छुटकारा तो हो न सका।

(४) **तृष्णारोगकी खुदके द्वारा पहिचानका दिग्दर्शन**—प्राय सभी की ऐसी हालत है कि बहुत बडा धनिक हो जाने पर भी यह सोचते है कि इससे तो अच्छा मैं १० साल पहले था। चाहे आज कितना ही अधिक धन हो गया, कितना ही कही नेता बने, यशस्वी बने, वह व्याकुल होकर यह ही भीतरमे सोचता है कि मैं इससे तो पहले अच्छा था। जैसे अब एक सामूहिक चित्रण करें, आज समाजमे कुछ बेढगे जानकार लोग होने लगे तो आज बुरी दशा हो रही, और ४० वर्ष पहले जब तक लोग अधिक जानकार न थे, मान लो अज्ञानी थे, अज्ञानी तो आजकल भी हैं। ज्ञान नाम किसका ? कुछ शब्द बोलनेका नाम ज्ञान नही है,

ज्ञान नाम उसका है कि जिसके होनेपर आश्रव निवृत्ति हो जाय। तो कमसे कम ४० साल पहले एक स्वर तो था, प्रभुभक्तिका माहात्म्य तो जानते थे, श्रद्धा तो थी, सरल तो थे। आज तो १५ दिनमे ही शुद्ध बुद्धकी ही बात कहकर उद्दण्ड हो गये। बात यह कह रहे हैं कि कुछ ऐसा प्रवाह है कि एक व्यक्ति भी बडी उम्र पाकर यह अनुभव मानता कि इससे तो हम १०-१५ साल पहले अच्छे थे। थोडा धन था, सुखसे रहते थे, प्रभुभक्ति करनेका समय मिलता था। अब तो इतनी बुरी हालत हो गई कि एक मिनटकी भी फुरसत नही मिलती, अनेक उलझनोके बीच बने रहा करते। तो बात क्या हुई कि तृष्णाका बढाव दिन प्रतिदिन समय समयपर बढता चला जा रहा है, उसका कारण तृष्णा है।

(५) धर्मपालनका प्रयोजन शाश्वत सहज सत्य आनन्दका लाभ—जो ऐसा सोचता है कि हम इतने बडे हो गए, अब अधिक दु ख है तो बडे होनेसे दु ख नही। बाहरी पदार्थों के मिलने बिछुडनेसे सुख दु ख नही। सुखके विकल्प करनेसे सुख है और दु'खके विकल्प करनेसे दु'ख है। तो जो विकल्प करना है वह है अधर्म का पालन और धर्म-पालन क्या है कि विकल्पका जो भाव है उस विकल्पसे हट जाना यह कहलाता है धर्मपालन। तो ऐसे धर्मपालनका प्रयोजन क्या है ? किसलिए धर्मपालन करना ? इसलिए करना कि सदाके लिए हमारे संकट समाप्त हो जायें। तब होगा क्या ? सहज, शा-श्वत, निरपेक्ष स्वाभाविक आनन्द जग जायगा। तो धर्मपालनका प्रयोजन है शाश्वत सहज आनन्दका लाभ। देखिये धर्म धर्म सब कहते हैं और जैसा ही उनका वह धर्म है वैसा ही धर्मका प्रयोजन है। मेरा बच्चा निरोग हो जाय माता तो ढालेंगे, अमुक काम सिद्ध हो जाय तो अमुक धर्म करेंगे, तो न वह धर्म है और न यह धर्मका सही प्रयोजन है। कभी भी ऐसा नियम नही है कि मैं कोई कुदेव पूजा करूँ या अन्य अन्य बात करूँ और मेरा लडका निरोग हो जाय, सम्पदा जुड जाय, ऐसा बिल्कुल नही होता। और की तो बात जाने दो। भगवान की भी पूजा करो तो भी उससे धन जुड जाय ऐसा कभी नही होता, पर सम्बव क्या है कि भगवानकी पूजा करेंगे तो उसमे भगवानके गुणोका स्मरण होगा, पुण्यका बध होगा, पाप रस खिरेगा। तो पापरस खिरा, पुण्य आया वह कारण है यह जो बाहरी समागमका लाभ हुआ। प्रभुने कही आकर आपको दे नही दिया। तो यह तो यो होते, और जिसने इस धन वैभवको ही एक तुच्छ समझ रखा हो उसको इसमे प्रयोजन क्या ? तो धर्मपालनका प्रयोजन यह समझना कि मेरेको शाश्वत सत्य सहज आनन्दका लाभ हो, इसके अतिरिक्त मुझे कुछ न चाहिए, वह धर्मका अधिकारी है। देखो ऐसा भाव, ऐसा प्रयोजन तब बनता है जब कि यह मनुष्य एक बधन अनुभव न करे घरका बन्धन अनुभव करे। तो स्वानुभव बन जायगा क्या ?

और कुछ मान लो, कुछ एक पार्टी बना ले और उसका बंधन चित्तमे तो रहता ही है, ख्याल तो रहता ही है कि मै इस पार्टीका हू तो उसके स्वानुभव जग जायगा क्या ? अरे जिसके यह बोध हो गया कि मैं तो केवल सहज ज्ञानस्वभावमात्र अतस्तत्त्व हू, उसके जगेगा स्वानुभव । धर्मपालन उसके हो सकेगा । सर्व जगजालोसे जो हटा हो और केवल एक सहज ज्ञानस्वभावके नातेसे ही सब कुछ अपनी पहिचान और वृत्ति करता हो वह है धर्मका अधिकारी । तो धर्मपालन क्या है, धर्मपालनका प्रयोजन क्या है, और धर्मपालन किसे करना चाहिए, ये तीन बातें भली प्रकार समझना है । तो अब चलो मान लो कि ससार सारे संकटोसे भरा है । इस ससारमे किसी चीजकी वाञ्छा न करना चाहिए । नही कर रहे तो अब क्या करना ? धर्मपालनमे क्या काम रह गया करनेको ? काम क्या रह गया ? धर्मपालनका मतलब क्या है ? कोई हाथ पैरकी क्रियाओसे या सिर पीटनेसे धर्मपालन होता है क्या ? धर्मको पालन करना सो धर्मपालन है । और धर्म है क्या वस्तु ? स्वभाव, आत्माका चैतन्यस्वरूप । जिस पदार्थका जो स्वभाव है वह उस पदार्थका धर्म कहलाता है । मेरे आत्माका जो स्वभाव है उसका नाम है धर्म । और उस स्वभावकी दृष्टि करना, इस स्वभावका ज्ञान करना, उस स्वभावमे रम जाना, इसे कहते है धर्मपालन ।

(६) धर्मकी धुनमें बढ़ने वाले महापुरुषके संयमासंयम व संयमकी आपतितता— धर्मपालनकी दिशामे जो आचार्य संतोने मुनिव्रत, श्रावक व्रत, सयम आदिकका उपदेश किया है तो आप इसकी उपयोगिता यो समझें कि जब आप धर्म पालनेके लिए कटिबद्ध हो जाये, मेरे को तो अपने आत्मस्वभावका ज्ञान, श्रद्धान और आचरण करना है, इसपर आप कटिबद्ध हो जायें तो स्वय समझमे आ जायगा कि व्यवहार सयमकी क्या उपयोगिता है ? जब हम इस आत्मस्वभावमे रमनेकी धुन ही न बनायें तो शकायें होती है कि व्यवहार तो व्यवहार है, उससे क्या होता है ? और जब एक निज चैतन्यस्वभावमे वह अपने आप समझ लेगा कि बाह्य सयम या चरणानुयोगकी उपयोगिता क्या है, कैसे है सो देखो—जब इस आत्माकी धुन बने कि मुझे चैतन्यस्वभावमे रमकर ही रहना है तो आप यह बतलाओ कि जो बाहर की और और बातोमे फँसा रहता हो, वहाँ उपयोगी बना रहता हो उसकी यह धुन हो सकेगी क्या कि मेरेको तो सिर्फ चैतन्यस्वरूपका दर्शन चाहिए और कुछ न चाहिए ? ऐसी दृष्टि व वृत्ति होना यह धुनकी पहिचान है । जिसको जिसकी धुन बन जाती है उसकी दृष्टिमे केवल वही समाया रहता है । तो चैतन्यस्वरूपकी धुनका अर्थ क्या है कि एक मात्र चैतन्यस्वरूप ही समाया हुआ है । तो जिसके यह चैतन्यस्वरूपमे समानेको धुन बने उससे घर गृहस्थीकी सम्हाल बन पायगी क्या ? उससे क्या आरम्भ परिग्रहकी सम्हाल बन सकेगी क्या ? चित्स्वरूपके धुनियाको तो

यह ही बड़ी विडम्बना लगती कि एक लगोट भी रखे तो उसे धोना, कहाँ धुला, शुद्ध है कि नही, किसीने छू तो नही लिया, इतना भी शल्य उसे पसंद नही होता जिसके निज चैतन्य स्वरूपकी धुन लग जाती है। तो क्या करे ? फल यह होता है कि जब बाहरी पदार्थोंसे कुछ प्रयोजन न रहा तो उनसे हट जाते है। तो उन सबमे हट जाने का ही रूप है मुनिदशा। वह एक चैतन्यस्वरूपकी धुन वाला नही है जिसके परिग्रह लगा हो। जो क्षोभ किया करता हो, जो बहुत निदान बाँधता हो, आगे पीछेकी बडी योजनायें शल्य बनाता रहता हो, वह तो बधनमे है। जहाँ मुनित्व प्रकट होता है वहाँ ऐसा अन्तरग और बाह्य साधन बन जाता है। अन्तर्दशा तो है चैतन्यस्वभावकी धुन और बाह्य स्थिति है समस्त परिग्रहसे रहितपना। आप उस चैतन्यस्वरूपकी धुनियाकी बात सुन रहे है जिसको निज सहज ज्ञायकस्वभावकी धुन लग गई। उसे अब बाकी सारी धुन मिट गई। जिस जिस चीजके बिना काम चल सकता उसको रखता नही, ऐसा उसका दृढ संकल्प हो गया। घर बिना चल सकता नही क्या ? हाँ चल तो सकता है। क्षुधाकी तीव्र वेदना हो तो दूसरेके घर खा ले। अपने घरका खा खाकर कोई भगवान नही बना। जितने भी भगवान बने वे अपने घरका खाना छोडकर ही बन सके। चाहे उन्होने फिर खाया ही न हो तो या परघर खाया हो। तो ऐसे दो प्रकारके लोग भगवान बन सके। अपने घरका खा खाकर कोई भगवान नही बनता। एक भी उदाहरण आप नही पेश कर सकते। तो घरके बिना काम न चलेगा क्या ? हा चलेगा। अच्छा अब इसी बात को सोचते रहो। रजाई तक्के बिना काम न चलेगा क्या ? चलेगा। अच्छा चद्दर, लगोटी बिना काम नही चलता क्या ? आत्माका काम चल जायगा व ऐसी स्थिति मुनिव्रतकी है।

(७) **मुनिव्रतमे परमोपेक्षाका दर्शन**—अच्छा और विचारो–पिछी, कमडल बिना भी इस आत्माका काम न चलेगा क्या ? चल जायगा, मगर एक थोडी समस्या आयगी। चल तो जायगा, पिछी कमण्डल न हो तो वह भी मुनि कहलाता है मगर उसे क्षुधा लगी हो, आखिर शरीर ही तो है, तो अब शौचादिकका काम कमण्डल बिना चल नही सकता। पिछी कमण्डल बिना चल नही पाता उनका काम इसलिए पिछी कमण्डल आवश्यक हो गए। एक जगह बैठे रहते आत्मध्यानमे तो फिर पिछी, कमण्डलकी भी उन्हे क्या जरूरत थी ? बहुबली विरक्त होकर तपश्चरणमे आ गए, अब पिछी, कमण्डल उनके पास कहाँ धरे थे ? और रहे भी होगे तो कोई उठा ले गया होगा, कहाँ तक धरे रह सके ? आत्मध्यानमे रहे और मुक्त हो गए, किन्तु वे अगर विहार करते तो पिछी बिना न कर सकते थे। और, विहार करना, चर्या करना एक जीवनमे शारीरिक नातेसे आवश्यक हो गए, इसलिए कदाचित् पिछी बिना नही चल सकता। और जब आहार किया तो मल मूत्र करना, यह शरीरकी बातको कौन

साध सके ? अभी आप सोच सकते है कि हमको रात भर भोजन नही करना है मगर कोई ऐसा सोच कर तो बैठे कि मुझे रात भर मूत्र नही करना । अच्छा हमको २४ घटेके लिए खानेका त्याग । जरा ऐसा तो करके दिखावो कि हमारा २४ घंटेको लघुशकाका त्याग । तो वह तो न कर पायेंगे और अगर करेंगे तो कमण्डल चाहिए । तो कमण्डल कदाचित् उपयोगी हो गया । अब ऐसे ही बैठे रहे तो कहाँ तक चित्त ज्ञानमे रमे ? तो एक शास्त्र चाहिए । इन आधारोपर शास्त्र, कमण्डल और पिछी इन तीन बिना तो नही चल पाता, और किसीके इन तीन बिना भी चल जाता है । किनके चल जाता है, जिनको आहार नही करना है, जिनको कही जाना नही, जो एक जगह ही ध्यानमे लीन हो गये, जैसे बाहुबलि आदिक हुए । तो इसी प्रकार यह समझो कि जिसको चैतन्यस्वरूपकी धुन हो उसका बाह्यरूप तो यह आवेगा ही ।

(८) विषयोंकी प्रीति व धर्मकी गप्प छोड़कर परमार्थ पौरुष करनेका अनुरोध— अब खानेमे भी मजा आ रहा, लोगोके मेल मिलापमे भी मौज मान रहे, हँसते भी है, लोगो मे बैठते भी है और सभी प्रकार की और और भी चितायें करते है । और, यह मेरा, यह गैर, यह विरोधी है, ये भी प्रोग्राम रखने पडते हैं । तो भला बतलाओ वहाँ इस चैतन्यस्वभावकी धुन रही कहाँ ? बिल्कुल विपरीत हो गया । धर्म कीजिए तो फल मिलेगा, केवल गप्पें मारने से फल न मिलेगा । जैसे कोई भोजनकी गप्प करें तो पेट न भर जायगा । भोजन करे तो उससे कही शान्ति, संतोष न बन जायगा । अगर धर्म करते बने तो शान्ति, सतोष हो सकता है । तो धर्मका स्वभाव और उस स्वभावकी धुन बने, उसमे रमण करनेका पौरुष बने, यह कहलाता है धर्मपालन । पर ऐसे धर्मपालनके लिए जो चलता है उसकी निरारम्भ निष्परि-ग्रह अवस्था होती है । उसीका नाम मुनि धर्म है । और, जो मुनिधर्मको नही पाल सकता उसके लिए स्वाभाविक धर्म है कि वह थोडा परिग्रह रखकर परिमाण कर ले । जो जो कुछ थोडा थोड़ा रखें, बाकीका विकल्प छोड दें, यह आधार है श्रावक व्रतका, न कि तृष्णामे लग-ना । जो तृष्णामे लगा है वह स्वाभाविक वृत्तिमे नही है । तो धर्मपालन करना है । वह धर्म पालन अपने आपके स्वभावमे है । उसकी दृष्टि बनावें, उसका ज्ञान करें, उसकी धुन बनावे, ऐसा करें और फिर कोई प्रयोगमें बात आती हो उसे करके बतावे । करें तो है नही और यह भी ठीक नही, वह भी ठीक नही, ऐसा कहते रहे तो ऐसी वृत्ति ठीक नही । अरे न धर्म करते बने और न भक्ति करने बने, तो फिर क्या करना ? इसलिए यह ही पद्धति है कि अशुभको छोडें और शुभमें आवें । और फिर शुभको भी पार करें, धर्ममे दृष्टि रखें, आगे बढें । और सर्व शुभ, अशुभ विकल्पोसे रहित होकर अपने ज्ञानमात्र स्वरूपका अनुभव करें, यह ही धर्म-पालन है ।

(६) **धर्म और धर्मका पालन**—अभी तक यह बताया गया कि जीवका हित धर्म पालनमे है। विषय कषायमे जीवका हित नही है। धर्मका नाम लेकर भी विषय कषाय यदि थोपे जाते है तो कही धर्मपालनका लाभ नही मिलता। वह तो जो परिणति होती उस परिणतिका नफा टोटा चलता है। तो धर्म बिना जीवका कोई शरण नही है। धर्म ही एक आत्माका साथी है। उस धर्मपालनमे धर्म क्या चीज है? तो वताया है कि धम्मो वत्थु सहावो, याने वस्तुके स्वभावको धर्म कहते हैं। देखो धर्म करनेकी चीज नही है किन्तु धर्मसे देखने की और धर्ममे लगनेकी बात है। धर्म कोई कर नही सकता है। वस्तुका जो स्वभाव है उसका नाम धर्म है। कोई स्वभावको कर देता है क्या? स्वभाव तो वस्तुमे अनादिनिधन है। धर्म किए जानेकी चीज नही, किन्तु वह तो अनादि स्वत.सिद्ध तत्त्व है। उस धर्मकी दृष्टि होना, उस धर्मकी धुन होना, उस धर्ममे मग्न होना यह ही धर्मपालन कहलाता है। तो सार क्या चीज हुई? वस्तुका स्वभाव। जिस वस्तुका जो स्वभाव है वह उस वस्तुका धर्म है। अब मोटे रूपमे जैसा घटाना है घटा लीजिए। अग्निका धर्म क्या है? गर्मी, जलका धर्म क्या है? ठडापन और यो कहो—जैसे लोकरूढिमे कहते कि बिच्छूका धर्म क्या है? काटना, दयालुका धर्म क्या है? दया करना। हम परमार्थ धर्मकी बात नही कह रहे किन्तु लोकमे लोग किस तरह कहा करते है और उनके कहनेकी मंशा क्या है? जिसका जो स्वभाव है उसका वह धर्म है। अब परमार्थसे देखें तो पदार्थमे निरपेक्षतया अनादि अनन्त जो स्वरूप है वह कहलाता है स्वभाव याने धर्म। तो अन्य पदार्थोंमे जो धर्म है उससे अपनेको तो कोई प्रयोजन नही। पुद्गल परमाणुका धर्म पुद्गल परमाणुमे है, और और द्रव्योका धर्म उन-उन द्रव्यो मे है। धर्म मायने स्वभाव। तो उन धर्मोंसे हमें क्या मिलता? अपने धर्मकी बात कहो। आत्माका धर्म क्या है? आत्माका धर्म है आत्माका सहजस्वभाव, ज्ञायकभाव, चैतन्यभाव, यह है आत्माका धर्म। सो बात यह आयी ना कि स्वभावकी दृष्टि करें, स्वभावका ज्ञान करें, स्वभावमे मग्न हो तो धर्म मिलेगा। तो धर्म जब स्वभावसे ही सम्बधित है तो स्वभावदृष्टिका उपाय बनाना कर्तव्य है। हम अपने आप स्वभावको ही न जान सकें तो धर्म हम क्या करेंगे, क्योकि धर्म नाम है स्वभावकी दृष्टि करना। और स्वभावमे मग्न होना उसे कहते हैं धर्म। तो इसके लिए आवश्यक है कि हम स्वभावका परिचय पायें।

(१०) **स्वतन्त्र सत्का परिचय होनेपर स्वभावके परिचयकी संभवता**—स्वभाव-परिचय कब मिलेगा जब कि वस्तुका परिचय हो। स्वभाव कोई अलग वस्तु नही है, स्वतन्त्र सत् नही है, वह तो पदार्थका ही जो निरपेक्ष स्वरूप है उस ही को स्वभाव कहते है। जैसे लोग रूपको देखते है, बोलो कोई रूपको देख सकता है क्या? रूप देखनेमे आ ही नही

सकता। आप लोग सोच रहे होंगे कि रोज रोज रूप देखते हैं काला, पीला, नीला, लाल, सफेद आदिक देखा करते है और कहते है कि रूपको कोई नही जानता, क्योंकि रूप स्वतत्र सत् नही है। तो सुनिये जो सत् है वही प्रमेय होता है, असत् प्रमेय नही होता। अगर रूप स्वतत्र सत् हो तो रूपमे साधारण गुण, असाधारण गुण और प्रदेशवान और द्रव्यपर्याय, गुण-पर्याय ये सब उसमे होने चाहिए। ये सत्के लक्षण हैं। जो भी है, जो भी वस्तु है, उस वस्तु मे जो बातें पायी जाती हैं सो वे कुछ है ही नही। तो रूप कोई पदार्थ नही, स्वतत्र सत् नही, सत्तावान नही। तो फिर देखनेमे क्या आता ? देखनेमे आता है पुद्गल। जाननेमे आता है स्कध। आंखोसे देखा तो रूपकी प्रमुखतासे यह स्कध देखा और रसनासे जाना तो रसकी प्रमुखतासे स्कन्ध जाना। रस कोई अलग वस्तु नही, रूप अलग वस्तु नही, रस रूपादिकसे अलग पदार्थ मानने वाला दर्शन कहलाता है बौद्धदर्शन। उनका ज्ञेय है रस अणु, रूप अणु, उनका यह अणु बन जाता है, क्योकि वे स्कधको मानते ही नही है, परमाणुको मानते ही नही हैं। वे तो खाली रूप पदार्थ, रस पदार्थ, गध पदार्थ इस तरह माना करते है, क्योकि इनकी आदत और विशेषवादियोकी आदत करीब करीब समान है। अखण्ड वस्तुके खण्ड बनाकर उन्हे ही स्वतत्र पदार्थ कह देना यह अजैन दर्शनमे होता है, इसे कहते है वैशेषिक दर्शन और बौद्ध दर्शन। तो ऐसे ही समझिये जैसे रूप रस कोई अलग पदार्थ नही, किन्तु आखसे स्कधको जानते है तो रूपमुखेन ज्ञानमे आता, रसनासे जानते है तो रूपमुखेन ज्ञानमे आता, ऐसा आत्मा एक अखण्ड वस्तु है। अब जब समझने चलते है तो व्यवहार-नयसे यह समझा जाता है कि आत्मामे ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है आदिक, सो समझ लो, पर ज्ञान स्वतत्र सत् है, दर्शन स्वतत्र सत् है, इस तरह एक आत्मामे अनेक पदार्थ मत लगाना, क्योकि यदि गुण स्वतत्र सत् हो जाय तो उनमे गुण जरूर होना चाहिए। बताते ना कि गुणपर्ययवद् द्रव्य। जो द्रव्य है, जो सत् है वह गुण पर्याय वाला है। अगर ज्ञान सत् है तो उसमे गुण बतलावो, भिन्न प्रदेश बतलावो, पर्याय सत् है तो उसमे भी गुण बतलावो, प्रदेश बतलावो, पर्याय बतलाओ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य बतलाओ। सत् तो बताया है—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत् याने जो सत् है वह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य वाला है। तो समझो जैनदर्शनकी जान क्या है ? खूब खुलकर कुन्दकुन्दाचार्यने प्रवचनसारमे ज्ञेया-धिकारमे खूब वर्णन किया है। सत् ही वस्तु है, द्रव्य वह एक पदार्थ है। अब उस द्रव्यको समझनेके लिए उसमे दृष्टियां मिली। अन्वय शक्तिकी मुख्यतासे जब द्रव्यको जाना तो गुण समझमे आया। गुण स्वतत्र सत् नही है। स्वतंत्र सत् तो जीव, अजीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये ६ प्रकारके जो द्रव्य हैं वे ही स्वतत्र सत् हैं। इसके अतिरिक्त लोकमे कोई

स्वतन्त्र सत् नही है। पर विशेषवादमे बताया गया है ऐसा कि द्रव्य अलग पदार्थ है, गुण अलग पदार्थ है, पर्याय अलग पदार्थ है, क्योकि विशेषवादकी नियत यह ही है कि विशेष विशेष जो समझमे आयें उन्हे स्वतन्त्र पदार्थ मानें।

(११) **परमार्थ एकत्वका प्रतिपादक व्यवहार**—अब देखो एकताकी ओर–गुणपर्याय कोई भिन्न चीज नही है किन्तु एक अखण्ड द्रव्यकी ही ये विशेषतायें हैं। तो उस अखण्ड द्रव्यमे अब ध्यान दें, वह तो अवक्तव्य है, वह तो अखण्ड है, फिर उसे समझें कैसे ? तो समझानेके लिए अभूतार्थनयका प्रयोग होता है। देखो भूतार्थ और अभूतार्थ या निश्चय और व्यवहार ये दोनो ही प्रमाणके अश हैं, सम्यग्ज्ञानके अश हैं। केवल उपचार ही सम्यग्ज्ञानका अश नही। तो व्यवहार दो प्रकारके होते—एक प्रमाणका अशरूप व्यवहार और एक उपचाररूप व्यवहार। उपचार रूप व्यवहार तो मिथ्या है। जिस भाषामे कहा उस रूपसे न समझना और प्रमाणका अशरूप व्यवहार श्रुतज्ञानका प्रयोगरूप व्यवहार यह सत्य है और इस व्यवहारसे ही सब ग्रन्थोकी रचना हुई है। तो ध्यानमे देनेकी बात है कि जिसके घरका पूत हो उसे तो पितापर दया होती है, किन्तु गैरको तो कठिन है। आचार्य सत जो दिगम्बर सम्प्रदायके हुए हैं उनको जैनशासनमे इतनी रुचि थी और एक मोक्षमार्गमे लगें ऐसे भव्य जनोके प्रति परम करुणा थी। वहाँ व्यवहारनयके द्वारा जीव, अजीव, आश्रव, बध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष, कर्मबध, उदय, सत्त्व आदिक सब कुछ स्पष्ट वर्णन किया है। तो अब ध्यानमे लाइयेगा कि यदि कही ऐसा लिखा हो कि व्यवहारका अर्थ ऐसा लेना कि व्यवहार जैसा कहता है वैसा नही है तो वहाँ समझना कि यह उपचाररूप व्यवहारके लिए कहा गया है, किन्तु जो सम्यग्ज्ञानका अशरूप व्यवहार है वह तो जैसा कहता है वैसा ही है। उसमे मिथ्या की बात नही है। जैसे व्यवहारनय बताता है कि जीवके दो भेद हैं—(१) मुक्त जीव और (२) ससारी जीव। तो क्या इसका अर्थ यह लगायें कि ऐसा न समझना ? अरे है ही। व्यवहारनय कहता है कि पर्यायदृष्टिसे जीव अनित्य है तो क्या इसका अर्थ यह लेना कि यह असत्य है ? ऐसा न मानना। अरे पर्यायार्थिकनयसे है।

(१२) **व्यवहारकी द्विविधताके परिचयका प्रकाश**—देखो यह बहुत ध्यानमे लाने की बात है। आपको कई समस्यावोका समाधान इन दो बातोके ठीक ठीक समझ लेनेसे हो जायगा। एक तो व्यवहार नाम दो जगह आता है एक तो श्रुतज्ञान प्रमाणके याने सम्यग्ज्ञान के अशरूपमे और एक उपचाररूप या रूढि वाला। जैसे कोई कहता है कि अजी टट्टीका लोटा लाना, तो क्या कही होता है टट्टीका लोटा ? पीतलका होता, ताँबेका होता, टीनका होता। तो यह एक लोकरूढि है, यह कहलाता है उपचार। उपचार जिस भाषामे बोले उस भाषामे

उसे ठीक न समझना। यो तो भगी लोग भी कहते है—अच्छा बतलावो—तुम्हारे कितनी हवेलियाँ है ? तो वह कहता कि हमारे १० हवेलियाँ है, किसी भंगीके २० हवेलिया है और आप लोगोसे पूछें कि बताओ आपके पास कितनी हवेली है ? तो कोई कहेगा एक, कोई कहेगा दो। और भी देखो वे भगी लोग आप लोगोकी हवेलियां आपसमें एक दूसरे को वर्ज पर भी दे देते है। तो बात क्या है कि वह व्यवहार लोकरूढिका है। इस बातका बहुत ध्यान देना और आचार्योंके प्रति श्रद्धा पूर्ण सही रखना। जो सम्यग्ज्ञानपर चलेगा सो पार होगा। देखो उपचार मिथ्या है, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढनय, एवंभूतनय आदिक जो नय बताये है वे झूठ है क्या ? कितना अज्ञान है जो सब व्यवहारोको एक लाठीसे हाकता है, जरा सी जीभ दहला दिया, ना समझीसे कुछ बता दिया और समझ लिया कि श्रोतावों पर दया कर दो। श्रोताओको समझाना चाहिये, जिसका प्रयोग दो जगह होता है, उपचारमे भी और श्रुतज्ञानके अंशमे भी, वहाँ बताना चाहिये कि जो उपचाररूप व्यवहार यह मिथ्या होता है, उपचार वाला व्यवहार एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमे कर्तृत्व आदि कहता, श्रुतज्ञानका अश वाला व्यवहार मिथ्या नही होता। जैसे लोग दूध शब्दका प्रयोग करते है तो बड, पीपल आदिकके भी दूध होते, आकका दूध होता और गाय, भैंस वगैरहका भी दूध होता। अब कोई कहे आकके दूध लक्ष्य करके कि दूध पीना अनिष्ट है, उसके पीनेसे पीने वाला मर जाता है तो उसकी यह बात सुनकर कोई यह कहे कि अरे हम तो गाय, भैंसका दूध न पीवेंगे, बताया है कि दूध पीनेसे मनुष्य मर जाता है, तो क्या उसकी यह बुद्धिमानी कही जायगी ? अरे वह तो उपचार कथन है। उपचार मिथ्या होता है, इससे सब व्यवहार मिथ्या है यह बात नही समझना। व्यवहार शब्दकी द्विविधता न बताकर व्यवहारको मिथ्या कहना यह बडे कपटकी बात है और समस्त द्वादशागकी अभक्तिकी बात है। कहाँ क्या बात है सो समझो, एक बात तो यह जानें।

(१३) **निमित्तकी द्विविधताके परिचयका प्रकाश**—दूसरी बात यह समझें जीवविकार के प्रसगमे कि निमित्त शब्दका प्रयोग भी दो जगह होता है—एक तो होता है आश्रयभूत निमित्तमे और दूसरा प्रयोग होता है अन्वयव्यतिरेकी निमित्तमे। अन्वयव्यतिरेकी निमित्तको अन्तरग निमित्त कहते है और आश्रयभूत निमित्तको बहिरग निमित्त कहते है। तो देखो जीव के विकारके प्रसगमे ही दो प्रकारके निमित्त होते है और कामके लिए निमित्तके दो प्रकार नही होते, वहाँ तो केवल एक ही निमित्त है—सीधा अन्वयव्यतिरेकी। जैसे अजीव अजीव पदार्थका निमित्त नैमित्तिक योगमे परिणमन हो तो वहाँ आश्रयभूत निमित्त नही होते। आश्रयभूतका अर्थ है कि उपयोग जिस पदार्थका आश्रय करे वह पदार्थ आश्रयभूत है, उसका

अजीव क्या आश्रय करे ? तो बहिरंग निमित्तका आश्रय करके यह जीव विकार व्यक्त करता है सो उपदेश है कि भाई यह तो तुम्हारे हाथकी बात है । तुम उपचरित निमित्तका आश्रय मत करो । उसपर उपयोग मत दो । ज्ञानबल तो तुममे आया ही है, अपने ज्ञानबलका पौरुष बनायें, उपचरित निमित्तको छोड दें । हम आश्रय करेंगे तो यह निमित्त कहलायगा और आश्रय न करेंगे तो यह निमित्त न कहलायगा । तो आश्रय निमित्तका करें तो विकार हो जाता है । यह कथन जहाँ आवे वहाँ निमित्तका अर्थ समझना आश्रयभूत निमित्त, बहिरंग निमित्त, नोकर्मरूप निमित्त, किन्तु जो वास्तविक निमित्त है, अन्वय व्यतिरेकी निमित्त है कर्मविपाक, वह तो अज्ञात है, उसका कौन आश्रय करता है ? वह है, वहाँ तो जैसे अजीव अजीवमे निमित्तभूतका नाप है, ऐसे ही वास्तविक निमित्तका हैं । और अशुद्ध उपादानकी अव्यक्त विकार दशा है, वहाँ आश्रयभूत नही होता । वहाँ मात्र अन्वयव्यतिरेकी निमित्त होता है ? देखो जो हमारे वशकी बात है वह करके दिखा दें । हमारे वशकी बात क्या है ? व्यक्त वकार न करना । आश्रयभूत बाह्य पदार्थका आश्रय मत लें, सहारा मत लें, वहाँ उपयोग न दें, व्यक्त विकार न करें । व्यक्त विकार न होगा तो स्वय ही ऐसा उपयोग बनेगा आत्मामे कि अव्यक्त विकारकी भी जड खत्म हो जायगी । तो जो कर सकते हैं, जो बुद्धिपूर्वक बात है वह उपदेशमे अध्यात्मशास्त्रमे कही जावेगी । जैसे कथानकमे कई कथन ऐसे होते हैं कि जो सम्भव कथा है और एक ऐसी कि जो असम्भव कथा है । जैसे श्री राम दशरथके पुत्र थे, यह सम्भव कथा है, मोक्ष गए यह भी सम्भव कथा है और कहना कि अमुक देवता अमुकके मैलसे निकला, अमुक देवता मछलीसे निकला, यह असम्भव कथा है । तो इसमे आप यह विवेक करें कि क्या तो सम्भव कथा है और क्या असम्भव कथा है । इन आश्रयभूत पदार्थोंका आश्रय लेना यह सम्भव है, न कि ज्ञान द्वारा कर्मविपाकका आश्रय लेना यह सभव है । तो निमित्त भी दो प्रकारके हैं । जहाँ यह कहा जाय कि निमित्तका आश्रय लो तो निमित्तपर आरोप होता है और वहाँ समझना आश्रयभूत निमित्तकी बात, कर्मविपाक, कर्मदशा तो उपयोगमे नही है । उससे तो ज्ञानस्वभाव तिरस्कृत हो जाता है । और तब उपयोग अधीर होकर बाह्य विषयोमे लगता है । कर्मविपाक तो ऐसा निमित्त है जैसे आगपर आपका पैर पड गया बिना जाने तो वहाँ यह गुजाइस तो नही है कि अरी आग तूने मुझे जला कैसे दिया ? मैंने तो तेरा उपयोग ही नहीं किया, सहारा ही नहीं लिया । वह तो जल जायगा । वहाँ ऐसी ही योग्यता है कि ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग होनेपर ऐसी बात बने । और व्यक्त विकारके लिए दूसरा आश्रयभूत निमित्त जरूर चाहिए जिस आश्रयभूत पदार्थका यह उपयोग कर सके याने उपचरित निमित्त चाहिए । उपचरित निमित्त न हो, उपचरित निमित्तका आश्रय न ले कोई तो व्यक्त

विकार न हो, यह तो आपके हाथकी बात है। सत्संग बनायें, उसमे एक संयमकी पात्रता जगायें। देखो व्यक्त विकारके आश्रयभूत पदार्थका आश्रय न लें, इसीके मायने तो संयम है।

(१४) **स्याद्वादका आश्रय कर समस्याओंका समाधान पानेका संदेश**—देखो स्याद्वाद का तो उपयोग करती है सारी दुनिया, पर स्याद्वादको नही मानती। जैसे उदाहरण लो, स्याद्वादका सहारा लिए बिना बोलो रोजिगार चल सकता क्या ? लेन देन चल सकता क्या ? कैसे सो सुनो—जैसे आपने आज किसीको ५००) का कर्जा दिया, रुक्का लिख गया, रुपये सैकडेपर ब्याज मिलेगा, और २ साल बाद उससे आपको रुपये मिलते है तो आप यह बतायें कि आप जानते हो या नही कि वह वही आदमी है जिसने कर्ज लिया था या कोई दूसरा ? तो आप तो कहेगे कि वही आदमी है। तो इसके मायने है कि यह नित्य बन गया, अब दो वर्ष गुजर गए तो यह नई चीज है ना, तभी तो आप उससे ब्याज मांगते हैं। तो आपको अनित्यकी भी श्रद्धा है। यो नित्यकी भी व अनित्यकी भी श्रद्धा है तब व्यापार कर सके। खाना-पीना, उठना, बैठना, बोलना, सुनना, किसीकी बात समझना ये सब कुछ नित्य और अनित्य देखे समझे बिना कोई कर नही सकता। तो जो बात जिस विधानसे होती है, होनी उसी ढगसे पडेगी। अब न माने कोई तो यह उसके हठकी बात है। स्याद्वादको नही मानते, पर स्याद्वादके बिना किसीका काम चला तो नही। तो ऐसा ही सब जगह विवेक करके परख बनावें और खुद भी तो प्रभु हैं। खुद क्यो इनने कायर होते कि जिसने लाठी पकडा दी तो पकडकर खुश हो गये। अरे तुम खुद ज्ञानी हो, सब काम छोडकर एक सत्यका आग्रह करके बैठ जावो। मुझे कुछ नही सोचना है। मुझे किसी दूसरेको कुछ नही सोचता है, ऐसे सत्य का आग्रह आप अगर करे तो आपके भीतरका ज्ञान, अन्तः प्रभु आपको सब समाधान कर देगा। एक ऐसी घटना है कि जब आदिनाथ भगवान विरक्त हो गए, सबको राज्य बांट दिया। अब रह गए नमि विनमि, तो उन्होने कहा महाराज आपने सबको तो सब कुछ दिया, पर हमे कुछ नही दिया, तो अब वह बोलें क्या, वह तो ध्यानस्थ थे, तो वहाँ एक देव आया जो बोला कि चलो हम देंगे तुमको जो कुछ तुम्हे चाहिए हो, बोलो क्या चाहिए ? तो उसने कहा कि हमे तो तुमसे कुछ न चाहिए, हमे तो यही दें तो लेना है नही तो नही लेना है। जरा इस तरहसे अपने प्रभुका आग्रह तो करो। तो यह अन्तः प्रभु खुद ज्ञान करायगा, खुद समाधान देगा कि अगर तुम सब कुछ ख्याल भुलाकर एकचित्त होकर बैठ जावो कि हमे तो अपने ज्ञानमे किसीको भी ध्यानमे नही लाना है तो यह अन्तः प्रभु आपको समाधान दे देगा। तो एक तो व्यवहार वाली बात, एक निमित्त वाली बात, ये दो बातें समझना हैं और गहरी

चर्चामे जब बहुत अध्ययन हो तो वह भी समझमे आयगा। हम तो दिल मसोसकर रह जाते कि क्या कैसे कहा जाय? पर ज्ञानका भडार ऐसा विशाल होता है कि आप इसे जितना समझते जावें उतना ही कम जंचेगा और जचेगा कि अभी तो बहुत समझना वाकी पडा है। यदि अपने आपकी ओर दृष्टि दो तो कैसे ज्ञान न बनेगा? जो बेकार चीज है, हमारे वशकी चीज नही है वहां तो बडा मन लगाते और जो अपने वशकी चीज है उसकी ओर मन नही लगाते, उसमे अपने को बडा असमर्थ समझ रहे हैं।

(१५) **धर्म और धर्मपालन**—धर्म कहते है वस्तुस्वभावको। जिस वस्तुका जो स्वभाव है वह उस वस्तुका धर्म है। तो आत्माका जो स्वभाव है सो आत्माका धर्म है। किसी का स्वभाव किसी दूसरेमे जा नही सकता। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभावमे हो तन्मय है। तब ऐसा निर्णय हुआ ना कि किसी पर पदार्थके आश्रयसे धर्म नही होता, किन्तु अपने ही धर्मके आश्रयसे धर्म होता है। धर्म है व धर्म होना ये दो बातें समझिये। धर्म है मायने आत्माका स्वभाव है। धर्म होता है अर्थात् आत्माके स्वभावका विकास होता है। तो अपने आपमे जो अपना स्वभाव है उसका आश्रय करें। ये आश्रय कैसे करें? हाथ पैरसे नही, किन्तु ज्ञान-स्वभाव दृष्टिमे आये, उसकी दृढता रहे, बस यही है धर्मपालन। देखो परमार्थत. धर्मपालन तो यह है। अब कोई उद्दण्ड हो जाय कि क्या रखा उसमे, बाहरमे जैसी चाहे प्रवृत्ति करें। तो जो जीव वासना, अज्ञान, सस्कारमे बसा हुआ है वह अपने इस स्वभावमे मग्न हो जाय तो बताओ क्यो नही कहने वाले मग्न हो गए? सब कहते क्यो रहते हैं? जब अशक्त है तो फिर कुछ तीर्थ प्रवृत्ति जैसी परम्परामे आचार्योंने बतायी है उस ढगसे रहना होता है तब हम उस धर्मकी दृष्टिके पात्र हो पाते हैं। अब यह बतलावो कि आप भिण्डसे ६ मील दूर पहुच गए और आपसे कहे कि आप भिण्ड जावो। रास्ता नापना नही बीचका और भिण्ड आ जावो। तो जितना आप फिरेंगे, मानो ६ मील फिरे तो उस फिरनेमे बीचमे ये सब अनेक बातें आयेंगी। भला बतलाओ जो परिग्रहमे आशक्त हो गया है जीव और वह धर्ममे आयगा तो परिग्रहमे आशक्त बना रहे और धर्ममे आ जाय यह हो सकता है क्या? परिग्रह का त्याग करना होगा, यह बात तो आपतित है। जिसे कहते हैं क्या करें? जबरदस्ती आ पडी है। जो मोक्षमार्गमे चलता है, मोक्ष जाता है उसको जबरदस्ती सयम पड जाता है। वह रास्ता ही है उस ओरसे निकलनेका। पर ज्ञानी पुरुष उस लक्ष्यको नही भूलता। धर्मको न भूलें। जो क्रिया प्रवर्तन किया जा रहा उसमें मग्न न हो। करते ही तो हैं सब ऐसा मान लो बम्बई जाना है तो रास्तेमे बड़े-बड़े स्टेशन मिलते हैं खूब सजे सजाये भी, पर किसी स्टेशन पर उतर तो नही जाता कोई भोदू। वह लक्ष्य तो रखता है कि बम्बई जाना है, और बम्बई

जाता है तो बीचमें वह सारे स्टेशनोसे गुजरता है ना ? बिना उन सभी स्टेशनोके गुजरे वह बम्बई पहुच जाय यह भी नही होता और किसी स्टेशनमे रमता नही, दोनो बातें करता जाता है, उसमे फिर कहनेकी बात क्या रह गई ? जिसको यो कह लीजिए कि व्यवहार छोडे बिना मुक्ति नही और व्यवहार किये बिना मुक्ति नही। दोनोका सगम है। जैसे निर्ग्रन्थ लिग बिना मुक्ति नही। दोनोका सगम है। जैसे निर्ग्रन्थ लिग बिना मुक्ति नही, और निर्ग्रन्थ लिगसे मुक्ति नही। जो शरीरका रूप बनता है, नग्न हो गए है, जैसा यथाजातरूप बना है क्या इससे मुक्ति हो जाती है ? मुक्ति तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र परिणामसे होती है, पर जिसको मुक्ति होती है वह निर्ग्रन्थलिंग पाये बिना मुक्त हो सकता है क्या ? नही होता। तो ये दोनो ही तथ्य है—निर्ग्रन्थ लिगमे मोक्ष नही, निर्ग्रन्थ लिंग बिना मोक्ष नही। अब दोनोका तत्त्वभाव समझ लेना चाहिए।

(१६) लक्ष्यको भूलकर कलह कौतूहलमें पड़ जानेसे अपूर्व अवसरका दुरुपयोग—भैया ! कोई करनेका काम तो भूल जायें और लडनेका काम बीचमे आ जाय तो वह क्या स्थिति कहलायगी ? मनुष्यभव तो पाया कुछ कर जानेके लिए, पर नौबत आ गई लड जानेके लिए, तो बतलाओ क्या फायदा पाया ? उद्यम करें, पर परिग्रहमे आशक्त मत होवें। पापमे लीन मत हो। लक्ष्य बनायें निश्चयका, स्वभावका, यह ही मैं हू, दूसरा मैं नही हू, निःशकित अंग मे क्या है ? एक विशुद्ध ज्ञानस्वभावमात्र मैं हूँ, दूसरा मै कुछ नही, क्यो नही ? दूसरा जो कुछ है वह सब उपाधिका निमित्त पाकर है, इस कारण यह मैं कुछ नही। मैं तो वह हू जो अपने आप निरपेक्ष सहज होऊँ। बस उसको पकड लीजिए सत्याग्रह कर। मैं यह हू। देखो पर्यायबुद्धि किसे कहते हैं ? जो चैतन्यस्वरूप है उसको तो भूल जाये और पर्यायमे आपा मान लेवें उसीको कहते हैं पर्यायदृष्टि जीव, मिथ्यादृष्टि जीव। अब पर्यायको कोई इतना ही समझे कि हम तो बस शरीर पर्यायसे भिन्न है, हम न मानेंगे कि शरीर मैं हू, तो इतनेसे काम न चलेगा। भीतरमे जो कषाय जग रही, वह मैं हू जिसके यह बात भीतर गुजर रही है सो भले ही मना करे कि शरीरको मैं आत्मा नही मानता, पर शरीरको आत्मा मान रहा तब वह कषायको अपना मान रहा। क्यो जी, जो लोग आत्महत्या कर डालते है, कोई बात से मानो फेल हो गये, कुछ हो गया, बतावो वे देहसे विरक्त हैं क्या ? इस देहसे यदि अलग हो रहे, देहको कष्ट कर रहे तो बतावो वे इस देहसे विरक्त हैं क्या ? अरे देहसे विरक्त नही है, देहमे इतनी तेज आत्मबुद्धि है कि वे समझ बैठे कि बस जो मेरा यह देह है यही मैं हू, और इस मुझको प्रतिष्ठा मिलनी चाहिये, मेरा सब जगह नाम होना चाहिये, इस तरहकी पर्यायबुद्धि होनेसे वे इष्टलाभके अभावके शोकमे आत्महत्याकी बात विचारते हैं। अब जरा

कुछ ध्यानमे लावो। कषाय ऐसी बुरी चीज है कि यह कुछ नही देखता। अपने आपका मरण कर जाय, बडेसे बड़े साधु ज्ञानी जनोंका अपमान कर जाय। ऐसा समझकर किसीका तिरस्कार न करें कि ये कुछ नही जानते, मैं बडा जानकार हू, मैं इन सबमे बडा चतुर हू। इस कषायमे यह जीव न जाने क्यासे क्या कर डालता ? जो किये जाने योग्य कार्य है उन्हे भी कर डालता है। अब बतलावो कोई जैनधर्मके मानने वालोको चमड़ेके जूता, चप्पलोका व्यापार करनेके लिए कहा गया है क्या ? मिलेटरीके लिए मासादिक गदी चीजोका ठेका लेना बताया गया है क्या ? कोल्डवाटरमे मछलियाँ रखना बताया गया है क्या ? किसीके झूठे लेख लिखना या किसीकी चीज चारसौ बीसी करके अपने नाम करा लेना आदि उस प्रकारके खोटे कार्य करना कोई जैनोको बताया गया है क्या ? पर कषायोके वश होकर यह जीव न जाने क्यासे क्या अयोग्य कार्य भी कर डालता है।

(१७) **कषायसंस्कारके विनाशके लिये महान् ज्ञानबलकी आवश्यकता**—जो कषायवान है उसकी कषाय कही घरमे ही नही बल्कि समाजके बीच बैठकर, धार्मिक प्रसगोमे बैठकर सभी जगह उसकी कषाय उमड पडती है। जिसकी जो प्रकृति है वह सहसा कहाँसे छूटे ? जो तोतला बोलने वाले लोग होते है उन्हें कितना ही समझानेपर कहाँसे सुधरेंगे ? जैसे कोई एक पडित जी थे वह तोतले थे, वह स को ट बोलते थे। जब वह विद्यार्थियोको पढाने बैठें तो बडी हिम्मत करके कहे कि देखो बच्चो, हम कुछ भी कहे तुम बोलना—टिद्धिरस्तु। वह बोलना तो चाहता था सिद्धिरस्तु, बडा बल लगाया, मगर उसके बोलनेमे आ ही जाता था—टिद्धिरस्तु। तो भाई इस कषायके करनेमे आप अपना अपराध समझो। कोई दूसरा पुरुष किसीका विरोधी नही। सब जीवोमे वही स्वरूप है जो हममे है। कोई विरोधी नही और जगतमे जिसे आज विरोधी समझते वही पहले कई बार परिवार भी हुआ, मित्र भी हुआ और जिसे आज मित्र समझते हैं वह कोई अन्याय भी करे तो भी वह प्यारा है, यह ही तो ससारकी गोष्ठी है। आज जो गोष्ठीमे है वह आपका कई बार दुश्मन भी हुआ होगा तो वस्तुतः न कोई जीव मित्र है, न शत्रु है। ये सब अकेले हैं, सफर करने वाले कितने ही लोग होते है, पर सबको अपनी अपनी पडी रहती है। रेलगाडी आयगी तो आप जल्दी बैठ जायेंगे और जो ५-७०० मुसाफिर है उनपर तो कोई दया नही करता कि इन्हे बैठ लेने दो, बादमे हम बैठ जायेंगे। ऐसा कोई करता है क्या ? तो जैसे सफरमे लोग अकेले अकेलेकी धुन बनाये हुए है ऐसे ही ये संसारी मुसाफिर हैं। इनमे भी अकेले अकेलेका काम है। कोई किसीको साथ लेकर नही जाता। यहाँ भले ही बहुत गलेसे गले मिलकर कहे कि तुम हमारे बहुत मित्र हो, तुम हमसे कभी छूट नही सकते, क्योकि हम अन्याय करते, तुम भी अन्याय

करते, उनकी गोष्ठी हो जाती, हम छूट नही सकते, ऐसा ही तो होता है भाई। अभी एक पुरुषका कोई दुश्मन है और उसीका दूसरा दुश्मन हो तो वे दोनो दुश्मन आपसमे मित्र बन जाते हैं कि नही ? एकके भाव है मुनिनिन्दाके और दूसरेके भाव हैं मुनिनिंदाके तो उन दोनों की कषायसे कषाय मिल जानेसे वे आपसमे मित्र हो जाते है। कोई सी भी जगह देख लो—घरमे देखो, रोजिगारमे देखो, कही देखो। तो बात यह चल रही है कि इस जगतमे सब कुछ अकेले अकेलेपनकी बात है।

(१८) दुर्भावकी शल्यरूपता—देखो भाई हम तो साधारणतया कहे जैसे हम कहते हैं कि अरे तुम मोह करते हो, खराब हो, तो जो जो मोह करते होगे वे सब सोचते होगे कि महाराज तो हम ही पर ढालकर कह रहे। अभी कोई बात पापकी बतायें कि ऐसा पाप करना ठीक नही, तो जो पाप करता होगा वह यह सोचता होगा कि महाराज हमको ही कह रहे। यह तो सामान्य बात चल रही है। और, चोर ऐसे ही तो पकडे जाते हैं। एक बार सागर विद्यालयमें किसीकी चीज चोरी चली गई। तो अब यह हुआ कि चोर कैसे पकडा जाय। तो क्या उपाय किया कि प्रधानाध्यापकने एक छोटे कमरेमे एक देवीके नामका डंडा रखा दिया और उसमे कुछ तेल कोयला वगैरह लगवा दिया और कह दिया कि देखो बच्चो वहा एक देवीका डंडा रखा है, सभी लडके बारी बारीसे उस डंडेको छूकर आयेंगे। जिसने उस चीजको चुराया होगा वह तो उसमे चिपक जायगा और जिसने नही चुराया होगा वह न चिपकेगा। तो सभी लडके बारी बारीसे छूकर आते गए और उधर प्रधानाध्यापक दरवाजेपर बैठकर सबका हाथ देखते गए कि इसने डडा छुवा कि नही। आखिर जिस बालकने वह चीज चुरायी थी उसने डडा न छुवा, यह सोचकर कि मैं डडेमे चिपक जाऊँगा, वहाँ प्रधानाध्यापकने देखा कि उसके हाथमे कोयला लगा ही न था तो समझ लिया कि इसीने चुराया है और उसे झट पकड लिया। तो जैसे कहते हैं ना कि चोरकी दाढ़ीमे तिनका। हम तो सबसे साधारण बात बोलते हैं, अब पाप करने वाले प्रायः लोग बहुत हैं तो अब कोई समझे कि हम पर ही होती बात, तो समझो उनकी उनकी बात है। टीकमगढका हो एक कथानक है, गुरुजी सुनाते थे कि एक भाई जी थे, वे जानते तो कुछ नही थे मगर पंडित बन गए। प्रवचन कर रहे थे। प्रवचनके बाद एक भाईने भजन गाया। मैंने बहुतेरे पंडित देखे पर पेट कतरनी, बाहर से कुछ और। इस तरहकी बातें उसमे थी, तो उस भजनको सुनते सुनते पडित जी यह सोच रहे थे कि यह तो हमारे ऊपर ही कह रहा है सो बादमे वे उस भाईपर बिगड गए, लड़ने लगे, दो थप्पड जड दिये, कहने लगे कि अरे तुमने तो हम पर ही ढालकर भजन कह दिया है। तो फिर वहाँ उन पंडित जी की जो दशा की जानी चाहिए थी सो लोगोंने किया। तो ऐसे ही

समझ लो, हम तो कह रहे सबकी बात मगर कोई अपने ऊपर ही घटा ले और कहे कि महाराज तो हमको कह रहे तो यह उसकी अलग बात है। और ठीक भी है, वैसी बात हुए बिना किसीके मनमे इस तरहकी बात आयगी ही नही।

(१६) अशुभ मनोवृत्तिमें धर्मकी अपात्रता—आप समझो धर्म और अधर्मकी बात कि ये ही जो विकार हैं सो तो अधर्म हैं और जो आत्मस्वभावका दर्शन है सो धर्मपालन है। यह धर्म कही दूसरी जगह न मिलेगा। दूसरेके आश्रयसे न मिलेगा। यह धर्म तो स्वरूप है, स्वभाव है, सो मुझसे मेरे ही आश्रयसे मिलेगा। और, देखो परमार्थ बात यह ही है कि भगवानकी भक्ति करें तो भगवानके आश्रयसे धर्म तो नही मिलता, किन्तु प्रभुगुणस्मरणमे अतस्तत्त्वका दर्शन होता है वह धर्म है। अगर भगवानसे अलग बने रहे, भक्ति न करें, घरमे बने रहें और भगवानको गाली दें, जैसे कि अभी जबलपुरमे एक ऐसा नये स्टाइलका गुजराती सोनगढ़की शिक्षा पाया हुआ विद्वान आया, उसने अपने प्रवचनमे यह भी बोल दिया कि अरहत होना पापका फल है। भला बताओ अरहंत भगवानका उपासक भक्त ऐसा कैसे सुन सकता? जो भगवानका भक्त हो, श्रद्धालु हो, जिसे जैन धर्मसे प्रेम हो वह कैसे यह बात सुन सकता कि अरहत होना पापका फल है? तो उनकी यह बात सुनकर लोगोको जो कुछ करना था सो किया। तो भगवानको छोडकर रहे और भगवानकी भक्तिमे उमग न जगे तो ऐसे प्रभुके विरोधीको कहाँ स्वका आश्रय हो सकता है? यद्यपि भगवानके आश्रयसे धर्मपर्याय नही बनी, बनी है आत्माके स्वभावके आश्रयसे मगर ये सब साधन बताये गए हैं। भगवानकी भक्ति करते हैं, भगवानके गुणोका गान करते हैं और देखो जो जितना अधिक पापी है भगवानकी भक्तिसे वह उतना अधिक लाभ उठा लेता है, पाप खिर जाते हैं, अपने पापका ध्यान रहता है और भगवानकी उस एक पवित्र दशाका भान रहता है और दोनोमे अंतर ताडता है तो एक पश्चातापके जो अश्रु बहते हैं तो उसके मानो बिन्दु बिन्दुमे पाप खिर रहे। साधन तो साधन है, लक्ष्य अपना दूसरा मत रखें, साधन लक्ष्य नही, अगर लक्ष्यमे लड़ाई करें जैसे अन्तः स्वरूप, अंतस्तत्त्व, कारण समयसार, आत्मस्वभाव, ज्ञायक स्वभाव, वह लक्ष्यमे रहता। इसका अगर विरोध हो तो वहाँ विवाद करें, मगर जो मामूली बात है, साधनकी बात है, उसमें इतना विसंवाद करना कि लक्ष्य ही कोई भूल जाय तो इसमे हित क्या पाया? और विडम्बना तो देखो कि करते तो कुछ नही बनता और प्रायः विवाद ऐसा हो जाता कि सूत न कपास जुलाहासे लट्ठमलट्ठ। एक जा रहा था अहीर और एक जा रहा था कोरी। रास्तेमे कोई एक बहुत बडा खेत था तो उसे देखकर अहीर बोला कि यदि यह खेत मुझे मिल जाय तो मैं इसमे अपनी भैंसें चराऊँगा। तो जुलाहा बोला—यदि यह खेत मुझे मिल जाय तो मैं इसमें

कपास बोऊँगा, फिर कपडे बनाऊँगा। तो अहीर बोला—तुम कैसे उसमें कपास बो सकते, उसमे तो मैं कपास बोऊँगा। (कुछ कंकड उठाकर खेतमे फेंकते हुए)····वह देखो मैंने कपास बो दिया। अहीर (कुछ ढेले फेंकते हुए) वे देखो मेरी गायें, भैंसें चरने लगीं। लो आपसमे लट्ठमलट्ठ होने लगा। अरे वहाँ न सूत, न कपास, न कहीं अहीरकी गाय भैंसे, पर लट्ठमलट्ठ होने लगा। कैसा विचित्र नाटक है यह। तो यह मनुष्य बेकारकी बातोमे अपना जीवन गवा देता है। शान्तिसे, समतासे, एक लक्ष्य बनाकर अपनी सिद्धि करनेकी बात नही सोचना। और सोचे कैसे ? जब अपनेको साधारण मानें तब ही तो स्वभावदृष्टि बने और अपनेको दुनिया से ऊचा माने, दूसरेको तुच्छ माने। गोकुलसे मथुरा न्यारी, ऐसा तो काम करें और सोचें कि स्वभावका दर्शन हो जाय, तो जहाँ शल्य लगा रखा है वहाँ अनुभव कहाँसे बनेगा ? जीवन बेकार हो जाता। बड़ी दुर्लभतासे तो यह मनुष्यजीवन पाया···। इससे खूब सोचें समझें कि धर्म कहा है ?

(२०) **धर्मपालनकी पात्रता**—धर्म है आत्मस्वरूप। अपनेमे अपने स्वभावकी दृष्टि, प्रतीति, आलम्बन, आश्रय। इसके लिए बहुत अधिक ऊपरी ज्ञानकी भी जरूरत नही। अगर कोई सरल हो और विधि बने तो उसके सम्यग्दर्शन जरूर होगा। कोई कषायवान हो तो उससे न बनेगा यह स्वभावदर्शन। सरल अगर हो तो थोडे ज्ञानसे भी पार हो जायगा। कुटिल अगर है, कपटी अगर है तो कितनी भी ज्ञानसाधना करे, वह पार नही हो सकता। तो यो दया, नम्रता, सरलता ये तीन गुण हो तो मनुष्य अपनी प्रगति कर सकता है। पर कषाय जग गई हो कुछ तो ये तीनो भी नही ठहरते। न दया रहती, न नम्रता रहती, न सरलता रहती। देखो जिसमे अपना भला है उसके लिए अगर अपनी कषाय छोड़नी पड़े तो उसमे क्या तकलीफ मानना ? छोड दें कषायें। हम सब एक समान हैं। सब चैतन्य-स्वरूप हैं। अब यह समझना कि मैं तो सम्यग्ज्ञानी हूं और ये सब जीव जो हैं ये हैं संसार मे रुलने वाले हम तो अब प्रभु हो गए। तो जहां ऐसी कषायें जग रही हो, अज्ञान छाया हो वहां स्वानुभव धरा कहां ? अपनेको एकरस मानो। सब जीवोमे समता परिणाम रखो। देखो सबमे चित्स्वरूपको अनादि, अनंत, अहेतुक, विज्ञानघन, सहजानन्दमय। अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम्। आत्मा स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते। अमृतचन्द्र सूरिका यह वाक्य है। यह स्वयं है स्वसंवेद्य। कैसा है यह उत्कृष्ट चकचकायमान। ऐसा अनुभव कैसे जगे ? जो कषायोमे आत्मबुद्धि न रखेगा उसके ही जग सकेगा। तो धर्म तो है अपने आपमें स्वयं। आत्मा स्वयं धर्ममूर्ति है। अगर इसको भूल गए तो संसारमें रुलते रहे। तो धर्मलाभ है तो निज सहज चैतन्यस्वरूपके आश्रयमें है। तब क्या बात आयी ? उपादान क्या है ?

स्वभावदृष्टि । देखो बात-बातमे मर्म निकलता है । है ना स्वभावदृष्टि उपादेय ? कोई दूसरा भी उपादेय है क्या कुछ ? स्वभावदृष्टिको छोड़कर जगतमे कुछ भी उपादेय नही । अब एक जो विभावमे रगा हुआ पुरुष है और उसके लिये स्वभावदृष्टि है बहुत आगेकी मजिलकी चीज, अब वह जैसे स्वभावदृष्टिमे निकट आये उस प्रकार उसे समझाना चाहिये । सो ऐसा होता है कि भाई जैसे लोग कह तो देते हैं कि अरे फूफ ग्राम या अमुक ग्राम यही तो धरा है नाकके आगे । ऐसा बोलते हैं ना ? और यह जब चले तब पता पड़े कि ऐसे जाना पड़ता है । गप्प करनेमे, गाल बजानेमे तो कोई देर नही लगती । अन्तस्तत्त्व यह ही तो है, और जब उपयोगमे करने बैठे तब पता पड़ता है कि क्या होता है, किस तरहसे पार हुआ जाता है, कैसे क्या होता है । एक लड़का था तो उसे शौक हुआ कि हमे तो तालाबमे तैरना सीखना है । तो वह गया तालाबमें तैरनेके लिए तो डूबने लगा । खैर किसी ने उसे डूबनेसे बचा लिया, पर उसके मनमे यह बात बनी रही कि हमे तो तैरना सीखना है । तो माँ के पास जाकर बोला—माँ जी मुझे तैरना सिखा दो । तो मा बोली—अरे बेटा चलो किसी तालाबमे वहां तुम्हें तैरना सिखा देंगे । तो वह लड़का बोला—मां मुझे पानी न छूना पड़े और तैरना आ जाय ऐसा करो । अब भला बताओ, पानी न छूना पडे और तैरना आ जाय यह बात कैसे हो सकती है ? यह तो एक प्रयोगसाध्य बात है । अरे उसका प्रयोग करे और प्रयोग करनेमे बहुत सी प्रवृत्तिया करनी होगी । उन्ही प्रवृत्तियोको व्यवहारधर्म बोलते हैं ।

आत्महितार्थोके लक्ष्यलाभके पौरुषमें मार्गलाभ—जिसके मनमे व्रत, तप, संयम करने की बात नही है उसके लिए व्यवहारधर्म हेय है और जिसे करना है स्वभावदृष्टि उसके लिए व्यवहारधर्म कदाचित् उपादेय है, पर लक्ष्यमे नही हैं वे सब प्रवृत्तियां, शुभोपयोग उसके लक्ष्य में नही है इसलिए अमृतचन्द्र सूरिने प्रवचनसारमे तीन शब्द दिये हैं—अत्यन्त हेय, उपादेय, अत्यन्त उपादेय । देखना उनके तीन शब्द अमृतचन्द्र सूरिके प्रवचनसारमे कितना मर्म बताते हैं । अशुभोपयोग अत्यन्त हेय, शुभोपयोग उपादेय, शुद्धोपयोग अत्यन्त उपादेय । आप अमृतचन्द्र सूरिके शब्द देखो, उनमें क्या बात बसी है ? उपादेयका अर्थ तो स्पष्ट ही है, उसका ही पौरुष उत्कृष्ट सार है । अत्यन्त उपादेयका यह अर्थ होता है कि यह कथञ्चित् उपादेय है, चलता है । अत्यंत हेयका अर्थ है सर्वथा हेय है । मतलब यह है कि जिसको स्वभावदृष्टि करने का काम है उसे तो सब कुछ करना होता है और जो केवल गप्प मारनेका काम है उसको तो केवल गप्प ही है । तो भाई तन जाय, मन जाय, धन जाय, वचन जायें, प्राण जायें, कुछ जाय पर हर तरहसे तैयार रहे कि हमे तो शुद्धोपयोगकी प्राप्ति करना है और शुद्ध स्वभाव का लक्ष्य बनाना है, उसके लिए बढ़ते चले जाना है । तो देखो स्वभावदृष्टि अत्यन्त उपादेय

है। तो स्वभावदृष्टि करनेके लिए वस्तुका स्वरूप जानना होगा। स्वभाव कहीं अलग नहीं पडा रहता है। वस्तुके निरपेक्ष स्वरूपका नाम स्वभाव है। कहीं यह न मानना—स्वभाव सत् और द्रव्य सत्। यह वैशेषिकवादका रोग अपनेको न लावें। वस्तु एक है, अखण्ड है। सत् वहां दो नहीं है, पर एक ही वस्तुको जब हम स्वभावदृष्टिसे निरखते है तो स्वभाव ही मुख्य होकर हमारे ज्ञानमे रहता है। तो स्वभावदृष्टि करनेके लिए स्वभावका परिचय करें। स्वभाव परिचयके लिये वस्तुका परिचय करे और वस्तुका परिचय होता है प्रमाण और नयसे। सूत्र जी में बताया है कि प्रमाणनयैरधिगमः। तो सच्चे प्रमाण व नयका ही जिक्र है ना वहां। प्रमाण और नय सम्यक्का ही प्रकरण है जिससे कि अधिगम होता है, वह तो समीचीन अधिगमके उपायका प्रकरण ही है। तो प्रमाणके जितने भेद कहे जायेंगे वे सब सच्चे है कि नही? मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान, और नयके जितने भेद किए जायेंगे वे सब सच्चे है—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, समभिरूढ़, एवंभूत आदिक, इनके द्वारा वस्तुका अधिगम होता है। कुछ जान लेने के बाद चूकि स्वभावदृष्टिके लिए जाना है सो हमको तो स्वभावदृष्टिके उपायको मुख्य करना है सो बाकी तो गौण हो जायगा, स्वभावदृष्टि मुख्य हो जायगी। सबका नाश करके स्वभावदृष्टिको मुख्य बनाना अविवेककी दौड़ है। आपको कोई बाजारसे चीज खरीदना है तो आप उस चीजके लेने के लिए जा रहे, और वहां ऐसा कहे कोई कि बस दुनियामे सत् है तो यह है जिसको लेने हम जा रहे, बाकी सब कुछ नहीं है। तो आप उसे क्या समझेंगे? मानो आपको बाजारसे दही लाना है, सो आप क्या यह कहते कि बस दहीं ही एक चीज है जगतमे, अन्य सब मिथ्या हैं, है ही नही? अजी ऐसा कोई नही कहता। जिनको जो चाहिये वह मुख्य है। उसकी मुख्यता रखेंगे, उसको खरीदेंगे, और बाकी सबको गौण कर देंगे, इससे मेरा कुछ प्रयोजन नही। तो जैनदर्शनमे अधिगमका उपाय है कि जानें सबको सही। सही जानने वाला सुपूत, कुपूत कुछ न देखेगा। उसकी दृष्टिमे सब यथार्थ है। फिर जो हमारे लिए प्रयोजन है उसे मुख्य बना लें। यो स्वभाव वर्णनके लिए प्रमाण नयका वर्णन चलेगा।

—०—

(२)

(२२) प्रमाण और नयोंकी वस्तुपरिचायकता—वस्तुका परिचय होता है प्रमाण और नयोसे। सब लोग पढ़ते हैं—प्रमाणनयैरधिगमः। वस्तुका परिचय प्रमाण और नयोसे होता

है। तो प्रमाण क्या चीज ? सम्यग्ज्ञान—वे कितने होते हैं ? पाँच होते हैं— (१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्ययज्ञान और (५) केवलज्ञान, ये प्रमाण कहलाते है। इनसे वस्तुकी सही जानकारी होती है। तो सम्यग्ज्ञानको प्रमाण कहते हैं–और नय प्रमाण से जाने हुए पदार्थमे किसी दृष्टिकी मुख्यतासे जो एक अंशका बोध होता है उसे नय कहते है। नय जो कहता है वह पूर्ण वस्तु नही है, क्योंकि वह एक देश बताता है, मगर प्रमाणसे जान कर अपेक्षापना रखकर किसी भी नयसे परिचय करें तो वह नय सुनय कहलाता है, और उस नयके द्वारा वस्तुका अधिगम होता है। तो अब यह देखो—प्रमाण किसे कहते है ? मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। मतिज्ञान क्या ? इन्द्रिय और मनसे जो पदार्थका बोध होता है वह मतिज्ञान है। जैसे हम देखते हैं, सूंघते हैं, स्वाद लेते हैं ये सब कहलाते हैं मतिज्ञान। और श्रुतज्ञान क्या कि मतिज्ञानसे जानकर उसी पदार्थमे उसके विशेष को जानना श्रुतज्ञान है। सो देखो—५ ज्ञानोमे से समझाने वाला, प्रतिपादन करने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। मतिज्ञानसे जान भर लें मगर बता नही सकते, ऐसे ही अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानसे जान भर लें लेकिन उससे वर्णन नही होता। वर्णन होता है श्रुतज्ञानसे और उस श्रुतज्ञानके अंश दो है— (१) द्रव्यार्थिकनय और (२) पर्यायार्थिकनय, या कहो निश्चयनय और व्यवहारनय। ये प्रमाणके, सम्यग्ज्ञानके अंश है। तो जैसे प्रमाण सत्य है ऐसे ही प्रमाणसे जानकर उनके अंशोको जानना भी सत्य है। तो इस दृष्टिसे निश्चय भी सत्य है और व्यवहार भी सत्य है।

(२३) उपचारके मिथ्यापनकी दिशा—एक बात ध्यानमे रखो कि एक होता है उपचार याने जो बिल्कुल अलग वस्तु है। उस वस्तुको दूसरेका स्वामी कहना, दूसरेका कर्ता कहना, भोक्ता कहना यह सब उपचार कहलाता है। जैसे घडेका मालिक अमुक मनुष्य मकानका मालिक अमुक मनुष्य, यह उपचार कहलाता है। भिन्न वस्तुका अभिन्न वस्तुमें सम्बध जोडे, यह मेरा है, यह पराया है इस प्रकारका जो सम्बध जोड़े उसे कहते हैं उपचार। तो उपचार जैसा बोलता है वैसा समझना तो झूठ है, इसीलिए कहते हैं कि उपचार मिथ्या है। अब व्यवहारमे या शास्त्रोमे भी उपचारको जगह व्यवहार शब्दका भी प्रयोग है। तो यह जानना कि व्यवहार दो प्रकारका होता है–एक उपचाररूप व्यवहार और दूसरा श्रुतज्ञान के अंशरूप व्यवहार। तो जो श्रुतज्ञानके अंशरूप व्यवहार है वह तो सत्य है। अगर श्रुतज्ञान का ज्ञानांशरूप व्यवहार असत्य हो जाय तो सर्व शास्त्र असत्य कहलायेंगे, क्योकि सभी शास्त्रों का निर्माण व्यवहारसे ही होता है। निश्चय तो प्रतिपादक नही। जितना भी वर्णन होता है वह सब व्यवहारनयसे होता है। तो श्रुतज्ञानका अंशरूप जो व्यवहार है वह सत्य है। अगर

असत्य माना जाय तो सब शास्त्र असत्य हो जाते हैं । हाँ उपचार वाला जो व्यवहार है वह असत्य है । क्यों असत्य है वह कि एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यका स्वामी बताया, कर्ता बताया भोक्ता बताया, पर त्रिकाल भी एक द्रव्य दूसरेका कर्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है, स्वामी नहीं है, किन्तु प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूपमें तन्मय है, अपने प्रदेशमें रहती है । कोई पदार्थ प्रदेश से बाहर अथवा कुछ अस्तित्व नहीं रखता । तो जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नहीं, स्वामी नहीं तो ऐसी बात कहे कोई तो वह उपचार है और मिथ्या है । हाँ थोड़ा यहाँ भी प्रयोजन समझा जा सकता है । जैसे घी का घड़ा कह दिया तो भी यद्यपि ऐसा कोई समझे कि इसमे घी धरा जाता इस निमित्तसे एक घी का घड़ा कह देते हैं तो यह उसका प्रयोजन ज्ञात होता है ।

(२४) प्रमाण और नयोंके परिचयका सदुपयोग — बात यह कह रहे हैं कि प्रमाणके अंश दो ही है– निश्चयनय और व्यवहारनय । इन दोनो नयोसे वस्तुका सही सही बोध होता है । अब देखो तीन बातें आयीं आपके आगे । प्रमाण, द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय । चाहे यो बोलो—प्रमाण, निश्चयनय, व्यवहारनय । अब इन तीन बातोंका विषय क्या है ? ये तीन जानते किस प्रकार हैं ? तो प्रमाण तो जानता है– द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक दोनो नयोंको एक समान देखते हुए, क्योंकि प्रमाणके कोई पक्षके पतन नहीं हैं । वे दोनों नयोंके विषयको प्रधानतया जानते हैं, यह तो है प्रमाणकी पद्धति और निश्चय व्यवहार या द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय उसकी पद्धति यह है कि द्रव्यार्थिकनयकी बातको गौण करके निश्चयनयकी प्रधानतासे जाने वह है निश्चयनय और व्यवहारनय निश्चयनयको गौण कर व्यवहारनयकी प्रधानतासे जाने वह है व्यवहारनय । सीधा स्पष्ट है । जैनागमका एक उपायभूत तत्त्व, जिसमें कहीं विसम्वाद नहीं । दृष्टान्तमे देखो– जैसे सबके दो आँखें है ना, तो दोनो आँखोसे देखें वह तो है प्रमाणकी पद्धति याने दोनो नयोसे देखें प्रधानतया वह है प्रमाण और कभी बाईं आँख बंद करके केवल दाहिनी आँखसे देखें ऐसा कर सकता ना कोई और दाहिनी आँख बंद करके बाईं आँखसे देखें कोई तो ऐसा ही नयोका प्रयोग है । प्रमाणसे जाने हुए पदार्थमे नयके द्वारा उसका आंशिक बोध करना सो नय कहलाता है । देखो वस्तुकी परीक्षाका उपाय कितना अभ्यास बढ़ावें कि जगतमे सीधा स्पष्ट है, जानें खूब, समझें खूब, और ज्ञानका खूब अपनेमे कोई भी सग सारभूत नही है, बिल्कुल निश्चित बात है । कुछ समय तकका जीवन है, फिर मरण होगा, फिर किसी भवमे जायेंगे, फिर यहाँके लोग कैसे मिलेंगे ? फिर कहाँ राग करना, कहाँ द्वेष करना, ये तो सब असार बातें हैं, क्षणिक सयोग है । जैसे मुसाफिर लोग चलते हैं, कोई यहाँसे आया, कोई दूसरी दिशासे आया, एक जगह चौहट्टे पर मिल गए तो वह मिलना

कितनी देरका है, आखिर शीघ्र ही एक दूसरेमे बिछुड जाते है ऐसे ही हम आप सबका यह कितनी देरका मिलाप है, कोई १०-२०-५० वर्षका। पर इस अनन्तकालके सामने ये १०-२० ५० वर्ष कुछ गिनती भी रखते हैं क्या ? तो थोडे समयके लिए जीवित हैं, इसमे अगर आत्महित कर लें तो पार हो जायेंगे। आत्महित होता है, अहकार ममकार छोड देनेसे। अहकारका मतलब, जो मैं नही हू उसे मैं मानना। इस शरीरको देखकर माना कि यह मैं हूं, ऐसी पोजीशन वाला हू यह अहकार है। ये कर्म मै नही, यह शरीर मैं नही, विषय मैं नही, विचार मैं नही, पर इन्हे माने कि ये मैं हू तो यह हुआ अहकार। तो मैं क्या हू ? सर्व से परे, केवल प्रतिभासमात्र ज्ञानस्वरूप जो निज अन्स्तत्त्व है वह है सार उपादेय, शरणभूत, इसका परिचय किए बिना कोई सुख न पा सकेगा। अतः आत्माका ज्ञान करें, आत्माके सहज स्वरूपकी परख करें और अनुभव करते रहे कि बस यही मैं हू, मुझे अब क्या करना है ? तो ऐसी अपने आपके स्वरूपकी ओर दृष्टि हो, ऐसा ही साधन बना रहे तो इसे कहते हैं एक मोक्षमार्गका प्रारम्भ।

(२५) ज्ञानीकी वृत्ति—देखो अगर कोई ज्यादह ज्ञानकी बात नही चित्तमे आयी तो इतनी तो आती है कि जो भी बाहरी चीजें हमे मिली हुई है वे सब मिट जाने वाली हैं। और मैं मिटने वाला नही, वैसे भी देखें तो कौन ऐसा भाव रखता है कि मैं मिट जाऊँ ? मिटनेका भाव कोई नही रखता। हर एकके अन्दर यही भावना है कि मैं सदा जीवित रहा करूँ। पर यहाँ यह बात नही बन सकती, किन्तु स्वरूपकी कोई दृष्टि करे तो वह अमर हो गया, क्योकि उसने मरण रहित, विकार रहित अतस्तत्त्वका आश्रय किया, अब उसे कोई शका नही, कोई भय नही। सम्यग्दर्शनके ८ अग है, इनका व्यावहारिक पालन भी होना चाहिए निःशकित अगमे कोई भय नही होता। अपनेमे कोई शका न होना, नि काक्षित—कोई इच्छा न होना। धर्मधारण कर भोगकी चाह नही है। निर्विचिकित्सक—धर्मात्माजनोको (मुनियोको) देखकर ग्लानि न करना, क्योकि मुनियोका शरीर गदा भी हो तो भी उनसे ग्लानि न करना चाहिए, स्नान करनेका तो उनका त्याग होता है। दातून करनेका भी त्याग होता है। कदाचित् उनके मुखसे बदबू आये तो भी उन्हें देखकर मनमे ग्लानिका भाव न लायें और उन्हें देखकर यह विचारे कि यह शरीर तो रत्नत्रयकी मूर्ति है। पवित्र है, उसमे ग्लानि न करना। देखो अपनेको अगर यह परम्परा बनी रहेगी गुरुजनोकी विनय करना, और भगवानकी भक्ति करना तो अपने कुलमे आगेकी सतान, उसके बादकी सतान, ये सब धर्ममे टिके रहेगे और अगर इनको कोई मिटा दे, कुछ है ही नही गुरु, उनको खानेको न दें, उनकी सेवा न करें तो भला बतलावो दिगम्बर परपराका क्या हाल होगा ? हम आप पहले क्या थे, क्या करते थे उसका कुछ सम-

रण करना चाहिए, तो निर्विचिकित्सा अंग—ग्लानि न करना अमूढ़दृष्टि अंग, मूढता नही, कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु ऐसा मायाचार, किसीका चमत्कार हो गया, और उसका चमत्कार देखे तो श्रद्धा बिगड़ जाय। ये मेरे गुरुजन हैं, श्रद्धा भक्ति द्वारा वीतराग देवका आदर करें, यह है उपास्य। उपगूहन अग– देखो बहुत समय पहले समाज कितना सुखपूर्वक रहती थी, शान्तिसे रहती थी। ये बड़े-बड़े विशाल मन्दिर जो खड़े हुए है, समझो कि उस समय कैसा एक मुक्त हस्तसे खर्च करके उन्होने मन्दिरोका निर्माण किया। कितने सरल होते थे, कितने सज्जन होते थे, गुरुजनोंके प्रति कितना नम्र रहते थे, सर्वत्र शान्ति चाहते थे। तो जो लोग इस समाजको जिन्दा रखना चाहते हैं वे गुरु जनोकी प्रतिष्ठा रखें। गुरुजनोसे ग्लानि न करें। कदाचित् किसी धर्मात्मा पुरुषमे कोई दोष देखें तो उसे पब्लिकमे प्रचार कर अप्रभावनाकी बात न करें, धर्मपर लाञ्छन न आने दें। ऐसा यह उपगूहन अग है। इसका दूसरा नाम है उपबृंहण याने गुणोकी वृद्धि करना। फिर है स्थितिकरण– कोई गिरता हो, पतित होता हो, किसी कष्टसे व्याकुल हो तो उसे धर्ममे स्थिर करना, तन, मन, धन, वचन आदि लगाकर उसे धर्ममे स्थिर करना स्थितिकरण अग है। वात्सल्य अग, प्रेम रखना, निष्कपट बनना, धर्मात्माओमे आदर भाव रखना। यह दिगम्बर जैनशासन सदा जयवन्त होवो। और इसकी उपासना, इसके प्रति वात्सल्य उमडे, यह कहलाता है वात्सल्य अग। और प्रभावना अग—जैसे अज्ञान अधकार दूर हो उस प्रकार जैनशासनका माहात्म्य फैलाना इसे कहते है प्रभावना अग। अपने जीवनमे इन ८ अङ्गोंको गहो, यह हुई प्रारम्भिक श्रेणी और फिर तत्त्वाभ्यास करो प्रमाण और नयकी विधि समझकर, वहाँ स्वभावदर्शन होगा, अपने स्वभावकी दृष्टि बनेगी, मैं क्या हू परमार्थसे, एक इसका निर्णय हो जाय तो वह ससारसे नियमसे पार होगा।

(२६) परिचयात्मक व क्रियात्मक धर्मवृत्ति करके संप्राप्त मानवजीवनको सफल करनेका अनुरोध—देखो ससारमे जन्म मरण करते हुए अनन्त भव अज्ञानमे खो दिये, अब एक भव यदि सम्यग्ज्ञानमे जुट जाय, बाहरी पदार्थोके लोभादिक कषायोके रंग इनका परित्याग हो जाय, मैं कुछ नही हू तो उसे वहा सब कुछ मिल जायगा। जो कुछ चाहता उसे तो कुछ नही मिलता और जो कुछ नही चाहता उसे सब कुछ मिलता है। तो ससारके ये सुख इन्हे न चाहे तो उसे सर्वस्व मिल जाय। एक सेठ था। उसकी हजामत एक नाई बना रहा था, तो जब छूरा उसके गले तक पहुचता था तो सेठ घबडाता था, अरे अब तो हमारी जान इस नाईके हाथमे है, सो डरते हुएमे वह कहता जा रहा था कि देखो नाई जी तुम हमारी बहुत बढ़िया हजामत बनाना, हम तुम्हे कुछ इनाम देंगे'''अच्छी बात। जब हजामत बन चुकी तो बादमे सेठ एक अठन्नी देने लगा। तो नाईने कहा —मालिक हम अठन्नी न

लेंगे। हमें तो आपने 'कुछ' देनेको कहा था सो हम 'कुछ' ही लेंगे।···अच्छा रुपया ले लो। ·· नही लेंगे।··· ५) ले लो,····नही लेंगे।····१०) ले लो,····नही लेंगे। सेठ बड़ा हैरान हो गया, कहा—अच्छा जरा हमको प्यास लग गई है, उस आलेमे जो दूधसे भरा गिलास रखा है, उसे जरा उठाना, हम दूध पी लें, फिर तुम्हे कुछ इनाम दें। सो नाईने आलेमे रखा गिलास उठाया तो क्या देखा कि उस दूधमे कोयलेका एक टुकड़ा पड़ा हुआ था, तो उसे देखकर झट बोल उठा—अरे सेठ जी इसमे कुछ पड़ा है।··· कुछ पड़ा है ? ···हाँ कुछ पड़ा है। ····अच्छा तू उस कुछको उठा ले, कुछ की ही तू तो हठमे था। तो कुछकी हठमे उसे क्या मिला ? कोयला। तो जैसे वह नाई कुछ की प्राप्तिके लिए अटकता था तो उसे फल मिला कोयला, ऐसे ही ये जगतके प्राणी इस प्रसार अत्यन्त भिन्न परद्रव्योमे अपनी अटक किए हुए है, इनसे मेरा कुछ सम्बध नही है, इनके पीछे अटक रखनेके फलमे कुछ भी लाभ न मिलेगा। ऐसा जानकर इन असार भिन्न परपदार्थोंसे अपने आपको विविक्त रखना, निराला निरखना, यह है अपना एक सम्यक् पौरुष। तो भाई प्रमाणसे परिचय करें, नयोसे परिचय करें और जिस नयसे अपने आपके स्वभावका दर्शन हो और अपना सयम हो उसे मुख्य बनायें, शेष नयोको गौण बना लें। इस तरहकी वृत्तिसे धर्मसाधना होती है। यह तो है एक परिचयात्मक धर्मकी वृत्ति। एक होती है क्रिया। अगर शुभ प्रवृत्ति करें तो अशुभ प्रवृत्ति दूर हो जायगी नहीं तो शुद्ध तो है नही, शुभका भाव नही, तो अशुभमे ही जीवन जावेगा। इस समय तो शुभ प्रवृत्तिमे लगें, करें उसमे अटकें नही। लक्ष्य अपना सही बनायें, हमे जिस तत्व तक जाना है वही हमारा लक्ष्य है, वही शुद्ध तत्त्व हमारी चीज है। यो परिचयात्मक और क्रियात्मक इन दोनो प्रकारोसे अपनी धमसाधना करें और पाये हुए इस दुर्लभ मानव जीवनको सफल करें।

—०—

(३)

(२७) प्रमाण और नयके स्वरूपका स्मरण—कल यह बतलाया गया था कि प्रमाण और नयसे वस्तुका परिचय होता है। तो सामान्यतया प्रमाण और नयके बारेमें कुछ चर्चा हुई थी। अब उसी को ही विशेषरूपसे सुनो। प्रमाण कहते किसे कि वस्तुके विषयमे पूरी जानकारी हो। हर नयसे, हर दृष्टिसे पूरी जानकारी होनेका नाम है प्रमाण। सो प्रमाणका दूसरा नाम है सम्यग्ज्ञान सकलादेशी आयने जो समस्त नयोंको समझे और

सर्वविलोकन याने पदार्थमे रहने वाली समस्त विधियोका अवलोकन करे यह सब कहलाता है प्रमाण। अच्छा और नयोमे कल बताया था ना—(१) द्रव्यार्थिक, (२) पर्यायार्थिक। वस्तु सदा रहती है और क्षण क्षणमे बदलती है। इतना तो है ना सब वस्तुओमे कोई माने कि वस्तु सदा रहे और क्षण-क्षणमे नई नई अवस्था न पाये तो वह वस्तु ही नही। उदाहरणमें एक भी बता दो कि जो है सो है, पर उसकी अवस्था नही बनती, उत्पाद व्यय होता, ऐसा कुछ भी नही हैं और कुछ सोचेंगे तो वह कल्पनासे सोचते होंगे और ऐसा भी कुछ नही है कि जो नित्य न हो और कुछ उत्पाद व्यय हो, ऐसा भी कुछ नही है। है वस्तु और सदा रहती है और अपने अपने समयमे अपनी अपनी अवस्था बनती है। तो दो चीजें हुईं ना, जो सदा रहे सो द्रव्य और जो समय समयपर नया नया बने सो पर्याय। तो द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है, द्रव्यपर जिसकी दृष्टि हो उसे कहते है द्रव्यार्थिकनय और पर्यायपर जिसकी दृष्टि हो मायने पर्यायकी मुख्यतासे जानकारी की जा रही हो उसे कहते हैं पर्यायार्थिकनय।

(२८) द्रव्यार्थिकनयके कुछ अन्तर्नाम—द्रव्यार्थिकनय, भूतार्थनय, शुद्धनय, परमशुद्ध निश्चयनय। ये कुछ थोड़े थोड़े अन्तरको लिए हुए हैं, बाकी सब एकार्थवाचक शब्द हैं, वहाँ थोडा थोडा अन्तर है? यह बहुत गहरी चर्चा हो जायगी। जैसे मानो भूतार्थनय जो सहज शुद्ध निरपेक्ष अखण्ड स्वभावको जाने सो भूतार्थनय। अब देखो भूतार्थनय और शुद्ध नय। दोनोका यद्यपि एक ही अर्थ है, फिर भी उनमे ऐसा जानना चाहे तो भूतार्थनयसे और स्वच्छ है शुद्धनय, जिसकी अन्य कुछ कल्पना ही नही है, केवल लक्ष्य ही होता है, अखण्ड तत्त्व है, भाई जैसे कहते ना वह देखता है, वह तकता है। तो देखना और तकना इनमे कुछ फर्क है ना? दिखना नाम है थोडा दिखनेका और तकना नाम उसका है जैसे बच्चे लुक छिपकर किसी दीवालके छिद्रसे देखते हैं। तो जितने शब्द हैं वे एकार्थवाचक है, पर उनमें अन्तर होता है सूक्ष्म दृष्टिसे। जैसे काय, देह, शरीर, तन आदिक ये सब एकार्थवाचक हैं, इस शरीरके ही ये सब नाम हैं, पर सूक्ष्मदृष्टिसे देखें तो इन सब शब्दोंके अर्थ जुदे-जुदे हैं। अच्छा अब आप इन शब्दोमे फर्क सुनो देह, जिसका परमाणु बढ़ें सो देह। यहाँ बूढोके शरीरको देह न कहेगे। शरीर जो जीर्ण शीर्ण हो सो शरीर। यहाँ बच्चोंके शरीरको शरीर नही बोलेंगे। तन जो फैला हो सो तन। तो इस तरह इन सभी शब्दोके अर्थ जुदे जुदे है और नाम है एक ही चीजके तो नयोका इतना सूक्ष्म अध्ययन होना चाहिए कि सबके अन्दर देखें द्रव्यार्थिकनय, भूतार्थनय, शुद्धनय, परमशुद्ध निश्चयनय। है करीब करीब एक ही बात, मगर उनसे भी सूक्ष्म दृष्टिसे अन्तर पाया जाता है।

(२९) **द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय व उपचारका विषय**—अभी सूक्ष्म अन्तरको चर्चा नही करके सामान्यतया देखो यहाँ जीवके एक अभेद भावको जो ग्रहण करे वह है सब द्रव्यार्थिकनय, भूतार्थनय, शुद्धनय, यह अभेद विषयक है। जो भेद करे सो पर्यायार्थिकनय अभूतार्थनय। अशुद्धनय, व्यवहारनय, ये सब पर्यायवाची शब्द है, पर इतना समझ लेना कि जितना नयबल है वह सब सत्य है, क्योंकि ये प्रमाणके अंश हैं, ये वस्तुका यथार्थबोध कराते हैं। केवल उपचार मिथ्या होता है, उपचारमे क्या फर्क है? उपचारमे तो भिन्नोका कारकत्व आदि कहा जाता है। मायने जुदे जुदे पदार्थ है और उनमे सम्बन्ध बनावें, यह इसका करने वाला, यह इसका भोगने वाला। यह इसका मालिक यह उपचारनय हो गया। तो उपचार नयमें तो भिन्न कर्तृत्व होता है इसलिए वह मिथ्या है। भले ही समझानेके लिए तो समझो उसमे निमित्तका बोध होगा कि इस कार्यमें इसका निमित्त है, लेकिन निमित्त करते है दूसरेका परिणमन यह बात नही बनती और यह कहता है उपचार इसलिए उपचार मिथ्या है, पर निश्चय और व्यवहार ये दोनो सम्यक् है। बहुत बार समझाया है कि व्यवहारका प्रयोग दोनो जगह होता है। प्रमाणका अंशरूप व्यवहार इसे भी व्यवहार बोलते और उपचाररूप व्यवहार इसे भी व्यवहार बोलते तो यह समझ बनानी होगी कि व्यवहार जहा मिथ्या कहा वहाँ कौन सा व्यवहार लिया? उपचार वाला व्यवहार लिया या प्रमाणांशरूप व्यवहार लिया।

(३०) **निश्चयनय व व्यवहारनयकी प्रमाणांश रूपता**—ये दोनो नय निश्चयनय व व्यवहारनय प्रमाणरूप सम्यक् श्रुतज्ञानके अंश है। तो जो प्रमाणके अंश है, वे सत्य है प्रमाण सत्य है तो नय यह भी सत्य है याने नय सदश है। जैसे कहा समुद्र और बूंद। समुद्रमें बूंद होती है ना? तिनकासे बूंद उठाया और पूछा कि बताओ यह बूंद समुद्र है या असमुद्र। याने समुद्र है या समुद्र नही है तो बताओ आप लोगोको उसका उत्तर देनेमें आफत आ गई कि नही? अब अगर कहते हैं कि यह बूंद समुद्र है तो फिर नहा लो उससे और अगर कहे कि समुद्र नही है तो फिर वह बूंद असमुद्र हो गया। तो ऐसे अनगिनते बूंद भी मिल जायें तो भी वह समुद्र नही हो सकता। कही असमुद्र असमुद्र मिल मिलकर समुद्र बन जायगा? अजीव अजीव मिलकर जीव बन जायगा क्या? तो जो समुद्रकी बूंद है वह समुद्र है कि असमुद्र? तो जैनशासन उत्तर देता है कि समुद्रांश है समुद्र है तो नहावो फिर और असमुद्र है तो ऐसे अनगिनते बूंद मिल जायें तो भी समुद्र नही बन सकता। तब क्या है? समुद्रांश है। ऐसे ही नयके बारमे समझें चाहे द्रव्यार्थिकनय हो, पर्यायार्थिकनय हो, निश्चयनय हो, व्यवहारनय हो। यह बताओ कि यह व्यवहारनय प्रमाण है कि अप्रमाण?

बस वही समस्या आयगी। अगर कहो कि प्रमाण हैं तो लो नय ही प्रमाण हो गया। नयसे ही पूरी बात जान ली। प्रमाणकी क्या जरूरत? कोई कहे कि अप्रमाण है नय। तो बहुत से नय मिला दिया तो भी वह प्रमाण नही बन सकता। अप्रमाणका मिलाप प्रमाण कैसे बन जायगा? तो क्या उत्तर दिया जाय कि नय न प्रमाण है न अप्रमाण। किन्तु प्रमाणांश है। तो प्रमाणांश होनेके कारण निश्चयनय और व्यवहारनयकी समीचीनता एक समान है। केवल एक उपचार जो भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें सम्बन्ध और कारकत्व बताता है तो जिस भाषा में बोला उसीमे समझे तो उसका वह मिथ्यापन है। तो यह उपचार इन नयोसे अलग चीज है, यह रूढ़ि कहलाती है, यह लोक रूढि है, जैसा लोकमे बोल दिया उसके अनुसार इसका चलन है इस कारण उपचार मिथ्या है। अब इतनी बातें आ गईं निश्चयनय व्यवहार नय और उपचार। उपचार भी सबमे लदा, नय नही ह उपचार मगर लोकरूढ़ि चलती है। तो निश्चयनयका अर्थ क्या है? यह अभेद विषयक है जो अभेदको विषय करे, एकको विषय करे वह है निश्चयनय और व्यवहार नय कैसा? वहां दो विषय हैं भिन्न कारकत्व, और अभिन्नकारकत्व। अभिन्न कारकत्व निश्चयनयका भी विषय है। जो एक दृष्टिमे अभिन्न-कारकत्व है वह निश्चयनयका विषय है उसमे भी अशुद्धनिश्चयनयका या शुद्धनिश्चयनयका। किन्तु जो घटना बताकर निमित्तनैमित्तिकभाव बताकर उपादानमे कारकत्व दिखाया जाता है सो समझो व्यवहारनयका विषय है। निमित्तनैमित्तिक भावका निर्णय करें, अमुक पदार्थ का निमित्त पाकर यह पदार्थ इस रूप परिणम गया, ऐसा निर्णय बताना यह व्यवहारनय का काम है। अग्निका निमित्त पाकर शरीर जल जाता है, यह व्यवहारनयका विषय है और अग्नि अग्निमें काम करती है, हाथ हाथमे काम करता है। ऐसा बताना निश्चयनयका काम है, अब यहां देखा गया निश्चयनय मिथ्या नही व्यवहारनय। क्या ऐसा देखा नही जाता? अग्नि मात्रका निमित्त पाकर हाथ अपनी परिणतिसे जल गया, तो व्यवहारनय असत्य नही किन्तु सत्य है। जैसे अग्नि हाथको जलाती तो यह भिन्न कारकका प्रयोग हो गया यह मिथ्या हो गया, पर निमित्तनैमित्तिक भाव मिथ्या नही। कोई कहे कि मिथ्या है तो झट उसके हाथपर अग्निकी चिनगारियां धर दो, बस वह कह देगा कि हां मिथ्या नहीं है।

(११) नयोंके प्रयोगमें प्रयोजनका दर्शन—बात यहां सब प्रमाणांशकी चल रही है। तो प्रयोजन निरखना है। प्रयोजन क्या है? स्वभावदर्शनका आश्रय। स्वभावदर्शन करें। व्यवहारनयके प्रयोगमे भी स्वभावदर्शनकी ही पद्धति बनावें निश्चयनयके प्रयोगमें भी स्वभाव-दर्शनकी पद्धति बनावें। मैं ज्ञानमात्र हूं। और, देखो भाई करें प्रयोग कभी-कभी परपर कही

बैठकर, एक निरन्तर धारा प्रवाह, ऐसा मनमे मनन करें कि मैं ज्ञान ही ज्ञान हू। ज्ञानमात्र हू। ज्ञानसिवाय कुछ नही हू। ज्ञान ज्ञान जग रहा, जगमग हो रहा, बस वही मेरा कर्तापन, यही मेरा भोक्तापन, ज्ञान ही स्वरूप है मेरा। ज्ञान सिवाय कुछ नही। जब कोई बड़ी चिन्ता हो जाती है, कोई बड़ा कष्ट मानने लगता है किसी बात पर भी उस समय अपनेमे ज्ञानमात्र स्वरूपमे निहारने चलता हैं तो सारे संकट टल जाते हैं एक औषधि यह भी कर लो। कैसी औषधि कि अपनेको यह मान लेना कि मैं देहसे भी निराला केवल ज्ञानस्वरूप हू। मात्र ज्ञान ज्ञान रूप हू। बहुतसे कष्ट मिट जायेंगे, अब हममे क्या दूसरोपर क्रोध करना, क्या दूसरोमे आशा करना। सारी समस्यायें हल हो जाती हैं जब कि अपनेको ज्ञानमात्र स्वरूपमे विश्वास किया जाय, मैं ज्ञानमात्र हू, इस प्रत्ययमे सारी समस्याका समाधान हो जाता है। तो व्यवहार का विषय बताया है भेद, यहाँ भी प्रयोजनका प्रवेश है, तो अखण्ड और उसके भेद कर लो। समयसारकी ७ वी गाथामे बताया गया है कि 'ववहारेणुवदिस्सइ जीवस्स चरित्त दंसणं णाणं'। स्पष्ट बताया है कि यह तो बात दूर जाने दो, कि आत्मबोध होनेकी वजहसे अशुद्ध है, अरे आत्मामे दर्शन ज्ञान चारित्र ये भी व्यवहारसे कहे जाते, लेकिन यहाँ कौनसे शुद्धकी बात चल रही है ? द्रव्यशुद्धि मायने वह वस्तु जो समस्त परसे रहित है और अपने आपके स्वरूप मे तन्मय है ऐसा एक वस्तुको देखकर कहा जा रहा है कि उसमे तो गुण भी नहीं, पर्याय भी नजर नही आता, केवल वही एक अखण्ड विषय नजर आता है। तो देखो यह अभेदकी ओर चले तो यह हो गई निश्चयकी पद्धति और भेदकी ओर चले तो यह हो गई व्यवहारकी पद्धति। तो व्यवहारनयका विषय भेद है अब देखो भेदकी बातका आधार लेकर अनेक विषय बताये गए है। ज्ञानगुण, दर्शनगुण, चरित्रगुण आदिक रूप ये भेद आचार्य संतोने किस प्रकार से बताया है हम उन्हे असत्य न कहेगें। वे प्रमाणके अग तो आगम हैं।

(३२) आगमवाक्योकी समीचीनता—एक बार जबलपुरका ही कथानक है, हम भी थे दसलक्षणके दिनोमे जब श्री बड़े वर्णीजीका वहाँ चातुर्मास था। वहाँ पर बहुतसे पंडित थे, तो सभीको पढ़नेके लिए अध्याय बाँट दिये गए, किसीको पहला, किसीको दूसरा किसीको चौथा, किसीको ५ वाँ। तीसरा अध्याय रह गया, उसमे था नरकोका वर्णन, उसको किसीने न लिया तो अन्तमे हमारे गुरु जीने कहा अच्छा मनोहर तुम इस तीसरे अध्यायको ले लो। तो हमने कहा ठीक है ले लेंगे। सो दो दिन बाद तीसरा अध्याय पढ़नेका नम्बर हमारा आया तो हमने पढ़ा। तो पहिले ही यह बता दिया कि देखो, जैसे सूत्रजीको बड़ी आस्थासे देखते हैं किस तरह ? सूत्र पढ़नेके बाद अर्घ चढ़ाते हैं ना ?...हाँ चढ़ाते हैं। तो समग्र सूत्रजीका पाठ करके भी अर्घ चढ़ाते, तो कोई प्रत्येक अध्यायपर अर्घ चढ़ाता है और कोई प्रत्येक सूत्रपर अर्घ चढ़ाते तो

नहीं चढ़ाया जा सकता है। इस सूत्रमे नरकोंके नाम बताये हैं—रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमत-मोमहातम:प्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाश प्रतिष्ठा: सप्ताऽधोऽध:। आगममे बताया कि सात नरक है। इस सूत्र को आगममे बताया तो यह सूत्र भी पूज्य है, प्रत्येक आगम वाक्य पूज्य है। तो यह भेद किसने बताया ? व्यवहारनयने। और उसकी ही करुणासे हम निश्चय नयके विषय को जाननेमे समर्थ हो सके तो यह तीर्थप्रवृत्ति है। अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं कि 'जई जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छये मुयए।' याने निश्चयनय व्यवहारनय अगर जिनमतको सही जानना चाहते हो, और तत्त्वका परिचय करना चाहते हो तो इन दोनो नयोको न छोड़ो। यदि निश्चयनय छोडा जाय तो तत्त्व खतम हो जायगा और व्यवहारनय छोड़ दिया तो तीर्थ खतम हो जायगी। तीर्थके मायने ऐसी परम्परा चलना कि जिससे घरके ये छोटे छोटे बच्चे भी फायदा उठायें, आगे और जो हो वे भी फायदा उठायें। वर्तमानमे भी आपको समझ बन सके उसे कहते है तीर्थ। तो तीर्थकी रक्षा करने वाला है व्यवहारनय और तत्त्वका अन्त: परिचय कराने वाला है निश्चयनय। तो बताया है कि दोनो ही हमारे हितकर हैं उन्हे मत छोड़ें। व्यवहारका विषय है भेद, उसका यह निमित्तनैमित्तिक भाव सम्बध बताना यह व्यवहारका विषय है। यहाँ तक तो हुई सब सम्यग्ज्ञानकी बातें, अब उससे अलग रह गया उपचार। लौकिकी रूढिमे उन्ही शब्दोमे समझे तो उपचार मिथ्या होता है। उपचारमें कितनी-कितनी बातें लोग बोल देते हैं, घीका घड़ा, यह मेरा यह अन्यका, यह उपचार कथन है। यो नही है अत: मिथ्या है। इस तरह प्रमाण नय और उपचार, इनके स्पष्टीकरणमें विवेचन चला।

—०—

(४)

(३३) नयोंके प्रयोगमें धर्मपालनका प्रयोजन—धर्मके बिना अपना कोई शरण सहाई नही है। जगतमें दृश्यमान जितने पदार्थ हैं वे निराले है, उनसे मेरा कुछ सम्बन्ध नही। उनसे मेरी कोई हानि नही, एक धर्मपालन ही इस जीवका शरण है। यह बात बहुत संक्षेपमे कह रहे हैं। आत्माका धर्म है आत्माका स्वभाव। धर्म करने की चीज नही है। धर्म तो अपने आप ही आत्मामें मौजूद है, अन्त: प्रकाशमान है। उस धर्म पर दृष्टि देना यह ही धर्मपालन कहलाता है। तो धर्मदृष्टि कहो, स्वभावदृष्टि कहो यह ही धर्मका पुरुषार्थ कहलाता है। तो यह धर्मदृष्टि हमे आगमके प्रत्येक शब्दसे मिल सकती है। शास्त्रोमे कितने ही नयोके प्रयोग किए गए हैं, जिनमे से चार नय रख लीजिए। परमशुद्ध

निश्चयनय, शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय और व्यवहारनय। इसका मतलब समझिये परमशुद्ध निश्चयनयका अर्थ है– अखण्ड एक वस्तुस्वभावको परखना, शुद्धनिश्चयनयका अर्थ है कि वस्तुकी शुद्धपर्याय ही देखना, उस ही मे हुई है ऐसे एकत्वपूर्वक देखना शुद्ध निश्चयनय है। और वस्तुमें अशुद्ध पर्यायको एकत्व पद्धतिसे देखना अशुद्ध निश्चयनय है। किन्तु पर पदार्थका नाम अभी न लेना। जानें अशुद्ध पर्यायको मगर पर पदार्थकी अपेक्षासे न जानें। मगर परकी अपेक्षा रखकर जाना तो व्यवहारनय बन गया। अशुद्ध निश्चयनय, जैसे सामने दर्पण है और सामने मानो कोई दो बालक खडे है तो उन दो बालकोका प्रतिबिम्ब दर्पणमे आ गया। अब चाहे तो इस तरह देखलें कि उन बालकोंका निमित्त पाकर दपणमे प्रतिबिम्ब हुआ और चाहे मात्र दर्पणको ही देखलें, यह दर्पण ऐसा प्रतिबिम्बित हुआ, यह दर्पण अपने मे अपना आकार रख रहा, चाहे इस तरह देख लें। तो पर पदार्थका नाम लेकर निमित्त बताकर देखनेका नाम है व्यवहारनय और उस ही द्रव्यको देखकर उसमे अशुद्ध पर्याय देखकर उस ही मे देखे तो इसको बोलते है अशुद्ध निश्चयनय। तो ये चार नय हो गए जिनमे सब पर विचार करें तो स्वभावदृष्टिका प्रयोजन सब नयोमे मिलता है।

(३४) **सर्व नयोंका प्रयोजन स्वभावकी दृष्टि कराना**—परम शुद्ध निश्चयनय अखण्ड वस्तुको स्वभावको जो परखे सो परम शुद्ध निश्चयनय है। यह तो साक्षात् स्वभावदृष्टिका साधन बन रहा है क्योकि इसका विषय है अखण्ड एक स्वरूप। तो परमशुद्ध निश्चयनय तो साक्षात् एक स्वभावदृष्टिका काम करा देता है। अब शुद्ध निश्चयनयको देखो, शुद्ध निश्चयनयमे क्या जाना कि प्रभु केवलज्ञानी है। प्रभु द्रव्य जो विशुद्ध आत्मद्रव्य है उसमे देखो केवलज्ञान और कुछ नहीं परखना कि किस कर्मके क्षयसे होता है। कोई बात परकी न देखना। शुद्धपर्यायको देखो तो यह कहलायगा शुद्ध निश्चयनय। इसमे अपने स्वभावको देखें और उसीमे उसकी सहज शुद्ध अवस्थाको देखें तो एक ही द्रव्यको देखा गया, अन्य द्रव्य तो नही देखा गया। तो जब अन्य पदार्थ ख्यालमें नही है तो व्यक्त विकार न बनेगा और जहाँ व्यक्त विकार नही बनता वहाँ अव्यक्त विकार काल पाकर उसका मूल नष्ट होनेपर स्वयं नष्ट हो जाता है। जितना उपदेश है वह बुद्धिपूर्वक काम जो किया जा सकता उसका उपदेश है। तो शुद्ध निश्चयनयके विषयमे ऐसा स्वभाव दृष्टिका अवसर आता है, अब तीसरी जो स्थिति अशुद्ध निश्चयनयकी। यह वस्तुमे अशुद्धपर्यायको तो देखता है मगर निमित्त पाकर हुआ यो परकी दृष्टि नही करता पर द्रव्यपर दृष्टि नही रखता, तो वहाँ भले ही देखें कि जीव रागी है, देखा तो है विकार, फिर भी यदि परद्रव्यको निमित्त न बनावें, वहाँ परका आश्रय न करें तो ये विकार भी इसमे ठहर नही सकते हैं। तो अशुद्धनिश्चयनयसे भी चूंकि

बाह्य निमित्तका वहाँ विकल्प नही है तो वह भी स्वभावदृष्टिका साधक है। अब व्यवहार नय देखिये—व्यवहारनयसे जाना कि कर्मविपाकका निमित्त पाकर जीवमे अशुद्ध दशा हुई है तो ऐसा जाननेसे यह उमग उठती है कि परभाव मेरा कुछ नही, विषय कषाय मेरा कुछ नही। मैं तो इनसे निराला एक चैतन्यस्वरूप मात्र हू। व्यवहारनयका तो प्रयोजन है अशुद्ध का निषेधका कर देना, बाह्य तत्त्वका हटा देना और निश्चयका भी प्रयोजन है लक्ष्यभूत अंतस्तत्त्वमें दृढता बना लेना। तो यो व्यवहारनयसे भी स्वभावदृष्टिको शिक्षा मिलती है। ये परभाव मैं नही। मैं तो सहजशुद्ध ज्ञानमात्र हू। यो इन नयोका विवेक पूर्वक प्रयोग करनेमे जैन शासनका सार आ जाता है। यह बात समझना कि स्वभावदृष्टि होना सर्वोपरि उपादेय तत्त्व है। तो स्वभावदृष्टि कैसे बने, उसका वर्णन इस निबंधमे आया है। परभाव का निषेध करके स्वभावदृष्टि बनावे और स्वभावकी विधिमे लेकर उसकी दृष्टि रखकर स्वभावदृष्टि बनावें। स्वभावदर्शन ही एक धर्मपालन है।

(३५) विशुद्ध दृष्टिका अलौकिक बल—अब कोई कहे कि हमे तो स्वभावदर्शन होता रहता है। तो स्वभावदर्शन होता है और उसके विषय कषायोमे अन्तर नही आ पाया यह बात तो बडे अचरजकी है। जिसको स्वभावदर्शन होता है वह यहां वहांकी बातोमे भटकता नही, किन्तु अपने निर्णयके अनुसार अपने लक्ष्यमें ही ध्यान रखता है। नयोंका प्रयोग यदि विधिवत् न हो तो उस उपदेशमे भलाई नही रह पाती। तो नयका प्रयोग बहुत सभाल कर करना चाहिए और जिस नयसे जो बात कही है वह मुख्य लक्ष्यमे होना चाहिए, पर साथ ही एक प्रतिपक्षनय गौण रूपसे इसके परिचयमे रहना चाहिए। अगर प्रतिपक्ष नयका विषय साथ नही लेते तो जो कहा जा रहा है कि उस नयसे सत्य है तो भी प्रतिपक्षनयका अज्ञान होनेसे असत्य है। हम आपको दृष्टिका महान बल मिला है। वह भी और कहांसे प्रकट होता है? कहांसे साहस जगता है? वह जगता है तो बस इस स्वभावदृष्टिसे दृष्टि बलसे। किसीमे शरीरका बल अधिक नही है, पर हिम्मतका बल है तो वह अपनी विजय प्राप्त कर लेता है। किसीके शरीरमे बल अधिक है, पर साहसका बल नही है तो वह विजय नही प्राप्त कर सकता। ऐसे ही अपने आपमे मैं किस स्वभावरूप हू ऐसा दृष्टिका बल न मिले तो हमारा उपयोग बाहर ही बाहर घूमता रहता है। हम ठीक ठिकाने नही आ पाते। दृष्टिबल एक बहुत बडा बल होता है। गुरु जी एक कथा सुनाते थे कि एक था बनियाका लडका और एक था क्षत्रियका लडका। सो बनियाका लडका तो था खूब हृष्ट पुष्ट और क्षत्रियका लडका था कमजोर। दोनोमे हो गई कुस्ती तो पहले तो बनियाके बच्चेने झट उसे गिरा कर दाब दिया, पर नीचेसे क्षत्रिय बालक ने पूछा कि सच बताओ तुम किस

जातिके हो ? तो उसने बताया कि मैं बनियाका बच्चा हू । अब तो क्षत्रिय बालकमे वहां ऐसा बल प्रकट हुआ कि उठकर उस बनियाके बालकको झट उठाकर फेंक दिया । क्यो फेंक दिया ? उसने सोचा अरे कहां तो मैं क्षत्रिय पुत्र और कहां यह बनियाका पुत्र । तो मैं क्या हू, इसका ठीक निर्णय हो जाय तो वह कहलाता है दृष्टिका बल । जहां दृष्टिबल प्रकट होता है वहां धीरता, समता, शान्ति सब कुछ बन जाती है । । भी कब प्रकट होते है, जब एक अपने शुद्ध सहज स्वभावको जान लिया जाय कि मैं यह हू । यह एक बात बतायी जा रही है और सुनकर कोई ऐसा न मानले कि मैं सर्वथा ऐसा ही हू शुद्ध बुद्ध निरञ्जन । नहीं तो वह धोखा खा जायगा । कोई किसीको दगा नही देना, क्योकि किसीको किसीके साथ दगा देनेका प्रयोजन नही, किन्तु अपनेको सुख शान्ति मिले, इसका प्रयोजन है । देखो—जीवनमे धीरता हो तो लाभ मिलेगा, गम्भीरता हो तो लाभ मिलेगा । जरा जरा सी घटना देखकर घर गृहस्थीमे अनेक बातें उत्पन्न होती हैं, उनको देखकर दु.खी होनेसे आखिर कुछ लाभ न मिलेगा । उनके पीछे अधीर बननेसे कुछ लाभ न मिलेगा । सब स्थितियोमे अपनेमे धीरता रखें । धीरता कब रखी जाती है जब यह ज्ञाता द्रष्टा बने । जाननहार बने तब धीरता प्रकट होती है और उसके साथ उसे शान्ति प्राप्त होती है । यह बल मिलता है सम्यक्त्वके प्रतापसे ।

(३६) सम्यक्त्वकी श्रेयस्करता—सम्यक्त्वके समान जगतमे श्रेयस्कर कुछ नही है और मिथ्यात्वके समान जगतमे अश्रेयस्कर कुछ नही है । अब तक इस ससारमे भ्रमते आये इसका कारण है मिथ्यात्वका प्रताप । यह जीव न जाने किस किस परभावमे अपने आत्मस्वभावका विश्वास बनाये रहता है । मैं मनुष्य हू, अमुक जाति कुलका हू, मैं यह धर्म करने वाला हू, मैं व्रत करता हू, उपवास करता हूँ, इस आशयमे मिथ्यात्व पडा हुआ है । अरे व्रत पालन करते हुए भी ज्ञानीके यह विश्वास रहता है कि मैं तो एक चैतन्यस्वरूप मात्र हू । पर उस चैतन्यस्वरूप मात्रको पानेके लिए जो कदम बढाई जाती है वहां यह सब सहज बात हो रही है । तो जिसने अपने आपके सहजस्वरूपका निर्णय बनाया उसमे धीरता प्रकट होती है । देखो एक आदत बनायें कि सबको क्षमा करनेका भाव रखें । जिन अपराधोसे, जिन बातोसे हमारा कुछ नही बिगडता ऐसे ही कुछ बातोको लेकर क्रोध उत्पन्न करना । अरे कोई उपकार सधे तो क्रोध करले, वहां भी ज्ञानी जीव समझता है सब कुछ कि यह करना पड रहा है, पर मेरा स्वभाव करनेका नही । जिसकी दृष्टि इतनी विशुद्ध है कि मैं तो कृतकृत्य हू, मेरे करनेके लिए कुछ नही पडा । मैं किसी परमे कुछ कर सकता ही नही हू । 'होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम' ? मैं हू और अपनेमे अपना काम करता चला जा रहा हूं । मैं कभी किसी दूसरेका काम नही करता । वस्तुस्वरूप ऐसा नही है कि परपदार्थसे किसी अन्य पदार्थ

को कुछ मिल सके। तो जब मैं मेरसे बाहर कुछ कर नहीं सकता तो उस करनेका विकल्प ही छोड दूं। यह है अन्तरात्माकी स्थिति। बस कहते हैं ना कि जो एक ही काम देख ले वह तो विजयी बनता है और एकको छोड दूसरेको ही लेनेके लिए प्रयास लगाये तो वह भटकता ही है। देखो एक अज्ञान मिटा कि सारी बात दूर हो जाती है। अज्ञान रहा तो सब पाप उसके सिर मडराते है। अज्ञान बहुत बडा महापाप है। जैसे कहते हैं ना कि महापाप न करो, वो पाप न करो इसमे सबसे बडी शिक्षा यह लेनी है कि अज्ञान न रहे, वस्तुका यथार्थ बोध रहो। प्रत्येक पदार्थ केवल अपने स्वरूपमय है। वह है स्वयं उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य वाला अपने आपमे अपना परिणमन कर रहा है। तो किसी अन्य दृष्टिसे कर्ता कर्मभाव नही है, हाँ अशुद्ध विकार स्थितिमे आश्रयभूत कारण तो होता है मगर परिणमता है यह खुद ही। जैसे नाचने वाला नाचता है और तबला बजाने वाला तबला बजता है। वहाँ अगर तबले वाला न बजाये तो नाचने वाला नाच नही पाता। नाचने वाला अपनी परिणतिसे नाचता, नाचता तबलेकी ठुमकसे। तो ऐसे ही कितने ही निमित्त हो और कार्य बनता है, मगर जो कार्य बना है वह केवल उपादानके परिणमनसे बना। यहाँ स्वतन्त्रता देखो, प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र हैं, अपनेमे अपना परिणमन करता हुआ चला जा रहा है। एक दृष्टिसे निरखा जाय तो वहाँ फिर आकुलता नही रहती। मैं हू, ज्ञानमय हूं। जानन ही मेरा वैभव है, अन्य पुद्गल मेरा वैभव नहीं है। ऐसा जिसके ध्यानमे जग रहा हो उसको फिर आकुलताका क्या काम है? स्वभावदर्शन सर्व पापोका ध्वस कर देने वाला है। तो बहुत बहुत अपने मनमे विचार करें कि मैं क्या हूं। स्वभाव परिचय बन जायगा। मैं शुद्ध चैतन्यमात्र हू भीतरमे बात समा जाय उसकी बात कह रहे है। तो ऐसे चेतनामात्र निज तत्त्वको मानें कि मैं यह हूं, बस इसके निर्णयपर ही हमारा सच्चा कदम उठता है।

—०—

(५)

(३७) **नयोंके स्वरूपका पुनः अवधारण**—कल बताया गया था कि परम शुद्ध निश्चयनय शुद्ध निश्चयनय, और अशुद्ध निश्चयनयके प्रयोगसे स्वभावका दर्शन प्राप्त होता है। पुनः थोडा अवधारण करें। परम शुद्ध निश्चयनय देखता है अखण्ड एक ज्ञायकस्वभाव को तो उसमे तो सीधा ही अर्थ निकला कि परमशुद्ध निश्चयनयसे स्वभावका दर्शन सुगम है। देखो अब भी थोडी सी कमी है। जिस समयमें परमशुद्ध निश्चयनयका उपयोग है उप

कालमे स्वभावका दर्शन नही मगर बहुत निकटका है यह नय। स्वभावदर्शन होता है निर्विकल्प स्थितिमे और जब तक कोई सा भी नयका प्रयोग चल रहा हो तब तक अनुभूति नही है इस कारण अनुभवको नयातीत कहते हैं। प्रमाण, नय, निक्षेपसे अतीत कहते हैं। इससे यह जानें कि स्वानुभवके लिए तो व्यवहारनय हेय है, अशुद्ध निश्चयनय हेय, शुद्धनिश्चयनय हेय है, फिर परमशुद्ध निश्चयनय भी हेय है, क्योंकि नय सब विकल्परूप होते हैं। अब उपयोगिता जाने। सबकी अपनी अपनी जगह उपयोगिता है। परमशुद्ध निश्चयनयके प्रयोगसे तो सत्वर शाश्वत स्वरूप जाना और, शुद्धनिश्चयनयके प्रयोगसे एक ही द्रव्यमे शुद्धपरिणतिको जाना गया, जैसे भगवानमे, प्रभुमे, केवलज्ञान है। केवलज्ञान प्रभुसे उत्पन्न हुआ, प्रभुका परिणमन हुआ, प्रभुके द्वारा हुआ, इस तरह एकत्वके परिचयकी पद्धतिसे अभिन्न षट्कारक लेते हुए जो वहाँ निर्णय बना शुद्धपर्यायके बारेमे वह है शुद्ध निश्चयनय। इससे स्वभावदर्शन कैसे होता है? तो इस नयकी दृष्टिमे अन्य कोई द्रव्य तो रहा नही, क्योंकि निश्चयदृष्टि है। एक ही तत्त्व दिख रहा है, तो अन्य द्रव्य निमित्तदृष्टि न होनेसे इनके अध्यवसान भाव व्यक्त नही होता, क्योंकि वहाँ अध्यवसानके लिये कोई नोकर्म नही है, कुछ भी इसके आश्रयमे नही। जब प्रभु भगवान की एक निश्चयकी पद्धतिसे भक्ति की जा रही है तो वहाँ जो भाव बन रहा है उस भावको हम ससारका हेतुभूत भाव न कहेंगे, वह प्रभुकी भक्ति है। वहाँ एक शुद्धदशाकी निरख हैं। और उस निरखमे बात बन रही है गुणानुरागकी, स्वभावानुरागकी। स्वभाव दर्शनके लिए एक बहुत सुगम पद्धति है कि शुद्धपर्याय देखिये और देखिये स्वभाव पर्याय। स्वभावके अनुरूप भाव है सो वह स्वभावमे मग्न हो गयी तो स्वभावपर्याय इस स्वभावमे मग्न हो गया। किस तरहसे हम शुद्धनिश्चयनयकी शुद्धपर्यायको निरखकर अपने स्वभावमें आते? प्रभुकी शुद्धपर्याय प्रभुके स्वभावमे गर्भित करके। प्रभुका स्वभाव मेरे स्वभावमे गर्भित कैसे होगा? यह उपयोग कर देता है तो इसके मायने यह नही कि वह स्वभाव उसमे आ गया। देखो जब उपयोग एक शुद्धपर्यायको देख रहा है तो शुद्धपर्याय और स्वभावका मेल होना स्वभावके अनुरूप होता है तो उस अनुरूप पर्यायको निरखकर यह जीव पर्यायको भूलकर स्वभावका दर्शन करता है और चूंकि स्वभावमे व्यक्ति नही सो स्वभावका जब सही परिचय हो रहा है तो वहाँ प्रभु व्यक्ति नजर न आकर सहजसिद्ध प्रभुका स्वभाव दृष्टिमे रहता है। जहाँ स्वभाव दृष्टिमे है वहाँ कार्य प्रभु अब नही रहा उपयोगमे। क्या रहा? स्वभाव। तो उपयोग कहाँ रहा? निराधार तो रहता नही। स्वभाव तो कोई स्वतंत्र सत् है नही, तब वह अपने रूप पढ़ता है। अपने आपके स्वभावमें ज्ञान जगता है और अशुद्ध निश्चयनयके प्रयोगमे अगर सयत

प्रयोग हो, यह राग हुआ है, इस आत्मद्रव्यसे हुआ है। संयत प्रयोगके मायने यह है कि पर्याय को ही नही देखता है, किन्तु पर्यायके स्रोतको देखता है। वह पर्याय प्रकट कहांसे हुइ ? वह द्रव्य देखेगा। तो जहां वह द्रव्य देखे तो स्वभाव देखेगा। स्वभाव नजरमें आया तो अपनेमे आ जायगा। देखो परमशुद्ध निश्चयनयमे मोड नही, सीधा स्वभावको लक्ष्यमें लिया है। और शुद्ध निश्चयनयमे कितने मोड है ? दो मोड हैं। शुद्धनिश्चयनयसे देखें—शुद्धपर्याय भी हो मग्नस्वभावमे और स्वभाव आयगा अपनेमे, उनका स्वभाव नही आया। खूब ध्यानमे रखा परन्तु स्वभाव वह और यह कोई व्यक्तिका आधार नही तकता, इस तरहसे इसमे दो मोडमे अपने आपपर आया और अशुद्ध निश्चयनयसे तीन मोडमे अपने मे आया। अशुद्ध निश्चय-नयने अशुद्ध पर्याय देखा। अशुद्ध पर्यायके स्रोतको देखा और स्रोतमे वहां स्वभावपर आये और स्वभावसे निजस्वभावपर आये। इस तरह आये।

(३८) प्रमाणांशरूप व्यवहारके सत् प्रयोगसे स्वभावके दर्शनकी उमंग—अब आज के निबन्धमे व्यवहारकी बात चल रही है। व्यवहारनयके प्रयोगसे किस तरह स्वभावदर्शनमे आ सकते है। देखो अनेक बार बता चुके कि व्यवहारका प्रयोग उपचारमें भी होता है और व्यवहारमे भी होता है। वहां यह विवेक करना होता कि उपचार वाला व्यवहार तो मिथ्या है और प्रमाणके अंशरूप व्यवहार सत्य है। प्रमाणांशरूप व्यवहारकी चर्चा कर रहे है, उपचार रूप व्यवहारकी बात यहां नही कह रहे। व्यवहारनयका प्रयोग कैसे बने कि हमको स्वभाव का दर्शन प्राप्त हो ? तो अब देखिये—व्यवहारनयसे क्या दीखा ? अपनेमे होने वाली दशा। मेरेमे रागद्वेष कषाय विकार होता है तो वह किस प्रकार होता है ? ये रागादिक विकार नैमि-त्तिक भाव हैं। कर्मविपाकका सन्निधान पाकर यह आत्मामे विकार जगा है। व्यवहारनय यह ही तो बताता है। देखो व्यवहारनय एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यका कर्ता नही कहता, एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यका भोक्ता नही कहता, एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यका स्वामी नही बताता। आप समझ लो व्यवहारनयमें कितनी समीचीनता है ? आप कहेगे कि कही कही कथन तो आया है कि व्यवहारनयसे जीव कर्मका कर्ता है, व्यवहारनयसे कुम्हार घटका कर्ता है तो वह व्यवहार उपचार वाला व्यवहार है, और प्रमाणका अंश वाला व्यवहार एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यका कर्ता नही कहता। वह समीचीन है, सत्य है। तो क्या बताता है व्यवहारनय ? एक घटना बताता है ? कर्मविपाकका सन्निधान पाकर जीवमे विकार परिणमन होता है। यह बात असत्य तो नही। व्यवहारनयका विषय असत्य नही, केवल उपचाररूप व्यवहार असत्य है। तो हम इस प्रमाणके अंशरूप व्यवहारसे किस प्रकार स्वभावदर्शनमे पहुंचते हैं, यह बात यहां निरखना है। तो देखो यहांके कर्मविपाकका सन्निधान पाकर यह ही अज्ञानदशाके कारणसे मुझमे यह

विकारदशा प्रकट हुई है। यह है व्यवहारनयके परखनेकी मुद्रा। जब वहाँ यह बोध होता है कि विकारभाव औपाधिक हैं, परभाव है, मेरे स्वभाव नही हैं, स्वभाव तो मेरा यह होगा जो मेरेमे सहज भाव है। मेरा सहज भाव है मेरा चैतन्यस्वरूप, सहज ज्ञानानन्द भाव वह मेरा स्वरूप है। देखो जैसे आता है ना कि आये थे हरि भजनको ओटन लगे कपास। इस मनुष्य-भवमे आये तो थे ससारका बंधन काटनेके लिए मगर घरमे देखो तो वहाँ, समाजमे देखो तो वहाँ, सब जगह ये विषय और कषायकी बाधायें हम आपके साथ लगी हैं। अब तो अपनेमे कुछ विवेक जगना चाहिए। कषायें मंद करें, हटायें, अपने आपमे अपनी दृष्टि जगनी चाहिए। तो जब यह जाना व्यवहारनयसे कि ये रागादिक विकार परभाव हैं, ये मेरे स्वभाव नही हैं, तो इनसे लगाव लगाना ठीक नही। लोकमे भी तो ऐसा करते हैं कि जिनको जानते कि ये गैर हैं उनसे लगाव नही लगाते और जिनको जाना कि ये मेरे हैं उनसे लगाव लगाते। तो इसी पद्धतिसे थोड़ा और आगे बढ़ें। अब जरा और अपने अन्दर देखिये बाहरसे दिखने वाला यह देह गैर है, मै आत्मा एक भिन्न पदार्थ हू, यह देह अचेतन है, मैं आत्मा चेतन हू। मैं इस शरीरसे लगाव न लगाऊँगा। मैं स्व चेतन हूं। मैं कर्मसे लगाव न लगाऊँगा। ये कषायें गैर हैं, मैं आत्मा इनसे भिन्न हू, मैं इन कषायोसे लगाव न लगाऊँगा। यह प्रेरणा मिली व्यवहारनयसे। तब इसका फल क्या होगा? जब परभावोसे उपेक्षा हो गई तो अब बतलावो हमारी पूर्व वासनाके कारण ये विकार आयें भी तो सबल होकर आयेंगे कि बलहीन होते जायेंगे? बलहीन होते जायेंगे शुष्क होते जायेंगे। जैसे किसी पेडकी जड काट दी जाय, पेड गिर जाय तो वह हरा भरा रहेगा या सूखता जायगा? वह तो सूखता जायगा, बलहीन हो जायगा। इसी प्रकार जब परभाव समझकर इस उपयोगका लगाव छोड दिया तो अब भले ही पूर्व सस्कारसे ये विकार आये तो भी ये बलहीन शुष्क हो जाते हैं। देखो व्यवहारनयसे परिचय किए जानेकी उपयोगिता, तब ये विभाव बलहीन होकर, निराधार होकर बाहर हो जाते हैं। मानो अलंकारमे इस विकारने सोचा कि जिसका हम सहारा अनादिकालसे किए जा रहे थे अब ये साहब ही मुझसे बिगड गए हैं, अब उसका क्या सहारा है? सो निराधार होकर खिर जाते है। अब देखो जब हमारे उपयोगसे विकार भाव तो निकल गया, क्योंकि उसमे उपेक्षा की तो अब रह क्या गया उपयोगमे? मेरा यह चैतन्य स्वभाव। चित्स्वरूप रह गया। देखो आये ना स्वभावदर्शनपर, तो व्यवहारनयके संयत प्रयोगमें हम किस प्रकार शुद्ध स्वरूप की ओर आते हैं उसको देखते जाइये। यो व्यवहारनयसे जिसने इस विकारका परिचय किया वह पुरुष इन विकारोसे हटकर अपने स्वभावमे आता है।

(३६) प्रयुक्त व अनुभूत व्यवहारोकी उपयोगिताका स्मरण—देखो धर्मके लिए

पुरुषार्थ करना है क्या ? स्वभावका दर्शन करना, स्वभावदृष्टि होना। मैं कहां उपयोग लूं। किसका सहारा लें कि मेरा भला हो ? अरे अपनेमे अपना जो सहज स्वभावरूप परमात्मतत्त्व है उसका सहारा ले। यह उपयोग इसका सहारा ले। यह ही धर्मके लिए पौरुष है। देखो जैसे कहते ना, तब किसके गीत गावें ? जिसका विवाह हो। नयोमे भी यह ही बात है। सारी बात एक समयमे एक बारमे कही जा सकती है। इस समय व्यवहारनयकी बात कह रहे और वह भी प्रमाणके अशरूप व्यवहारकी बात। तो वहां आप निरखिये कि यह व्यवहार कितना उपकारी है जो व्यवहार मेरेको इतना पात्र बना देता है। हम आप सब लोग बच्चे थे, माँ के साथ दर्शनको आते थे, चाहे भगवानकी ओर पीठ करके ही वदना करते थे, करते ही हैं बच्चे लोग ऐसा पर धीरे धीरे कुछ ज्ञान जगता है, कुछ भक्ति और प्रभुसे प्रीति जगती है। कुछ बड़े हुए, सत्सगमे रहे, ऋषि मुनि त्यागी ब्रह्मचारी पुरुषोका मिलन होता रहा। कुछ भाव बनते रहे, एक उस धर्ममार्गमे रहे, ज्ञान पाया, सीखा और और ज्ञान बढाया, दार्शनिक बोध बढ़ा, आज बहुत विशेष जान गए, शुद्धनयका विषय जान गए, तो देखो हमको किसका सहारा मिला जो हम शुद्धनयके विषय तक आये ? यह व्यवहारनय कितना उपयोगी तत्त्व है और फिर जितना भी वर्णन है वह व्यवहारनयसे वर्णन होता है। सब आगम व्यवहारनयका वर्णन है। कुछ भी प्रतिपादन करें तो व्यवहार व्यवहार शब्द सुनकर एक जगह उपचाररूप व्यवहार असत्य दीखा तो सारे व्यवहारोको असत्य कहना यह क्या नन्हे मुखसे बडी बात करना नही है ? तो यहां तक क्या बात बताया। परमशुद्ध निश्चयनय स्वभावदर्शनके लिए उपयोगी है। शुद्ध निश्चयनयसे भी स्वभाव दर्शनका मार्ग मिलता है, अशुद्ध निश्चयनयसे भी स्वभावदर्शनका मार्ग मिलता है और व्यवहारनयके प्रयोग से भी स्वभावदर्शनका मार्ग मिलता है। देखो ना—एक ट्रेन जा रही और उसमे मानो चार डिब्बे लगे, इंजन प्रथम डिब्बेको लिए जा रहा। अरे तो आगे बहुत डिब्बे हैं। बादमें दूसरा है, फिर तीसरा है, फिर चौथा है, सब जा रहे ना एक दिशाकी ओर ? थोडा एक साक्षात् और परम्पराका अन्तर आता है। ऐसे ही विविधनय एक मार्गकी ओर प्रेरित करते है, बस साक्षात् व परंपराका अन्तर है। तो यहां प्रमाणके अशरूप व्यवहारकी बात की जा रही है कि व्यवहारनयसे स्वभाव दर्शनका इस तरह मार्ग मिलता है। अब इसके बाद उपचारकी बात कही जायगी केवल। किसकी बात कही जायगी ? जिसको सब ओरसे गाली मिलें, मिथ्या झूठ, असत्य, बोलें, किन्तु बोले बिना काम न चले। अब घी का डिब्बा मागना हो तो देखो भाई टीनसे निर्मित डिब्बेमे जिसमे घी का संयोग हो ऐसा डिब्बा लावो, ऐसा कोई बोलता है क्या ? सीधा बोल देता है। तो वहां जिस तरह बोला उस तरह माने तो मिथ्या

है, मगर उसका निष्कर्ष समझें तो वहाँ भी शिक्षा मिले। तो अब उपचारका इसके आगे वर्णन होगा।

— ० —

(६)

(४०) **उपचारका मिथ्यापन**—अब तक यहाँ बताया गया कि परम शुद्ध निश्चयनय से हम किस तरह स्वभावदर्शनमे आते। शुद्ध निश्चयनयके प्रयोगमे किस तरह स्वभावदर्शन मे आते ? अशुद्ध निश्चयनयके प्रयोगमे किस प्रकार स्वभाव दर्शनमे आते ? और व्यवहार नयके प्रयोगमें किस प्रकार स्वभावदर्शनमे आते ? इन चारका वर्णन करनेके बाद आज उपचारका वर्णन किया जा रहा है। उपचारका अर्थ है उप मायने समीप, जो है खास वहाँ तो नही, किन्तु उसके पासमे चार याने चलना फिरना इसका नाम है उपचार। देखो लौकिक बातोमे और अलौकिक बातोमे कितना अन्तर है। अगर दो सरकारोमे कोई बातचीत चल रही है और लिखा पढी सहित पक्की चल रही है तो उसे कहेगे कि औपचारिक वार्ता चल रही है। अपनी लौकिक बातोमे तो उपचारका बडा महत्त्व दिया। अब दोनो सरकारोमे औपचारिकरूपसे बात चल रही है, मायने बडी प्रमाणीक और लिखा पढी सहित बात चल रही है, लेकिन मुक्तिके सिद्धान्तमे धर्ममार्गमे औपचारिक रूपका महत्त्व नही है किन्तु अनुपचारका महत्व है। तो उपचार भाषामे जब कुछ वर्णन होता है उस ही भाषामे उस ही शब्द को एक सही माना जाय तो वह मिथ्या है। यह बात अनेक दृष्टान्तोसे जान सकते है। जैसे घी का घडा। भला घी का घडा बनता है क्या ? फिर भी घी का घडा कहते। तो यह उपचार भाषामे कहते हैं।

(४१) **उपचार वर्णनमें गुप्त तथ्यका अन्वेषण**—उपचारके बारेमे एक बातका उत्तर मनमे सोचिए, उसे घी का ही घडा क्यों कहते ? गेहूका घडा कह देते, चनेका घडा कह देते। सभी लोग घी का घडा कहते, और कुछ अटपट क्यो नही कहते ? जब इस आरेकामे उतरेंगे तो वहाँ भी कोई तथ्य मालूम होगा कि उसमे घी का सम्बंध है, उसमे घी भरा है, इसलिए वह घी का घडा कहलाता है। तो जब तथ्यपर दृष्टि चलेगी तो उपचार भाषामे भी कुछ मिलेगा, पर तथ्यपर दृष्टि न डालकर केवल शब्दो पर ही दृष्टि रखेंगे तो उसमे विडम्बना बढ़ती है। जैसे एक सेठके यहाँ उसकी लडकीका विवाह हो रहा था और उसके घर एक बिल्ली पली हुई थी सो वह बिल्ली बार बार यहाँ वहाँ आये। सेठने उसे असगुन समझकर एक टिपारेमे बन्द करवा दिया और आराममे

विवाहका काम हो गया । कुछ समय बाद वह बिल्ली भी गुजर गई और सेठ भी गुजर गया । सेठके लडके की लड़की का विवाह जब हो रहा था तो वहाँ सारे नेगचार रीति रिवाज हो गए, भांवर पड़नेका समय था, सो एक भाई झट बोल उठा—अरे ठहरो ठहरो, अभी एक दस्तूर तो रहा ही जाता है, क्या कि एक बिल्लीको टिपारेके अन्दर बन्द करो । आखिर ५-६ घटे बिल्ली पकड़कर लानेमे लगे, भावर पडनेका मुहूर्त भी खत्म हो गया । जब बिल्ली आयी, टिपारेमें बन्द किया तब कहीं भांवर पड़ी । तो बात क्या हुई ? अरे बिल्लीको टिपारे मे बन्द करना यह कोई दस्तूरका काम था या परिस्थितिका काम था ? अरे वह बिल्ली यहाँ वहाँ भागती थी, असगुन होता था तो उस असगुनको मिटानेके लिए टिपारेमे बंद किया, और यहाँ क्या मान बैठे कि दस्तूर है । अब ऐसा किए बिना कैसे शादी हो जायगी ? सारे दस्तूर होने चाहिए ना ? तो ऐसी ही उपचार भाषाकी बात है । उपचार भाषामे जैसा बोला जाता है वैसे ही शब्दोमे मान लें तो विडम्बना है, मिथ्या है, पर उपचारमे भी कोई तथ्य छिपा हुआ है, नही तो वही शब्द क्यो बोला जाता ? और कुछ भी तो अटपट शब्द बोले जा सकते । तो आप तथ्य भी उसमे समझ लें, अगर तथ्य बिना उपचार है तो उसका नाम भी न लेना चाहिए । उपचार मिथ्या है तो भी उसमे कोई तथ्य जरूर है । उस तथ्यको परखिये तो उसकी दृष्टिसे यह उपचार भी प्रयोजनवान है, और व्यवहारमे उपचारका लोग बहुत सहारा लेते हैं । बोलते हैं ना— हमारा मकान, हमारी टोपी, हमारी कमीज, अब सोचो तो सही कि तुम्हारी टोपी, कमीज आदि कैसे बन गई ? तुम तो यहाँ ही धम्मा धम्म बैठे हो, तुमको कपडेकी तरह काटा नही, सिलाया नही, तुम कैसे उसे अपनी बताते ? अरे वह तो एक उपचार कथन है । इस उपचार बिना लोकव्यवहार नही चलता, मगर मिथ्यापन कैसे आया ? जिस ढगमे बोला उसी ढगमे समझा तो मिथ्यापन है ।

(४२) उपचारको सत्य माननेसे बिगाड़का दिग्दर्शन—अब जिस ढंगसे कहा, जिस शब्दसे कहा, उपचार भाषाको बात उस ही शब्दसे माननेमे क्या बिगाड है ? इस पर विचार करें । मिथ्या तो तब कहलाये जब कि स्वभावदर्शनका मौका न मिले । सम्यक् और मिथ्याकी यह परिभाषा बना लें—जिस ज्ञानसे स्वभावदर्शनमे बाधा आयी वह तो है मिथ्या और जिस ज्ञानसे स्वभावदर्शनमे मदद मिले वह है समीचीन । कारण क्या कि जीव का लक्ष्य है स्वभावदर्शन । ये लड़ें मरें, छिदें भिदें कुछ हो । मेरेको यदि स्वभावका दर्शन है, स्वभावका है तो मेरा भला है । जैसे अहानेमे कहते ना—लेवा मरे या देवा, बलदेवा करे कलेवा । जगतके पदार्थ कुछ भी हो, छिदें भिदें, लुटें पिटें, कुछ भी हो, उसमें मेरा क्या कर्तव्य ? ज्ञाता द्रष्टा रहना ही श्रेयस्कर है । और करें क्या ? अपने भीतरमे अपना कलेवा करें ।

स्वभावदर्शन करें, अपनेमे ही तृप्त हो, अपनेमे ही रम जावें। यह ही एक बात है। तो जब उपचार भाषामे जैसे बोला–पुद्गल कर्मने जीवको रागी बनाया तो यह कौन सी भाषा है? उपचार भाषा है। पुद्गल कर्म है अलग द्रव्य और जीव है अलग द्रव्य। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य मे कुछ कर सकता नही, पर बोल रहे है पुद्गल कर्मने जीवको रागी बनाया। कोई ऐसा ही समझ लें, अरे मेरेको तो ये कर्म ही रागी बनाते तो उसकी बातमे और ईश्वर कर्तृत्वकी बात मे कुछ अन्तर न रहा। कोई कहते है कि एक ईश्वर ही जीवको बनाता है, सुखी बानये, दुःखी बनाये, और कह दे कि कर्म सुखी बनाते, दुःखी बनाते, रागी बनाते तो ऐसी समझमे ऐसा भाव जगता है कि मैं तो विवश हू, मैं कुछ कर सकने लायक ही नही हू, कर्म ही राजा हैं, चाहे सुखी बनायें, दुःखी बनायें, सब कुछ कर्म ही करते है तो विवश हो गए। अब इसको स्वभावदर्शनका अवसर न रहा इसलिए मिथ्या है। उपचार और उसके तथ्यको अगर समझें, क्यों कहा ऐसा कि पुद्गल कर्मने जीवको रागी बनाया, ऐसा नही है, पर बात क्या है कि पुद्गल कर्मका उदय तो निमित्त है और जीवने उस समय अपने उपयोग माध्यमसे अपनेमे विकार बना लिया, ऐसा सम्बध है, निमित्त नैमित्तिक योगने एक उपचार भाषामे कर्ता कर्मके रूपमे पेश कर दिया, लो मिथ्या हो गया। अब समझ गए सब। कोई कहे कि मेरा लडका, तो बतलावो यह उपचार है कि सत्य? उपचार है। मुखसे तो लोग जल्दी बोल देंगे कि उपचार है पर जरा भीतरसे बोलो—मेरा लड़का है, यह उपचार है कि सत्य है? भीतर तो सोच रहे हो कुछ, मुखसे बोलोगे उपचार। यह ही श्रद्धा जिस दिन बन जाय कि यह सब उपचार है, ये सब लोकिक बातें हैं, ये सब केवल रूढिमात्र हैं, यह ममताका प्रदर्शन है, वास्तव मे मेरा कुछ नही। देखो हम तुम्हारा लडका नही छुटवा रहे, लडका वही रहेगा, तुम वही रहोगे, घरमे रहोगे, मगर श्रद्धामे सही बात आ जाय कि मेरा तो ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान ही ज्ञान मेरा स्वरूप है, इसके सिवाय अन्य कुछ नही है तो बडीसे बड़ी बाधायें आती हो वे भी सब शान्त हो जाती हैं। मेरेको क्या करना? क्या लेना देना? अपने कर्तव्यसे प्रयोजन है, अपनी क्रिया करना। तो उपचार भाषामे जैसा बोला जाता वैसा ही समझे तो उसमे विडम्बना आती है। पुद्गलकर्मने जीवको रागी बनाया, ऐसा उपचारमे बोलने पर कोई यह बात सत्य समझ ले तो वह कायर बन जायगा, विवश हो जायगा, अब मेरा वश क्या है? तो स्वभाव दर्शनमे उसको अवसर न मिलेगा।

(४३) **उपचारमे भी शब्दार्थ और तथ्यार्थकी विभिन्नता**—जब सही बात समझी जा रही हो निमित्त नैमित्तिक योग और वस्तुस्वातन्त्र्यकी कि यह पुद्गल कर्मका उदय निमित्त है और जीवने उस निमित्तका सन्निधान पाकर अपनेमे रागपरिणमन किया तो वहां

यह बात विदित हो जायगी कि कर्म तो निमित्तमात्र हैं। यह अपनी शक्तिसे, अपनी परिणतिसे मुझे रागी नही बनाता। उस कालमे मैं ही स्वभावसे च्युत होकर रागी बनता हूं। देखो यद्यपि निमित्तनैमित्तिक भाव है, यह होना पडता है। रागी हुआ, यही बात यदि सत्य समझमे आयें कि कर्म मेरी परिणतिको नही करता, मैं कर्मकी परिणतिको नही करता तो यह सत्य समझमे आने पर यह बल प्रकट हो जायगा कि व्यक्त विकार तो किसी आश्रयभूत पदार्थका आश्रय करके होता है। आश्रय नही करें तो व्यक्त विकार न होगा। विकार बननेकी गैलमे क्यो चले? जिस गैलमे चलनेसे बडे कांटे लगते है और पास ही मे दूसरी विधि गैल लगी तो फिर कांटे वाली गलीसे क्यो चलते? वह ज्ञानी पुरुष जान जाता है कि इसमे तथ्य यह है। अब उपचार भाषा असत्य है यह बात तो खूब समझते? उसके लिए अनेक दृष्टान्त रोज रोज सिर पर मंडराते रहते हैं, अलगसे क्या दृष्टान्त दें? पर एक बात यहाँ ध्यानमे लावें कि सभी लोग इसी तरह क्यो बोलते? अगर बिल्कुल मिथ्या हो, बिल्कुल अटपट हो तो सभी लोग एक समान क्यो बोलते? आगने रोटी सेकी, आगने खिचड़ी पका दी, तो कभी यो क्यो नही बोलते कि धूलने खिचडी पका दी? तो अटपट सम्बन्ध क्यो नही लग पडता? ऐसा कोई समझना चाहे तो विदित होगा कि उपचार भाषामे कुछ तो प्रयोजन है, कोई बात है, कोई तथ्य है उसके अन्दर तभी तो लोग उसी प्रकार बोलते। देखो जो निष्पक्ष हो, दार्शनिक हो, ज्ञानप्रेमी हो उसको अगर शत्रुमे गुण दिख जाये तो उसे उस शत्रु को भी अच्छा कहना चाहिए और अगर किसी मित्रमे दोष दीखें तो दोष भी कहना चाहिए। उपचार भाषा असत्य है किस अपेक्षासे कि जिन शब्दोसे वर्णन किया उन्ही शब्दोमे माना जाय तो असत्य है, मिथ्या है। अगर उसमे क्या तथ्य पड़ा है, जिस कारण सभी लोग एक ही प्रकारकी उपचार भाषामे बोलते हैं? इसे भी समझना हो तो खोज करें, उसमे तथ्य मिलेगा कि यह कारण है। मगर तथ्यकी ओरसे भी आँखें मीचकर एकान्त करने लगें तो अनर्थ होगा। क्या अनर्थ होगा? जैसे कहते ना कि ये चलते फिरते कीड़े जीव हैं। कोई कहे कि यह तो शरीर हैं, जीव कहा है, सो भैया यद्यपि यह भी बात सही है, ऐसा जब आत्मस्वभावकी दृष्टिमे लगें और उसका प्रोग्राम हो तो यह बात सही है मगर जब हम चलते हैं, फिरते है व्यवहार करते हैं और उस प्रसगमे परमार्थकी ही हठ बनायें कि यह ही जीव है, तब तो किसी भी प्राणी की हिंसा भी कर ले तो पापका बंध क्यो हो? पशुकी हिंसा करने मे दोष क्यों हो? और फिर कसाईखानोका विरोध क्यो किया जा रहा? जो कह रहे दे इस कटाय कट रहे बकरी, भेड़, गाय आदिक, क्योकि परमार्थसे जीव तो चैतन्यस्वरूप है। ऐसी हठ पकड़ लेंगे तो कसाईखाने भी धर्म बन जायेंगे, क्योकि नर्तनिगत (सोनगढ़ी)

शासनका प्रयोग हो रहा है। उनको प्रोत्साहन मिलेगा। जैनसिद्धान्तमे आत्मस्वरूप तो बताया, पर व्यवहारको एकदम असत्य जैसे नही बोला ऐसे ही उपचारमे भी कोई तथ्य ढूंढकर निकालें तो वह निकल आयगा। तो उपचारमे जिन शब्दोमे बोला जाता है उन ही शब्दोमे सही समझें तो वह मिथ्या है, मिथ्यात्व है। उपचारका जो प्रयोजन है, तथ्य है वह समझे बिना उपचारमे जिन शब्दोको बताया है उन शब्दोमे ही वह तथ्य समझाना सो मिथ्या है।

(४४) **प्रयोजनसापेक्षता नहीं होनेसे शब्दोंके अर्थकी समीचीनताका अभाव**—देखो भैया! शब्द क्या समझायेंगे? प्रयोजन न मालूम हो तो शब्दकी क्या कीमत? एक बार सहारनपुरमे हिन्दू मुस्लिम दगा था और एक बच्चेके पास एक खोटी चवन्नी थी जो चलती न थी, जहाँ कोई चीज लेने जाय वहाँ कोई उस चवन्नीको न ले, तो वह बच्चा बड़ा परेशान हुआ। एक बार उसने किसी हलवाईसे दो आनेकी मिठाई खरीदी तो उसने वह चवन्नी ले लिया और दो आने फेर दिया, वह बच्चा बडा खुश हुआ और मारे खुशीके उछलता हुआ भगा और यह कहता जाय कि चल गई, चल गई, चल गई। उसका मतलब तो था कि चवन्नी चल गई, पर लोगोने समझा कि हिन्दू मुस्लिम लडाई चल गयी तो सभी लोग दुकानोमे ताले लगा-लगाकर अपने-अपने घरोमे घुस गए। अब कुछ देर बाद यह खोज की गई कि बात क्या हुई? तो वहां पता पडा कि किसी बच्चेकी चवन्नी चल गई। तो जब तथ्य ही नही मालूम किसी चीजका तो उन शब्दोमे विडम्बना भरी हुई है। नो उपचारमे यो ही विडम्बनायें हैं। तो तथ्यका परिचय न हो तो वह विडम्बना है। तो उपचार भाषामे जिन शब्दोमे कुछ बात रखी जाती है उन्ही शब्दोमे सही समझना सो मिथ्यावाद है। इस प्रकार प्रकरणमे यह वर्णन किया कि वस्तुके जाननेके उपाय तो प्रमाण और नय हैं, और प्रमाण तो ठीक ही है। नयोमे चार प्रकार हैं—परमशुद्धनिश्चयनय, शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय और व्यवहारनय अब जो बचा एक उपचार जिसको सभी लोग बोलते है वह उन्ही शब्दोमे माने तो वह मिथ्या है। जब आपसे पूछते हैं कि आपका कौनसा गांव है? तो आप बोलते है—भिन्ड। सच बात है क्या? याने आप भिन्डके पूरे मालिक हो गए, क्या आपका भिन्ड हो गया? अरे यहाँपर ही कह देते कि हमारा तो घर है, पर कहते हैं कि हमारा तो भिन्ड है। एक बार ऐसा ही हुआ। एक कोडरमा स्टेशन है, वहाँ किसी एक बडी जगहपर दो भाईयोकी लडाई थी। एक कहे कि यह जगह हमारी है दूसरा कहे कि हमारी है। उसका न्याय गया अदालतमे। वहासे आया एक साहब तो साहबने एक भाईसे पूछा यह जमीन किसकी है? तो वह बोला— साहब यह जमीन तो आपकी ही है। साहब

बोला लिखो बयान– यह जमीन साहबकी है । दूसरे भाईको बुलाकर पूछा—यह जमीन किसकी है ? तो उसने भी कहा—हुजूर यह जमीन तो आपकी ही है, साहबने कहा इसका भी बयान लिखो कि यह जमीन साहबकी है । बस बयानोपर दस्तखत ले लिये, लो उस जमीनको साहबने ले लिया । होता है ना ऐसा कि लोग ऐसा कहने लगते हैं कि यह चीज तो आपकी है, कभी कभी लोग कह बैठते ना– महाराज यह बच्चा तो आपका है । भला बताओ वह बच्चा महाराज का है क्या ? पर उपचारमे इस तरहसे लोग बोल देते हैं । इस तरहसे कही आप लोग अपने मकानको यह न कह देना कि महाराज यह तो आपका है नही तो बडे टोटेमे पड जावोगे (हँसी) । तो उपचार भाषामे जो शब्द बोले गए उन्ही शब्दोसे वही बात समझना सो मिथ्या है । तो नय सब सत्य हैं, पर उपचार मिथ्या है । उपचार नय नही कहलाता । उपचार नयसे बहिर्भूत है । वह एक लोकरूढि है । जैसे लोकमे बोल देते– मेरा गांव, तो यो उपचारको अलग कर लीजिए और बाकी चार नयोसे जो अध्यात्मशास्त्रमें उपयोगी हैं, उन नयोसे वस्तुका परिचय कर, लीजिए ।

—०—

(७)

(४५) उपचारकी असत्यार्थता—यहा चर्चा चल रही है उपचारकी । चार-पांच बातें हैं ना– परमशुद्ध निश्चयनय, शुद्ध निश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय, व्यवहारनय और उपचार । परमशुद्धनिश्चयनय तो दिखाता है आत्माके सहज स्वरूपको, शुद्ध निश्चयनय बताता है आत्माकी शुद्ध पर्यायको, अशुद्ध निश्चयनय बताता है आत्माकी अशुद्ध पर्यायको और व्यवहारनय यह बताता है कि इसका निमित्त पाकर इस उपादानमे यह प्रभाव बन गया । जैसे कर्मके उदयका सन्निधान पाकर जीवने विकाररूप परिणमन कर लिया । अब रह गया उपचार, तो उपचार बतलाता है एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमे कर्तापन, भोक्तापन, स्वामीपन । तो यह उपचार मिथ्या है, क्योकि प्रत्येकका स्वरूप स्वतन्त्र है, प्रत्येक सत् स्वयका उत्पादव्ययध्रौव्य लिए हुए है । अपने आपके ही अस्तित्वसे वह निरन्तर परिणमता रहता है । तो एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कुछ करता नही, फिर भी रूढिमे तो बोलते ही हैं । मैंने यह किया, उसने यो कर दिया । बोलते कि नही बोलते ? ऐसे ही कोई समझे कि हां मैंने कर दिया इसे तो वह मिथ्या है, क्योकि कोई किसी दूसरेका कुछ कर सकता नही । तो उपचार एक वस्तुको दूसरी वस्तुका कर्ता बताता, भोक्ता बताता, स्वामी बताता, पर ऐसा ही कोई समझे

कहा जाय तो समझो कि यह उपचार वाला व्यवहार है और प्रमाणमे आने वाला व्यवहार सम्यक् है, निर्णायक है, व्यवस्था करने वाला है और निश्चयनयका भी मार्ग बताने वाला है।

(४७) उपचारके मिथ्यापनकी सिद्धि—उपचार मिथ्या है यह बात आजके निबधमे मे चल रही है। देखो कुछ दृष्टान्त लो। जैसे एक शब्द है सुख। अच्छा तो ससारी जीवोके लिए भी कहते हैं कि यह बडा सुखी है और भगवानके लिए भी कहते हैं कि ये अनन्त सुखी है। सुख शब्दका प्रयोग ससारी जीवोके लिए करते और भगवानके लिए भी करते। पर यह तो बताओ कि दोनोमे (भगवानमे और ससारी जीवोमे) सुख समान है क्या? एक जातिका है क्या? सुख तो दोनोको बोलते हैं। तो जैसे सुख शब्दका प्रयोग संसारी सुखोमे लगाते हैं और मोक्षके आनन्दमे भी बोलते हैं, पर वहाँ विवेक करना होगा कि मोक्षका सुख जैसा नही, किन्तु शुद्ध आनन्द है। और, जो ससारी सुख है वह दुःखरूप है। ऐसा विवेक करना है। जैसे एक शब्द है सुख और दो जगह कहे जाने पर विवेकी तो अन्तर पहचान लेता इसी तरह व्यवहार शब्द है एक और वह दो जगह कहा जाता, प्रमाणके अशरूपमे भी और उपचारमे भी। तो वहाँ विवेक करना चाहिए कि उपचार वाला व्यवहार मिथ्या है और प्रमाणांश वाला व्यवहार सत्य है। वहाँ भगवानके लिए सुख शब्द न बोलना चाहिए। आनन्द शब्द बोलना चाहिए था। और, लिखा तो है ग्रन्थोमे हर जगह भगवानके अनन्त सुख है, तो सुनो सुखका अर्थ क्या? सु मायने सुहावना लगना और ख मायने इन्द्रिय याने इन्द्रियको जो सुहावना लगे उसे सुख कहते हैं। भगवानको सुहावना लगे उसे सुख कहते हैं। भगवानके इन्द्रियाँ कहाँ और सुहावना क्या लगा? और अगर सुहावना लगे तो वह तो हम आपकी तरह ही ससारी प्राणी हो गए। तो भगवानके सुख जरा भी नही है। सुख तो बुरी चीज है। जैसे दुःख बुरी चीज है ऐसे ही सुख भी बुरी है, पर आचार्योंने भगवानके आनन्दको सुख शब्दसे क्यो कहा? यो कहा कि समझाना तो था ससारी जीवोको और ये संसारी जीव सुखसे ही परिचित थे, इसलिए आचार्योंने वहाँ सुख शब्दका अधिक प्रयोग किया। और आनन्द शब्दका भी प्रयोग किया गया है। इन्ही ग्रन्थोमे देख लो आनन्द भी लिखा है चिदानन्द, ज्ञानानन्द, सहज आनन्द, अनन्तानन्द आदि अनेक प्रयोग मिलते है। तो जैसे एक सुख शब्द है और वह सांसारिक सुखमे और मोक्ष सुखमे दोनोमे उपयुक्त होता है, मगर वहाँ विवेक करना होगा। ऐसे ही व्यवहारका प्रयोग प्रमाणमे व उपचारमे दोनो जगह होता तो वहाँ विवेक करना चाहिये। अच्छा दूसरा दृष्टान्त लो—ग्रन्थोमे खूब देखलो। धर्म शब्दका प्रयोग दो जगह किया गया। मोक्षका उपायरूप

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इनको धर्म बताया है। और पूजा करना, भक्ति करना, दया करना इन्हे भी धर्म कहा है। लिखा है ना ग्रन्थोमे तो धर्म शब्दका प्रयोग दोनो जगह लिखा मगर वहाँ विवेक करना पड़ेगा कि भक्ति, दया, पूजा, दान, उपकार आदिक जो धर्म कहे गए हैं वे तो है शुभभाव रूप, पुण्यरूप धर्म, वह साक्षात् धर्म नही, किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये साक्षात् धर्म है। ग्रन्थोमे देख लो लिखा हुआ मिलता है कि नही कि यह पुण्यरूप धर्म है। भगवानकी पूजासे धर्म है, धर्मसे देवगति मिलती है, ऐसा भी कई जगह प्रयोग है, पर इसे समझना पडेगा कि इसका अर्थ क्या है ? तो जैसे वहाँ यह विवेक करते हो कि ये शुभ भाव पुण्यरूप धर्म है, ये मोक्षरूप धर्म नही, ऐसे ही यहाँ यह विवेक कर लें कि व्यवहारका प्रयोग उपचारके लिए भी होता और प्रमाणांशके लिए भी होता है। तो वहाँ यह जान लें कि यह उपचारके प्रमाण वाला व्यवहार है और यह व्यवहार मिथ्या है। यो इस निबन्धमे कहा गया कि उपचार मिथ्या है।

—०—

(८)

(४८) **भूतार्थ व अभूतार्थका विश्लेषण**—यहाँ भूतार्थ और अभूतार्थका विश्लेषण किया जा रहा है। भूतार्थका अर्थ है, निरपेक्षनया हुआ सहजभाव व अभूतार्थका अर्थ है, निरपेक्ष न होने वाला भाव। देखो जाननेकी पद्धति दो तरहकी होती है। पहली पद्धति अभेदकी ओर जानेकी है और दूसरी पद्धति भेदकी ओर जानेकी है। जाननेकी दो पद्धतियाँ होती है, अभेदकी ओर जाननेकी पद्धति है भूतार्थ और भेदकी ओर जाननेकी पद्धति है अभूतार्थ। भूतार्थ तो वस्तुके एक अखण्ड स्वभावको जानता है और अभूतार्थ वस्तुके द्रव्यांशकी बात कहो, गुणकी बात कहो, पर्यायकी बात कहो ये सब कहलाते है अभूतार्थ। तो अब यहाँ यह विचारें कि भूतार्थ सच है और अभूतार्थ भी सच है। देखो अभी बतयेंगे कही भूतार्थका नाम सच है और अभूतार्थका नाम झूठ है, यह बात तो जरूर है पर कैसे यह बात लगाना है वह विवेकसे समझना होगा। देखो जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये भूतार्थसे जाने जाते है या अभूतार्थसे, इसका परिचय होता है अभूतार्थ नयसे, क्योकि यह भेद है ना ? अभूतार्थनयसे इसका परिचय हो तो क्या यह गलत रहा परिचय ? आगममे और ऋषि संतोने क्या बताया कि ७ तत्त्व ६ पदार्थ और ये जाने जाते है, कहे जाते हैं तो अभूतार्थनय असत्य नही, और ७ तत्त्व ६ पदार्थ जो उसके विषय है वे असत्य नही,

तो वह असत्य है। जैसे कहते हैं कि मैं इस मकानका मालिक हूं तो यह बात सच है कि झूठ ? झूठ है। वस्तुतः झूठ है, क्योंकि मकानका मालिक कौन ? वे ईंट, पत्थर, चूना, लोहा आदि जिनसे वह मकान निर्मित है उनका है वह मकान। आपका कैसे ? एक बार एक सन्यासी किसी नगरसे गुजर रहा था तो बीचमे उसे एक हवेली दिखी, जिसके द्वारपर एक पहरेदार खड़ा हुआ था। तो वहा सन्यासीने पहरेदारसे पूछा– ऐ पहरेदार यह किसकी धर्मशाला है ? तो पहरेदार बोला– महाराज यह धर्मशाला नही, आगे जावो वहा धर्मशाला मिलेगी। "अरे मैं यह नही पूछता, मैं तो पूछता हूँ कि यह धर्मशाला किसकी है ?" "अरे महाराज बता तो दिया कि धर्मशाला आगे है, यह धर्मशाला नही। इतनेमे सेठने ऊपरसे सुन लिया और आकर बोला– महाराज यह धर्मशाला तो नही है, यह तो आपकी हवेली है, पर यदि आप ठहरना चाहे तो यही ठहर सकते हैं।" "नही मुझे ठहरना नही है, मुझे तो बस जानकारी करनी थी।" तो महाराज यह तो हमारी हवेली है""अच्छा इसको किसने बनाया ? हमारे दादाने।""वे इसमे कितने दिन रहे ?"" अरे वह तो पूरा बनवा भी न पाये थे कि मर गए थे।""फिर किसने बनवाया था ?"" 'हमारे पिताने।""वह इसमे कितने दिन रहे ?""सिर्फ दो वर्ष।" और आप इसमे कितने दिन रहेगे ?""लो अब तो सेठकी आखें खुल गईं और समझ लिया कि सचमुच यह धर्मशाला है। यह हमारी हवेली नही, स्थायी चीज नही। ऐसा ज्ञान बन गया, तो ऐसे ही समझो कि यहां जो कुछ मिला है वह स्थायी चीज नही है। हम आप भी यहाके कुछ नही है, आशक्ति न करें और धर्मकी ओर बुद्धि दें। तो उपचार बताता है एकको दूसरेका कर्ता भोक्ता और स्वामी, मगर एक वस्तु दूसरी वस्तुका न कभी कर्ता हुआ और न भोक्ता हुआ, इस कारण उपचार मिथ्या है।

(४६) उपचार और व्यवहारमे अन्तरका दिग्दर्शन—अब देखो दो बातें सामने रखे रहे– उपचार और व्यवहार। जहा दो बातें सामने रखी कि उपचार और व्यवहार वहाँ यह अर्थ समझना कि उपचार तो कहलाता है मिथ्या, एकका दूसरेमे कुछ मिला देना और व्यवहार कहलाता है कि अमुकका निमित्त पाकर अमुकमे अमुक बात बन गई, बना वह उसका उसीमे जिसकी कि परिणतिसे वह उसमे स्वतन्त्र है, मगर उसका निमित्त पाकर हुई। तो ऐसा दिखाना वह व्यवहारनय है। तो व्यवहार मिथ्या नही होता। उपचार मिथ्या होता है, लेकिन एक बात और समझना कि ग्रन्थोमे अनेक जगह उपचारके प्रकरणमे व्यवहार नाम चलनेसे भी व्यवहार शब्दसे बोधन किया है। जैसे उपचार मिथ्या है यो कहना चाहिए ना तो उस उपचारको व्यवहार शब्द देकर कहा गया कि यह व्यवहार मिथ्या है। तो वहां विवक करना पडेगा कि हा यह उपचार वाला व्यवहार है इसलिए सही लिखा है कि मिथ्या

है मगर कही व्यवहार मिथ्या है इतनी बात देखकर सारे व्यवहारको यो कहना कि मिथ्या है तो वह जैनशासनसे बाहरकी बात है। देखो जितने शास्त्र बने है वे सब शास्त्र व्यवहारनयसे बन सके है, निश्चयसे शास्त्र नही बनते। निश्चयनयकी बात तो व्यवहारनय ही बताता है। तो अगर व्यवहार मिथ्या है तो सब शास्त्र मिथ्या हो गए। फिर तो भगवान की मूर्तिकी भक्ति, रुचि करना वह भी मिथ्या हो गया। अरे प्रभु तो यहाँ हैं मूर्तिमे और ये तो पत्थरके बने है, उपचारसे कहते है कि यह भगवान है, और व्यवहार होता है मिथ्या, तो यह भी छोडो। याने कितने खतरे पडे हैं व्यवहारको सर्वथा मिथ्या बखान देनेमे। अच्छा एक बात और सुनो—व्यवहार मिथ्या है, ऐसा एकान्त ब्रह्मवादमे और बौद्ध दर्शनमे है। जैनदर्शनमें यह एकान्त नही है। यह व्यवहार प्रयोजनवान है, कब तक ? जब तक कि हम परमार्थमे मग्न न हो जायें। तो देखो—बौद्ध ऐसा मानते है कि जो निर्विकल्प ज्ञान है वह तो है सही और जो विकल्प ज्ञान है वह है मिथ्या। विकल्प ज्ञान कहो, सवृति कहो, व्यवहार कहो सब एकार्थक माने हैं वहाँ। तो क्या अर्थ हुआ ? निर्विकल्प ज्ञान प्रमाण माना। जिस समय पदार्थको जाना और पदार्थका कुछ निश्चय नही बनता, ऐसा जो एक प्रतिभास है वह है सच्चा और पदार्थ का प्रतिभास हो जाय कि यह पदार्थ है तो वह कहलाता है व्यवहार। वह व्यवहार होता है मिथ्या बौद्ध दर्शनमे और ऐसा माननेका कारण क्या है ? जिस समय पदार्थ है उस समय तो निश्चय हो नही पाता। थोडा प्रतिभास हो पाता और निश्चय करनेमें थोड़ा समय लगता। सो तब वह पदार्थ मिट गया। अब वह पदार्थ रहा नही, जिसका निश्चय बन रहा है। तो उसे मिथ्या बताया है बौद्धदर्शनने। यह कहलाता है व्यवहार। तो व्यवहारको सर्वथा मिथ्या कहनेकी बात बौद्धदर्शनमे है और ब्रह्मवादमे भी है। एक ही जगह है। सब जगह मिथ्या है। तो जैनदर्शनका आश्रय लेकर अपनेको धर्मसाधनामे बढना चाहिए, अन्य दर्शनका आधार लेकर जो आजकल थोडा अध्ययन चल रहा है उससे ही संघर्ष चल गया। अब तक दिगम्बर जैन आम्नायके अनेक आचार्य हुए और अनेक पंडित भी हुए, उन्होने सब कुछ लिखा पर आज तक कोई विवाद न चला तो वह सब दिगम्बर जैन आम्नायकी परम्परामे था। आज तो विद्वान हैं कितने ? बस इने गिने कुछ। बस १०-१५ दिनकी पढाई पढ़ लिया और अपनेको विद्वान समझ बैठे। अरे पहले ऐसा था कि गुरुजनोके चरणोमे अनेको वर्ष लोटकर उनके चरणोकी धूल अपने मस्तकमे लगाकर विद्याध्ययन किया करते थे, बड़े बडे दार्शनिक, न्याय आदिके विषयोका गहन अध्ययन करके अपनेमे एक ठोस विद्वत्ता प्राप्त किया करते थे। आज तो एक बहुत बडी गम्भीर दशा है दिगम्बर जैन सम्प्रदायपर। जब व्यवहारको मिथ्या

क्योकि असत्यसे सत्यकी खोज नही होती, ६ तत्त्वोमे एकत्वकी खोज करना है। समयसारमे ही कहा है ना कि 'अभूतार्थनयेन व्यपदिश्यमानेषु जीवाजीवपुण्यपापास्रवबंधसंवरनिर्जरमोक्ष-लक्षणेषु नवतत्त्वेषु' ये ६ तत्त्व अभूतार्थनयसे कहे गए है– अगर ६ तत्त्व असत्य है तो इसमे निरपेक्ष सत्त्व जो एकत्व है, समयसार, कारणसमयसार, वह कैसे जाना जायगा ? तो बात यह है कि अभूतार्थ व्यवहारनयसे सत्य है और शुद्धनयकी दृष्टिसे असत्य है। तो अभूतार्थनय क्या हुआ व भूतार्थनय क्या हुआ वस्तुके एक अखण्ड अनादि अनन्त स्वरूपको जानना यह हुआ भूतार्थ और अभूतार्थ हुआ द्रव्य गुण पर्याय, इन सबको जानना। तो कोई पदार्थ गुण पर्याय रहित तो नही होता, अगर गुण पर्यायको जाना तो हुआ अभूतार्थ और एक ज्ञायक-स्वभावको जाना तो हुआ भूतार्थ। यह ही बडी बुद्धिमानी होती है शास्त्रोमे प्रवेश करनेकी, जिस शब्दके दो अर्थ हो उसका प्रयोग कहाँ कैसे करना चाहिए ऐसी जो सावधानी रखते हैं वे श्रोतावोको बीचमे सावधानी कराते हैं, बस यो नयोका परिचय कराते हुए जो कथन उप-देश हो वह सत्य है।

(४६) आत्मविषयमे भूतार्थनय व अभूतार्थनयकी घटना—अब पुनः ध्यान दो। आत्मामे भूतार्थता व अभूतार्थता घटाओ। आत्माका जो एक अखण्ड स्वभाव रूपमे भान हुआ और इस ही अखण्ड स्वभावमे उपयोग बना वह है भूतार्थनयका विषय और उसे कोई जान कैसे गया ? कोई भी मनुष्य, कोई भी ज्ञानी, कोई भी मुनि जन्मते ही ज्ञानी नही बना, मुनि नही बना, उसने अभ्यास किया और अभ्यास बना यह अभूतार्थनयसे। देखो निष्पक्ष ज्ञानी श्रावक, ज्ञान प्रेमी पुरुष वह है जो वस्तुका सही सही निर्णय बनावे। ज्ञानी पुरुषका कषायोसे सम्बध नही होता किन्तु निष्पक्ष उद्घाटनका सम्बध है। भेदमे जाना तो अभूतार्थ, अभेदमे जाना तो भूतार्थ। भेदको सही समझे बिना हम अभेदका परिचय नही कर सकते। अगर कर सकते होते तो जानते ही क्यो न रहते ? सस्कार रहा, क्रिया हुई, व्यवहारमार्गमे रहे तो कभी योग्यता जगी यह कि अखण्ड ज्ञानस्वभावको हम जान जायें। समयसारमे बताया कि भूतार्थसे अगर इन ६ पदार्थोंको जान लिया तो सम्य-क्त्व होता है। वहाँ दो बातें मुख्य समझिये—भूतार्थसे ६ तत्त्व जान लिया तो सम्यक्त्व नही, किन्तु सम्यक्त्वका कारण होता है। जैसे अमृतचन्द्र सूरिने और जयसेनाचार्यने अपनी टीका मे स्पष्ट किया। सम्यक्त्व होता है तब जब उसका कोई विकल्प नही। निर्विकल्प स्वानुभूति केवल ज्ञान रसकी अनुभूति, ऐसा अनुभव करने वाले पुरुषको अन्य कुछ नही है। वहाँ केवल वह ज्ञानस्वरूप ही है। तो अभूतार्थसे परिचय किया। भूतार्थसे फिर जाना, परिचय किया तो दोनोको छोड़ा और निर्विकल्प स्थिति हुई तो स्वानुभव बना। अब यहाँ देखो—भूतार्थ-

नयका विषय क्या है ? अखण्ड स्वभाव और अभूतार्थनयका विषय है इन सब शास्त्रोकी रचना, द्रव्य, गुण, पर्यायके भेद । जीवादिक तत्त्वोका परिचय, यह है अभूतार्थनयका विषय। देखो भूतार्थ व अभूतार्थके शब्द सुनते समय सच और झूठ ये दो अर्थ न लेना । ये भी अर्थ होते, जिनको अभी बतायेंगे, किन्तु यहाँ निरपेक्षभावमय पदार्थ व सापेक्ष भाव वाला पदार्थ यह अर्थ लेना है । तो देखो निज अखण्ड ज्ञानस्वभाव तो भूतार्थ है याने स्वय सहज अभूतार्थ जो स्वय सहज निरपेक्ष ज्ञानस्वभाव है वह है भूतार्थ । और अभूतार्थ क्या है कि वे जीवादिक ७ तत्त्व ९ पदार्थ इनका परिचय करना । इनमे से कोई कहे कि भूतार्थको ही हम मानते है अभूतार्थको नही मानते, तो उसका उत्तर है कि फिर तीर्थप्रवृत्ति खत्म हो जायगी और भूतार्थका बोध असंभव हो जायगा । जब ७ तत्त्व ९ पदार्थ और और प्रकार जब न रहे तब तीर्थप्रवृत्ति खत्म हो जायगी, हम आप लोगोको कोई समझानेका उपाय न रहेगा ।

(५०) आगमवर्णित वचनोके प्रयोगकी सावधानीमे उपलब्धिकी संभवता—देखो बडी सावधानीकी बात है—(१) व्यवहार दो तरहका है, (२) भूतार्थ अभूतार्थ दो तरहका और (३) निमित्त दो तरहका है जीव विकारमे । उनको जहाँ जिस प्रसंगमे जो सही बैठें वैसा जाने तो वह है सम्यक् बोध और निमित्तका अर्थ एक निमित्तमे आश्रयरूप बन गया तो सारे निमित्तोका वही अर्थ करना, यह है एक चतुराई या चालाकी भरा प्रयोग । जैसे दूधके दो अर्थ है—एक तो गाय, भैस, बकरी आदिकका दूध, जो पीनेमे आ सकता और एक दूधका अर्थ है आकका दूध । अब आकका दूध तो खराब होता है, वह पीनेके काम नही आता । इतनी बात तो निश्चित है ना ? ऐसा बताकर यह कहना कि दूध सब खराब है तो यह हुआ ना एक कुशलताका प्रयोग, छलसहित प्रयोग । नैयायिकदर्शनमे तत्त्व माने गए है— छल, निग्रह, जाति वगैरह । वे मानते है कि ये भी तत्त्व हैं । किसीको हरानेके लिए कपटसे भी बोले, हार जाय दूसरा, बस यह तत्त्व है न्यायदर्शनमे । उसे तत्त्व सज्ञा दी है, जब कि जैनसिद्धान्त कहता है कि यह तो दुष्टता है । अरे तत्त्व तो अपने पक्षका समर्थन और दूसरे पक्षको दूषित दिखाया जा सके तो विजय है, कपट करके, शब्दोका हेरफेर करके बोलना यह विजय नही कहलाता । जैनसिद्धान्त तो यह कहता है और नैयायिक दर्शन कहता है कि जैसे बने दूसरोका मुख चुप करे बस यह है तत्त्व । जैसे उदाहरण देते है कि एक पुरुष नया कम्बल ओढकर पासमे बैठ गया तो एक आदमी कहता है कि नवकम्बलोयपुरुष' याने नव मायने नया, यह नये कम्बल वाला पुरुष है । तो दूसरा कहता कि तुम बडे झूठ हो, तुम कहते हो कि ९ कम्बल वाला आया, अरे इसके पास तो एक ही कम्बल है । तो इसको कहते है छल । इसकी प्रतिष्ठा जैनदर्शनमे नही है । तो सीधे युक्तियोसे परिचय बनायें । अभूतार्थनयको छोड़ देंगे तब तो तीर्थ

परम्परा मिट जायगी। जब जीवतत्त्वका नाम लेना पाप कह देंगे तो कोई कहेगा ही नही तत्त्वके नाम, क्योकि वह अभूतार्थ है और अभूतार्थको कह देंगे असत्य तो उसका प्रयोग ही क्यो करना? जब ७ तत्त्व ६ पदार्थकी बात ही कुछ न रहेगी तो अब ज्ञान कहाँसे शुरू करें सो तो बताओ। जैसे बच्चे लोग कक्षा एक दो मे अ आ इ ई से पढना शुरू करते हैं, अब कोई इस तरहसे पढ-पढकर एम. ए, पी एच. डी आदि पास कर ले तो क्या उसका यह कहना शोभनीय है कि अ आ इ ई आदिकी प्रारम्भिक पढाई हेय है? अरे जिसने पास कर लिए उसके लिए तो हेय है, मगर जिसने नही पास किया, जिसने अभी पढना प्रारम्भ ही नही किया उसके लिए तो हेय नही है। तो ऐसे ही समझो कि अभूतार्थकी प्रक्रियाको भूतार्थ से समझें और समझनेके बाद सारे जगतको हम यह उपदेश करें कि अभूतार्थ असत्य है तो इसमे तो उनपर एक बडा बैर बाँध लिया। उनको बरबादीकी बात कर दी अब वे किस रास्ते से चलकर आत्मतत्त्वकी जानकारीमे आयें? अभूतार्थका जो स्वरूप है, जो मर्यादा है उसे बराबर समझें और भूतार्थकी जो सीमा है उसे समझ लें। देखो अभूतार्थनय न रहेगा तो तीर्थप्रवृत्ति खत्म हो जायगी और भूतार्थनय न रहेगा तो तत्त्व खत्म हो जायगा। जब कुछ लक्ष्य नही बनता तो ऐसी स्थिति रहेगी कि जैसे कोई नाविक नावमे बैठ गया शामको, रात भर खेता रहा, उसने यह लक्ष्य न बनाया कि हमको किस जगह पहुचना है तो वह कभी किसी दिशाकी ओर नाव खेता कभी किसी दिशाकी ओर। जब सुबह देखा तो नाव किसी भी किनारे नही पहुची। क्यो नही पहुची कि उसने अपना कोई लक्ष्य ही नही बनाया था, उद्देश्य ही नही बनाया तो कैसे पहुचे? तो भूतार्थनयको यदि खत्म कर देंगे तो तत्त्व खत्म हो जायगा, फिर उपदेशमे कोई जान ही न रहेगी। ज्ञानी पुरुष वह कहलाता जो शत्रुमे भी गुण हो तो उन्हें भी प्रसन्नतासे कहे और मित्रमे भी दोष हो तो उसे भी दोष जानें। निष्पक्ष होना चाहिए। इसीको बताया है समयसारमे कि यदि जिनमतको जानना चाहते हो तो व्यवहारनय और निश्चयनय दोनोको न छोडो। अगर जैनधर्मका सही तत्त्व जानना है तो इन दोनो नयोको न छोडो। अगर व्यवहारनयको छोड दोगे तो तीर्थप्रवृत्ति खत्म हो जायगी और अगर निश्चयनयको छोड दोगे तो तत्त्व खत्म हो जायगा।

(५१) दृष्टिसापेक्ष अर्थ समझनेपर विसंवादका अनवकाश—अब इस बातको रख रहे हैं कि कही कही भूतार्थका अर्थ तो होता है सत्य और अभूतार्थका अर्थ होता है मिथ्या यह भी अर्थ लगाओ। पर वहा यह विवेक करना पडेगा जब भूतार्थ शब्द आये तो सोचो यह भूतार्थ शब्द अभेदके पहिचाननेके लिए आया या एक सत्य शब्दको पुकारनेके लिए

आया ? इसी प्रकार जब अभूतार्थ शब्द बोला जाय तो विवेक करना होगा कि यह अभूतार्थ शब्द भेद प्रतिपादनके लिए आया या असत्य शब्दको पुकारनेके लिये आया जैनशासनके तत्त्वमे विवाद कही नही है। स्याद्वादका सहारा लें तो विवाद नही होता। विवाद होनेके कारण दो हुआ करते है। एक तो अज्ञान और दूसरा दुनियामे अपनी एक कीर्ति बनानेकी तीव्र चाह। इन दो बातोसे विवाद उत्पन्न होता है। पर जो सम्यग्दृष्टि है। ज्ञानी है उसके ये दोनो ही बातें नही हैं। उसे जगतमे कीर्ति कर जानेकी बात मनमे नहीं होती है। क्या है जगत यह ? यह दिखता हुआ हजार दो हजार मीलका क्षेत्र इस लोकके सामने क्या गिनती रखता है ? लोक तो ३४३ घनराजू प्रमाण है। उसमे जरा सी जगहमें कुछ थोडेसे लोगोने कीर्ति गा दी तो भला बतलाओ यह कीर्ति उस जीवके कुछ काम आयगी क्या ? ज्ञानी पुरुषको कीर्तिकी चाह नही होती। अब तो इस स्याद्वादका सहारा लें। जैनशासनका परिचय, स्याद्वादका परिचय इस जीवको होता है निष्पक्षताकी बुद्धि करने पर।

(५२) निश्चय और व्यवहारनयके आशयसे लाभ न ले सकनेमे मूढताका दिग्दर्शन— भैया ! भूतार्थ अभूतार्थ कहो, निश्चय और व्यवहार कहो। दोनोंकी उपयोगिता समझो। अब परमार्थको तो जाना नही परमार्थ मिला नही, और व्यवहारको पहलेसे ही छोड बैठे तो भला बताओ कैसे काम बनेगा ? उसकी स्थिति ऐसी कही गई जैसे कहते है ऊँटके ५ पैर होते है चार तो होते है चलनेके और एक होता है फालतूका। उसकी छातीमे कोई ८-१० अगुलका पैर होता है, तो जैसे वह पैर ऊँटका न यह का न वहाँ का ठीक ऐसी ही दशा उस पुरुषकी होता है जिसने परमार्थ तो पाया नही और व्यवहार छोड बैठा। वह न इधरका हुआ न उधर का हुआ। तो देखो सीधी सादी बात है—व्यवहारमे से गुजरते हुए व्यवहारको हेय कहे सो तो बात है सच्ची, और कोई व्यवहारसे रहे दूर और व्यवहारको हेय कहे तो उसकी बात सत्य नही है। देखो ग्रन्थोमे मुनियोंकी भी बहुत डाँटा गया—अरे तुम्हारे भाव निर्मल नही, तो फिर उस निर्ग्रन्थ भेषसे क्या फायदा ? ज्ञान तुम्हारा स्वच्छ नही तो इस ज्ञानसे क्या फायदा ? खूब कहा इस तरहसे मगर यह तो ध्यान दे कि जो मुनिजन है उनके लिए यह कहा गया है न कि श्रावक जनोके लिए। देखिये इसमे कितना अन्तर आता है ? और, जो श्रावक है वे अगर इस बातको सुनकर यह सोच लें कि जब भाव शुद्ध नही तो फिर इस निर्ग्रन्थ भेष से क्या फायदा ? यो तो पशु पक्षी मछलियाँ, वृक्ष आदि भी निर्ग्रन्थ रहते हैं। तो फिर उस का क्या असर होगा ? बस यो ही मुह फुलाये स्वच्छन्द बने रहेगे। तो सब बातें ध्यानमे देनी चाहिए। यहाँ जो ग्रन्थोमे इस तरहसे सम्बोधा गया है वहाँ यह ध्यान दें कि मुनियोंको स्वय

आचार्योंने सम्बोधा कि ऐसा नग्न होनेसे क्या फायदा ? और अगर ज्ञान नही है तो तुम्हारे व्रत तप आदिक केवल व्यायाम हैं, परिश्रम है । इस तरहसे मुनिजन बहुत डांटे गए। जो मुनि हैं उन मुनियोको मुनियोंने ही कहा कि देखो यहाँ तुम मत रम जावो, यहाँ तृप्त हो जाना तुम्हारे लिए उचित बात नही है। कुछ ज्ञान बढ़ावो, निर्मल भाव बढ़ाओ, धर्म बढ़ावो। धर्म मे आवो, और, जो श्रावक हैं, अव्रती है, हीन पहलेसे ही हैं उनके आगे ये ग्रन्थ पढ़नेको रखे जायें तो वे तो उसका गलत ही अर्थ लगायेंगे । इसलिये—बात बहुत सोच विचारकर करना चाहिए। इस जीभको ऐसा मुफ्त न समझो कि जब ली और हिला दी। शब्द का भाव, शब्दका मर्म, प्रकरणकी बात भी समझना चाहिए। देखो—कोई भी जीव मनुष्य जो अनेक वासनाओसे लदा फिर रहा है वह मुक्तिमे जायगा तो इसी अज्ञान वासनाके बाद ही नही जा सकता । श्रावकधर्म, मुनिधर्म, दिनचर्या ये सब बातें बीचमे आयेंगी, और उनमे वह अटेगा नही, उनमे वह तृप्त होगा नही । यो पा लेगा मुक्ति । निश्चय और व्यवहार ये असत्य हैं ऐसा नही, इन्हे न छोड़ना, किन्तु प्रक्रिया यह है कि उपचार तो असत्य है और प्रमाणका अश व्यवहार सत्य है, पर उस व्यवहारमे न अटककर व्यवहारका और ऊपरकी बात निश्चयनयका विषय अखण्ड ज्ञानस्वभाव उसकी धुन बनावें और उसकी ओर बढ़ें, बढ़ेंगे व्यवहारमे, करें व्यवहार पर उसमे रमे नही । बढ़ें अपने उद्देश्यकी ओर। तो ऐसे ही विश्लेषण सहित एक ज्ञानतत्वकी बात हो तो वह अपनेको बड़ा स्पष्ट कल्याणका साधक होता है ।

(५३) शुद्ध ज्ञानमे मानका अभाव—जब शुद्ध ज्ञान होता है तब मान नही रहता। होता है ना ऐसा, कोई कहता कि धन बढ जाय तो मान होता, ज्ञान बढ़ जाय तो मान होता । पर शुद्ध ज्ञान जगने पर यह घमंड रह नही सकता । जिसने यह जान लिया हो कि जैसे जीव कल्पना किये गये मेरे बालक आदि हैं वैसे ही जीव तो सब हैं, जैसा स्वरूप मेरा है वैसा ही इन कीडामकोडा आदिक जीवोका भी है । रहा एक पर्यायका अन्तर । तो इस पर्यायका भरोसा क्या ? एक राजा भी मरकर कीडा बन जाय और एक कीड़ा भी मरकर राजा बन जाय । तो इस पर्यायका क्या गर्व करना ? यह पर्याय गर्वके लिए नही । यह पर्याय अपनी हीनता समझकर इससे दृष्टि हटानेके लिए ले । ज्ञानमे गर्व नही होता और उसमे हम आपका अगर कुछ धन है तो ज्ञान ही धन है, अन्य कुछ धन नही है । बाकी सब तो बेकार बातें हैं । आप कहेंगे कि काम तो आ रहे ये मकान, वैभव, रुपया पैसा आदिक। अरे ये चीजें न हो तो भी काम चलता । जितना है उतना न हो तो भी काम नही चलता क्या ? यो समझो कि हमको जो कुछ मिला है धन वैभव, वह औरोकी अपेक्षा कई गुना

ज्यादह है। ऐसा ध्यानमे लावें तो धर्मके पात्र बनेंगे और जो ऐसा सोचेगा कि जो हमारे पास है वह तो बहुत कम है तो फिर वह धर्ममे नही बढ सकता। जरासे फर्कमे बड़ा फर्क हो जाता है। तब यह समझो कि हमारे पास जरूरतसे ज्यादह धन है। क्या समझ नही सकते ऐसा ? समझ सकते। अपने से कई गुणा कम धनिकोको देख लो। बिल्कुल गरीब स्थितिके लोगोको देख लो क्या वे जिन्दा नही रह रहे ? ऐसी दृष्टि बना लेने से अपने को बडा सतोष मिलेगा और अगर चित्तमे यह बात बसी है कि मेरे पास तो कुछ धन नही है, तो वह कभी जीवनमे शान्ति सतोष नही पा सकता। और फिर देखा भी होगा कि जब कम धन होता है तब तो कुछ प्रभुभक्ति करनेका भी समय मिल जाता है और जब वैभव अधिक हो जाता है तो फिर कोई कोई लोग तो ऐसा कह बैठते हैं कि हमारे पास प्रभुभक्ति करनेका समय नही है। तो अब बतलाओ साधन सब है पर शान्ति नहीं है अगर शान्ति होती तो फिर धर्म करनेके लिए समय क्यो न मिलता ? यह तृष्णाका रोग बहुत कठिन रोग है। इससे दूर रहना, जगतके पदार्थोंको असार समझना। ज्ञान ही धन है, ज्ञान ही सार है। ज्ञान ही शरण है, ज्ञानार्जनके लिए, ज्ञानप्रभावनाके लिए तन, मन, धन, बचन, प्राण सब कुछ न्योछावर करना पडे और उसमे ज्ञान प्राप्त होता है तो आपने कुछ नही खोया और सब पाया। तो ज्ञान लाभके ये ही दो तरीके है अभूतार्थ और भूतार्थ। इसमे विवाद कहाँ है ? पहले तो अभूतार्थसे जानना पडेगा। सब कुछ हैं द्रव्य, गुण, पर्याय, जीवादिक ७ तत्त्व और फिर उनमे मूल चीज तो आत्मा है ना ? तो ये सब आत्माके परिणमन हैं। तो जिसके ये परिणमन होते वह अतस्तत्त्व वह एक है, एक स्वरूप है और परमार्थ है। तब जाना इसको परमार्थ। तो अभूतार्थनयका उपयोग लें और दोनोको ही छोडकर पहुंचें किसी निर्विकल्प दृढ अनुभूतिमे। समझो कितना बड़ा काम करनेको पडा है तब जाकर बडा कहलायगा। शान्त कहलायगा।

(५४) महत्त्वकी प्राप्तिमे कष्टसहिष्णुताका प्रचुर सहयोग—भैया ! बडा बनना है तो बडा कष्ट सहिष्णु बनना होगा और चित्तमे बडा नियत्रण करना होगा, सयमी बनना होगा। स्वानुभूतिके लिए भी तो भीतरी सयम चाहिए ना कि यह चित्त यहाँ वहाँ न डोले, एक ज्ञानस्वरूपके लक्ष्यकी ही धुन बनायें। तो बडा बननेके लिए बड़ा कष्टसहिष्णु बनना पड़ता है। जरा जरासी कष्टकी बातें आनेपर घबड़ाये नही। मान लो किसीने गाली दी या कुछ भला बुरा कहा तो उससे मेरेमे क्या चोट आती है ? अरे उसका परिणमन उसमे है। ध्यान तो दो, परिणमन रहा हर जगह, परको पर जानकर, निज स्वरूपको निज जानकर अपने अंतरगमे परिणमन रहा तो यह बडा बननेकी तरकीब है। देखो यह जो उड़दका बड़ा बनता

है तो उसकी प्रक्रिया देख लो किस तरह बन बनकर वह बडा कहलाता है। सबमे पहले तो उन्हे बैलोसे दाँय करते समय कुचला जाता है फिर चक्कीके पाटमे दला दिये जाते है, फिर मानो शामको पानीमे भिगो दिए जाते हैं। रातभर पानीमे फूलते है, फिर सुबह उनको हाथ से मलकर उनका छिलका उतारा जाता है। फिर उसकी शक्ल बिगडो जाती है, उसको गोलाकार बनाया जाता है, फिर उसको खूब तेज गर्म कडाहीमे खौलते हुए तैलमे डालकर उन्हे पकाया जाता है। इतनेपर भी लोग नही मानते, फिर उनके पेटमे लकडी घुसेड देते हैं यह देखनेके लिए कि अभी कही कच्चे तो नहीं रह गए। फिर उन्हे खटाई, मिर्च, मट्ठा आदिमे पटक दिया जाता है। तब कही वह बडा कहलाता है। तो बडा बननेके लिए बडी कष्टसहिष्णुता होनी चाहिए। यहाँ तो हम आप मुफ्तमे ही बडा बनना चाहते हैं। लोग सोचते हैं कि हमको कुछ कष्ट न करना पडे और बडे बन जायें। यह ही तो मानकी लडाई है। जो शरण मार्दव धर्म है उसका अर्थ है मान न होना, देखो मान न होना। मान शब्द को जरा उल्टा करो——नमा, जिसका अर्थ है नम जावो, नम्र हो जावो। तो नम्र होनेको मार्दव भाव कहते हैं। निर्मल परिणाम होनेका नाम मार्दव है। मार्दव कहते हैं-कोमलको। तो यह कोमलता धर्म है जो मान कषायके दूर होनेसे प्रकट होती है। अगर वह मान कषाय है तो फिर वहाँ धर्मका उपाय नही मिलता। गौतमका मान गला तो निर्मोह होकर मुनि हो गये मनःपर्ययज्ञान हो गया, फिर केवलज्ञान हो गया। जो महावीर स्वामीसे लडने जा रहे थे और मान स्तम्भ देखा तो उनका मान गल गया। शुद्ध हुए और मुख्य गणधर बन गए और फिर केवली हो गए। तो यह मान कषाय ऐसा रोग है कि जिसके कारण हम अपनी प्रगति नही कर पाते। धर्ममे आगे बढ नही पाते। और देखो जीवनमे यहाँ ही देख लो, दूसरोका आदर करें, अपनेको तुच्छ बतावें तो देखो कितना प्रेम बढता है, कितना सद्व्यवहार होता है ? जो मिले उसका आदर करें और अपनेको तुच्छ बनावें, मैं कुछ नही, आप सब कुछ, आपने सब किया, ऐसी प्रवृत्ति बनाओ जीवनमे, यही एक स्वर्ग जैसा साम्राज्य बन जायगा। और चाहे कि मैं बड़ा कहलाऊँ, ये तुच्छ रहे तो ऐसी अन्यायकी बात कोई न सहन करेगा। तो सबको आदर दो और अपनेको दूसरोसे बडा मत समझो, ऐसी प्रवृत्ति जीवनमे हो तो सुख शान्ति मिल सकती है।

—०—

(६)

(५५) **विकारोकी नैमित्तिकताके परिचयमें एक विशुद्ध प्रकाश**—यहाँ यह विचार करना है कि जीवमे विकार क्या अपने आप ही उत्पन्न हो जाते हैं या कोई दूसरा करता है। सामान्यसे तो उत्तर यह है कि विकार न तो अपने आप होता है और न कोई दूसरा करता है, किन्तु परका निमित्त पाकर स्वयकी योग्यतासे स्वयमे विकार बन जाता है। यहाँ दो बातें आयी। जीवके विकार होता है उसका निमित्त परसग है। यह उपचारकी बात नही है। कुन्दकुन्दाचार्यने, अमृतचन्द्रसूरिने और जयसेनाचार्यने समयसारमे कहा है इस गाथा मे—'जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रागमादीहिं, रगिज्जदि अण्णेहिं सो रत्तादीहिं दव्वेहिं।' जैसे स्फटिक मणि स्वय रागभावरूप नही है और न स्वयं लाल होनेका निमित्त बनता है सो वह खुद अपने आप रागरूप नही परिणमता। यह बात स्पष्ट देख लो, आंखोके सामने देख लो, दर्पण क्या खुद ही अपनी ओरसे लाल पीला आदिक रूप बन जाता है? अरे उस लाल पीला कपडा आदिक बाहरी चीजका सन्निधान पाकर वह लाल पीले आदिक रूप परिणम गया। वहाँ यह विवेक करना चाहिए कि लाल पीले कपड़ा आदिकका कुछ भी प्रयोग उस दर्पणमे नही गया, किन्तु सामने रहता, सन्निधानमे रहता बस इतनी भर वहाँ बात रही कि उस दूसरेका सन्निधान पाकर वह दर्पण स्वयं अपनी विकारी योग्यतासे लाल पीले रूप परिणम गया। देख लो इस कथनमे वस्तुस्वातत्र्य पूर्ण झलक रहा है, और निमित्त नैमित्तिक भाव भी झलक रहा है, ऐसी दो बाते है। अब उनमे से पहिली बातपर विचार करें। हाँ खुद खुदके विकारमे निमित्त नही होता, यह पहली बात है। जैसे दर्पण स्वयं ही नाना रूप प्रतिबिम्बित होनेमे निमित्त नही बन पाता ऐसे ही यह जीव अपने विकारके होने मे निमित्त नही बन पाता। यदि दर्पण खुद ही अपने लाल पीले आदिक प्रतिबिम्बरूप परिणमनमे निमित्त हो जाय तो दर्पणमे सदा प्रतिबिम्ब रहना चाहिए, क्योकि बाहरके पदार्थों का सन्निधान तो रहा नही। दर्पण ही खुद अपने विकारके लिए निमित्त हो गया तो सदा उसमे प्रतिबिम्ब रहना चाहिए, ऐसे ही आत्मा खुद ही आप अपने ही स्वभावसे अगर रागी द्वेषी बन गया, उसमे कर्मविपाक निमित्त कुछ माना न जाय तो विकार सदा रहना चाहिए। देखो बडी उदारतासे बडी निष्पक्ष विधिसे आचार्य सतोको भक्तिपूर्वक सुननेसे यह विषय आयगा। इस समय हम दो बातोमे से पहली बात कह रहे। जब जो बात कही जाय तब उसी बातका ही विशेष चिन्तन चलना चाहिए। तो खुद खुदके विकारका निमित्त नही होता, क्योंकि खुद विकारके विपरीत स्वभावसे हटा होने वाला परिणाम अपने आपके निमित्तसे

नही होता। वह खुद उपादान है। वह ही खुद विकारमे निमित्त होवे तो विकार सदा रहना चाहिए। तो बडो आपत्ति होगी, विकार फिर दूर कैसे किया जा सकेगा, क्योकि वह तो अपने आपके स्वभावसे हो गया है। जो भाव विषम होता है, समान नही होता है। घटाव बढाव लिए हुए होता है तो समझो कि उसकी उत्पत्तिमे कोई बाह्य पदार्थ निमित्त होता है।

(५६) **निमित्तनैमित्तिकभाव व वस्तुस्वातन्त्र्यका अविरोध**—देखो निमित्तकी बात सुनकर न डरना चाहिए। जो लोग मानते है निमित्तका निराकरण करते हैं वे डर सकते, पर निमित्तकी बात रखते जाओ कि स्वभावदर्शनके लिए कितना उपयोगी है, इस मर्म तक नही पहुचे वे। हा निमित्त उपादानमे कुछ करता है यह बात कहे तो वह मिथ्या है, पर विकार निमित्त बिना हो जाय निमित्तके सन्निधान बिना होवे तो विकार फिर जीवका, पदार्थ का स्वरूप बन जायगा। वह कभी नही मिट सकता। सामने देख लो--दर्पण रख लो और हाथको जल्दी यो हिलावो, दर्पण सामने कर लो तो वहाँ दर्पण उसरूप प्रतिबिम्बित हो जायगा ना। तो सीधा देख रहे हैं कि दर्पणमे प्रतिबिम्ब आ गया, पर वह परनिमित्त बिना नही हुआ। अब उस एक सीधे दिखने वाली बातको मेटकर यहाँ एक ऐसी बात की जाय कि वह तो दर्पणमे अपने समयपर अपनी योग्यतामे अपने आप आ गया। एक प्रत्यक्षसे विपरीत आग्रह क्यो किया जावे। अब रही यह बात कि कही निमित्ताधीन तो नही हो गया वह परिणमन। निमित्ताधीन परिणमन नही होता। किसीके हाथका निमित्त हुआ वहाँ उसका स्वरूप क्रिया प्रभाव कुछ भी दर्पणमे नही गया। यहाँ हाथ बाहरमे हिल रहा। हाथ का सारा काम हाथमे हो रहा, हाथसे बाहर हाथका कुछ भी काम नही हो रहा, इसलिए इस हाथने दर्पणमे कुछ काम नही किया, पर दर्पण ही अपने आपकी योग्यतासे हाथका सन्निधान पाकर उस रूप परिणम गया। यह उपादानकी कला है। यह उपादानकी ही स्वतन्त्रता है। बस निमित्त तो खाली सन्निधानमे होता है। निमित्त उपादानमें कुछ करता नही है। जिनवाणीका विधिवत् रहस्य रखनेके लिए कषाय कल्पना या कीर्ति नाम आदिक सबका बलिदान करना होता है। देखो सरस्वतीका भक्त होना यह सबसे ऊँची चीज है। और कुछ मनमे मद आये कि मैं बडा बन जाऊँ, कुछ इन लोगोसे निराला (अनोखा) सा कहलाऊँ। अरे यह कोई दुर्लभ चीज नही, यह तो अनादिसे करते चले आये, कभी किसी प्रसगसे बडे कहलाये कभी किसी प्रसगसे, पर इस वीर वाणी सरस्वती देवी मायने जिन वचनोका अर्थ उसकी भक्ति होना यह बहुत बडे वैभव वाली बात है।

(५७) **आर्षानुरागीका मनोबल**—देखिये--शुद्धि रुचि किस ज्ञानीके होती है जो अपनी विद्वत्ताको पचा डालता है। चाहे कुछसे कुछ अटपट और अनहोनी आश्चर्य वाली

बातमे न बढकर दुनियामें अपना निरालापन दिखाया जा सकता है, लेकिन ऐसा निराला-पन दिखानेमे जिसके मोह नहीं है और प्रभुकी वाणीकी जो धारा चल रही है उसी प्रवाह मे अवगाह करके अपने नामको मिटा दिया, अपने नामको दुनियासे निराला दिखानेकी चाह न करें, ऐसी विद्वता पचानेके लायक जिसका ज्ञान हो गया वह ही भगवानकी वाणी सत्य मर्म समझ सकता है। जिसको कुछ परवाह नही, दुनिया जाने न जाने, माने न माने एक अपने आपके सम्यग्ज्ञानसे ही तृप्त है, संतुष्ट है ऐसा ही पुरुष विशुद्ध तत्त्वके मर्मको प्राप्त होता है। यहां बतलाया जा रहा कि जीवमे जो रागद्वेषादिक विकार होते हैं उन विकारोके होनेमें जैसे जीव उपादान है ऐसे ही जीव निमित्त नही बनता, किन्तु इस जीवके उपादान हो गया रागद्वेषका और जीव ही निमित्त बन गया रागद्वेषका, फिर क्या वजह है कि जो रागद्वेष सदा न होते रहेंगे, फिर वे कैसे मिटेंगे ? रागद्वेषके निमित्त भी सदा हाजिर हैं। फिर क्या वजह है कि जो विकार कभी बद हो सकें। यदि विकार परभाव और नैमित्तिक न हो तो फिर ये विकार कभी नष्ट नही किए जा सकते। तो प्रयोजन क्या है ? स्वभावदर्शनका। स्वभावदर्शन कीजिए। आप जब चावल शोधते हैं तो वहां आप जब यह विवेक रखते हैं कि यह तो चावल है और यह चावल नहीं है, कंकड है, मिट्टी है, तब ही तो आप चावल शोध पाते हैं। तो जैसे कूडा करकट, मिट्टी, कंकड आदिको हटाकर ही आप शुद्ध चावलका सग्रह कर सकेंगे ऐसे ही आत्मा और अनात्मा इन दो तत्त्वोका ज्ञान होना चाहिए तभी तो अनात्मतत्त्वसे हटकर अपने शुद्ध आत्माके स्वरूपका दर्शन किया जा सकता है। तो आत्मा है क्या ? परमार्थ आत्मा है क्या ? शुद्ध स्वच्छ ज्ञानमात्र, जहां विकार नही ऐसा यह आत्मा क्या अपने विकारमें निमित्त हो सकता है ? अगर खुद विकारमे निमित्त हो तो सदा विकार होते रहेंगे, यह आपत्ति है। तब खुदको बहुत स्वच्छ निर्मल विविक्त निरखना। स्वयं मैं कैसा हू, कोई भी पदार्थ हो उसका स्वरूप खुदको मिटानेके लिए नही हुआ करता। कोई भी दृष्टान्त बताओ कि जो स्वयं खुदको मिटा दे। देखो सब द्रव्योमे बात लीजिए। परमाणु का स्वरूप परमाणुको मिटा देनेके लिए नही बनता। जीवका स्वरूप जीवको मिटा देनेके लिए नहीं होता। जीवके स्वरूपमे कोई बाधा नहीं है, किन्तु कोई परउपाधिका सम्बंध है उससे बाधा है। उस उपाधिसे हटें और हटनेका उपाय क्या है ? उपाधिसे ही अपना स्वरूप देखें। प्रत्येक पदार्थ अपने आपमे बिल्कुल नग्न है। वहां लेप नही है। स्वरूपकी बात कह रहे है। खुद ही खुद है। खुदमें के स्वरूपमें अन्यका प्रवेश नही है। मेरे औ अन्यका विकारके लिए निमित्त कैसे हो सकता

बढावकी चीज और मैं हूँ शाश्वत चैतन्य। मेरे स्वभावमे घटाव बढाव नही होता तो इस प्रसगमे क्या निरखा जावे ? अपने विकारमे खुद निमित्त नहीं, इससे देखनेको क्या मिला कि जीव ऐसा कुछ अविकार स्वभावी है कि खुद तो अपने आप विशुद्ध स्वभावकी ओर ही रहता है, पर विकार होते तो किस तरह होते ? वे परसगका निमित्त पाकर होते है। यह तथ्य इस निबधमे है। अब विकार कैसा सग पाकर होता उसका वर्णन इसके आगेके निबन्धमे होगा।

—०—

(१०)

(५८) विकारमे परसगकी निमित्तताकी यथार्थता—कल यह कहा गया था कि जीवमे जो विकार होता है उस विकारका निमित्त खुद जीव नही है, जीव ही क्या, जगतका कोई भी पदार्थ उस पदार्थके विकारके लिए स्वय निमित्त नही होता। यह एक वस्तुस्वरूप है। यदि खुद ही खुदके बिगाडका निमित्त हो जाय तो वह बिगाड सदा रहना चाहिए, क्योकि वह ही उसका उपादान है और खुद ही उसका निमित्त हो गया। विकार कहो या बिगाड कहो एक ही बात है। कुछ सभालकर बोलो तो विकार शब्द बन गया, कुछ बिगडे रूपमे बोलो तो बिगाड शब्द बन गया। किसी भी पदार्थमे विकार (बिगाड) होनेके लिए वह खुद-निमित्त नही होता। इससे क्या शिक्षा मिली कि जीव अपने आप अपने स्वरूपमे स्वच्छ है। अब एक प्रश्न हो जाता है कि जीवके विकारमे जीव खुद निमित्त नही है। तो क्या निमित्त है। उसका उत्तर इस निबधमे है। जीवके विकारका निमित्त परसग ही है। जैसे स्फटिक मणिका उदाहरण देकर कुन्दकुन्दाचार्यने, अमृतचन्द्र सूरिने और जयसेनाचार्यने उसका समर्थन किया कि जीवका विकार परसगका निमित्त पाकर ही होता है। 'तस्मिन्निमित्त परसग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्'। यह भी एक वस्तुस्वभाव है। अशुद्ध उपादान-निमित्त सन्निधानको पाकर अपने मे विकाररूप परिणम जाता है। जैसे कोई दो बालक खडे हैं, २० हाथ दूरपर। उनमे से एक बालक जीभ निकालकर अगूठा हिलाकर चिढा रहा है, और दूसरा बालक चिढ रहा है, दुखी हो रहा है, तो उस दूसरे चिढने वाले बालकका निमित्त वह खुद ही तो नही है। दूसरा है उसका निमित्त, ऐसे ही समझो कि खुदमे विकार बना तो उस विकारका निमित्त खुद नही होता। वहा निमित्त परसग ही है।

(५९) जीवविकारके प्रसंगमे निमित्तके द्वैविध्यके परिचयसे निमित्तत्वकी वास्तविकता व उपचरितताकी जानकारी—देखो निमित्तके बारेमे स्पष्ट ज्ञान करनेके लिए निमित्तके दो

प्रकार समझ लेना चाहिए। एक होता है वास्तविक निमित्त और दूसरा होता है आश्रयभूत निमित्त। जो कोई यह कथन कहे कि पर पदार्थका आश्रय करें तो पर पदार्थ निमित्त है, आश्रय ही न करे तो निमित्त कुछ नही, उनकी यह बात ठीक है, किन्तु यह घटित होता है आश्रयभूत निमित्तमे। जीवोको वास्तविक निमित्तका परिचय है कहाँ ? एकेन्द्रिय जीव क्या जानते हैं ? कर्म और कर्मोदय, और मनुष्योमे भी यहाँ कोई भी नही जानने वाले है। तो जो अज्ञात है उसका आश्रय कैसे बनता है ? हाँ अज्ञातसे तिरस्कार बन जाता है। तिरस्कार अज्ञात से भी होता और ज्ञातसे भी होता, किन्तु आश्रय ज्ञातका ही हो सकेगा। अज्ञातका न होगा। और, देखो जब जीवविकारके प्रसंगमे निमित्तकी बात कहते हैं तो आश्रयभूत निमित्तकी बात कहने लगते हैं मगर अजीव। अजीवमे तो घटावो, कौन किसका आश्रय करता ? हाँ अग्निका निमित्त पाकर कागज जल जाता है तो कागज जो जला वह क्या अग्निका निमित्त पाकर जला। आश्रय करनेकी बात तो ज्ञान वाले पदार्थमे होगी, इसने उसका आश्रय लिया। अच्छा अगर कुछ आश्रयकी बात ही यहाँ कहेगे तो अग्निपर कागज उडकर आया तो वहाँ कुछ कुछ अदाज लगायेंगे कि लो कागजने अग्निका सहारा लिया, कागज जल गया। अगर कोई कागज पर अग्नि घर जाय तो वहाँ कैसे लगायेंगे कि कागजने अग्निका आश्रय किया ? तो आश्रयकी बात केवल एक ज्ञानवान पदार्थके विकारमे ही कही जा सकती सो इन बाह्य पदार्थोमे वास्तविक निमित्तका उदय होनेपर जीवमे विकार होता, लेकिन आश्रयभूत पदार्थका आश्रय लें तो विकार व्यक्त रहता है और आश्रय न लें तो विकार अव्यक्त रहता है। अब रही एक यह बात कि जो अव्यक्त विकार है उसको नष्ट करनेका तरीका क्या है ? व्यक्त विकार न हो तो भविष्यमे इसके अव्यक्त विकार भी खत्म हो जायेंगे। व्यक्त विकार न हो इसके लिए आपके पास क्या उपाय है ? वह उपाय है चरणानुयोगकी प्रक्रिया। बाह्यपदार्थका आश्रय न लें, यही है व्यक्त विकारके मेटनेका उपाय। तो बाह्य पदार्थोंका त्याग करना ताकि उसका आश्रय न लिया जाय, यही तो चरणानुयोगमे बताया है, तो विकारका निमित्त परसंग ही है और यह एक वस्तुस्वभाव है कि अशुद्ध उपादान परनिमित्तके सान्निध्यमे उपाधिके अनुरूप अपनी परिणमन शक्तिसे विकार रूप परिणम जाता है। यह तथ्य जब ज्ञात होता है तो स्वभावपरिचय दृढ़ हो जाता है ये नैमित्तिक भाव हैं, परका निमित्त पाकर होते हैं। मेरा इनमे कोई स्वरूप नही बसा। मैं तो स्वरूपतः अविकार स्वभाव हू। ऐसी प्रतीति बनती है इस नैमित्तिक भाव का परिचय हो जानेसे। यहाँ यह ध्यान देना कि विकार मेरा स्वरूप नही, विकार परभाव हैं, नैमित्तिक हैं। मैं तो स्वयं अपने आप अपने कुलके अनुसार ही रहता हू। मेरा कुल है चैतन्यकुल, उसके अनुसार उसकी वर्तना होती है। तो यहाँ अपने आपको विशुद्ध अविकार

स्वभावके रूपमे परख लिया गया।

(६०) **ज्ञानका सदुपयोग आत्महितमे शीघ्रताका पौरुष**—देखो भैया! जानना किस लिए होता है? समझानेके लिए? नही। जानना होता है इसलिये कि जो हितकी बात है उसको अभीसे करने लगें। जो देर करेगा हितरूप लाभके लिए उसके लिए देरमे देर होती चली जायगी। तो इस तत्त्वके परिचयसे अपनेको अविकारी ज्ञानस्वरूप अनुभवनेकी शिक्षा मिलती है। ज्ञानमे एक ऐसी कला है कि किसी भी समय आत्मज्ञान जगे तो वहाँ ही सारे सकट दूर हो जायें। तीन आदमी थे, स्वाध्याय करते थे, एक था बूढा, एक था जवान और एक था बालक। तो उन तीनोमे यह बात तय हुई कि देखो अपन तीनोमे से कोई एक विरक्त हो जाय तो शेष दो को अपनी विरक्ति बताये और कहे ताकि शेष दो भी उसके साथ होवें। तो कुछ दिन हुए बूढे व्यक्ति ने सोचा कि अब तो मरनेके दिन निकट आ रहे है। सो अब तो त्याग मार्गमे चलना चाहिए। तो महीनो पहलेसे विचार किया और लडको को जो कुछ देना था सो दे दिया। जो जो कुछ भी उसके पास था वह सब कुछ लडका लडकी वगैरहको दे दिया। इसके बाद वह विरक्त होकर घर छोडकर चलता है तो बीचमे उस जवानकी दुकान मिली बजाजी की। तो वह बूढा कहता है कि भाई अब हमे वैराग्य जग गया। हम तो अब सब कुछ छोड रहे, तो वह जवान उठा और कहा चलो हम भी साथ चलते हैं। तो वह बूढा बोला—अरे तुम यह क्या कर रहे हो, अभी १०–५ वर्ष घर मे रहकर सब हिसाब जमा दो, सबको सब कुछ समझाकर सारी व्यवस्था ठीक ठीक बना दो, फिर हमारे साथ विरक्त होकर रहना। तो वह जवान बोला—अरे जिस चीजको छोडना है उसको सभालने का क्या विकल्प करना? मैं तो अभी साथ चलता हू। चल दिया साथ। अब वे दो हो गए। अब बीचमे लडका खेलता हुआ मिला। खेल रहा होगा गुल्ली डडा अथवा कबड्डी अथवा कुश्ती वगैरहके खेल। देखिये पहले एक ऐसा जमाना था जब कि ऐसे ही शारीरिक श्रम पडने वाले खेल खेले जाते थे। और आज कलके खेल ऐसे खेले जाते हैं कि जिनमे खेलने वालोको कुछ शरीरिक श्रम नही पड़ता, जैसे आइसवास तास, कैरम्बोट आदिक। आजकल तो सोचते हैं कि खेल ऐसे खेलो कि जिनमे शारीरिक श्रम भी कुछ न पडे और मनभर जाय। ऐसे खेलोमे तो समय ही व्यर्थ जाता और लडाईके बहुत से मौके मिलते हैं। तो रास्तेमे वह लडका खेल खेल रहा था, दोनोने कहा भाई हम दोनो तो विरक्त होकर जा रहे तो उस लडकेने तुरन्त गुल्ली डडा फेंका और बोला हम भी साथ चलेंगे। उन्होने बहुत समझाया कि अरे अभी बच्चे हो, कुछ दिन घरमे रहकर घरके सुख देख लो, पीछे विरक्त हो जाना। तो वह बालक बोला कि अरे जब कीचड़को साफ ही करना

पडेगा तो फिर उस कीचडको लगाने की जरूरत ही क्या ? वह बालक भी उनके साथ चला गया। अब परिणामोकी बात देखो उस बूढ़ेने तो ६ महीने पहलेसे ही सारे हिसाब किताब बना दिया और जब यह समझ लिया कि अब तो मरनेके दिन निकट आ गए तब वह विरक्त हुआ, और जवानने यह सब कुछ न सोचा और उस बालकने भी कुछ सोचा विचारी नही की, यो ही सीधे चल दिया। देखो पुरुषोमे अनेक प्रकारके पुरुष देखे जाते है, कोई छोटी उम्रसे ही विरक्त चित्त रहता है और उसके ज्ञानमे प्रवाह रहता है। उसका पूर्वसमय ऐसा ही गुजरा होगा जिसका संस्कार लगा है तो झट धार्मिक बात हो जाती है। तो ये जो नाना प्रकारके विचारोमे, विकारोमे, प्रयत्नोमे चल रहे है उसका निमित्त वही जीव नही किन्तु परसग है और वे पर पदार्थ है। वास्तविक निमित्त कर्म उपाधि है। देखो इसमे वस्तुकी स्वतंत्रता नही मिटी। इसके लिए निमित्त नैमित्तिक भावसे डरना यह ज्ञानकी दुर्बलता है। निमित्त नैमित्तिक भाव न मिट जाय इसके लिए वस्तुस्वातन्त्र्यका विरोध करना ज्ञानकी निर्बलता है कमजोरी है। दोनो ही बातें बराबर दिख रही है। तो जीवके विकारमे निमित्त परसग ही होता है। स्वय कभी निमित्त नही होता। तो ऐसा जानकर अपनेमे यह परखिये कि मैं तो स्वतः सहज ज्ञानमात्र ही हू। मेरेमे न कुछ अधूरापन है और न किसी अन्यका प्रवेश है। ऐसा यह मैं परमार्थ सत् आत्मतत्त्व हू। उसकी श्रद्धा करें तो गौरव बढेगा, आत्मबल बढ़ेगा, धीरता जगेगी, अधीरता खतम हो जायगी। परपरिणतिके लगावसे ज्ञान में कमजोरी आती है। परपदार्थका लगाव छोडने से ज्ञानमे बल बढ़ता है। तो बिल्कुल तो छोड नही सकते गृहस्थजन, तो जितना बने उतना छोड़ना तो चाहिए। एक यह बात है। जो रागी है वह कर्मसे बध जायगा, जो बिरागी है वह कर्मसे छूट जायगा। तो ऐसे इस विकारको मानो भार विपदा, विडम्बना और समझो कि ये नैमित्तिक भाव है। ये दूर हो जायेंगे। ये मेरे स्वरूपमे से प्रकट नही हुए। यह शिक्षा मिलती हे नैमित्तिकभावके शुद्ध परिचयमे।

—०—

(११)

(५१) परिणमनकी विधि—इस विश्वमें जहाँ जो कुछ काम हो रहा है वह काम किस प्रकार होता है, उसकी पद्धति इस निबन्धमे कही जायगी ? देखिये—कार्य दो प्रकारके होते हैं—एक तो होते है समान कार्य और एक होते हैं विषम कार्य। समान कार्य कहो,

स्वाभाविक विकास कहो। जैसे भगवान अरहंत प्रभुमे जो केवलज्ञान केवलदर्शन, अनन्त आनन्द आदिक विकास चल रहे हैं वे सब समान चल रहे हैं। और यहाँ देखो हम आपके जितने कार्य हैं, विकार है, विकास है वे सब विषम चल रहे हैं। कभी क्रोध, मान, माया, लोभ, शान्ति, कल्पना सुख दुःख आदिक कितनी ही तरहके बदल चलते हैं। तो अपने आपमे तक लीजिए। तो जो विकार है वे तो हुआ करते है विषम और जो स्वाभाविक विकास है वह होता है सम। तो स्वाभाविक विकास जब पहले क्षणमे उत्पन्न होता है उस समय स्व-भावकी रोक वाले निमित्तका अभाव निमित्त होता है। और उसके बाद अनन्त काल तक जो स्वभाव अपनी धारामे चल रहा है विकास उसमे कोई निमित्त नही होता। कालद्रव्य तो एक साधारण निमित्त है। उसका तो कही निषेध नही किया जा सकता। मगर सर्वसाधारण निमित्तभूत कालकी चर्चा नही होती, क्योकि वह साधारण है। तो स्वाभाविक विकासमे कोई बाह्य वस्तु निमित्त नही, किन्तु जितने विकार हैं, विषम परिणमन हैं ये अपने आपके निमित्तसे नही हुआ करते। तो फिर ? पर निमित्तका सन्निधान पाकर होते हैं। इसी विषय मे यह निरखना है कि वस्तुकी स्वतन्त्रता भी चल रही है और विकार कार्य निमित्तके सन्नि-धान बिना होते नही, यह आप सर्वत्र घटाते जायें। जैसे रोटी पकाया बनाया तो रोटी तो आटेसे बनती है, कही महिलाके हाथसे तो नही बन जाती। रोटीका उपादान तो आटा है, आटेमे ही उसका परिणमन चलता है। यह तो है एक वस्तुस्वातन्त्र्यकी बात। उस आटेके परिणमनको महिलाने नही किया, महिलाका प्रयत्न, हाथ पडा तो निमित्त है। लेकिन पसरी, सिकी तो वह तो अपने आपमे वही पसरी, सिकी। हाँ तो ऐसे ही यहां विचार करो कि जीवमे जो विकार उत्पन्न होते, रागद्वेष मोहभाव उत्पन्न होते हैं ना तो सुनो। ये विकार जीवपरिणतिसे हुए यह तो है परिणमनस्वातन्त्र्य, किन्तु निमित्त सन्निधान बिना विकार नही हो सकते यह है अनिवारित निमित्तनैमित्तिक भाव। विकार परिणमनके प्रसंगमे ये दोनो तथ्य अविरोध रूपसे एक साथ बने हुए हैं। सब जीवोमे क्या मतलब पडा है किसी दूसरी वस्तुसे मोह और लगाव लगानेसे। घरमे जो लडका है वह भी दूसरा जीव है। कहीसे आया है, अपनी उम्र तक रहेगा, उम्र समाप्त होनेपर चला जायगा। किसीसे कोई सम्बन्ध है क्या ? लेकिन दुनियाके लोग इस लगावके कारण कितना परेशान हैं। तो यह लगाव, यह विकार बनता किस तरह है ? अभी परसो बताया था कि इन विकारोके होनेमे खुद निमित्त नही होता। यदि विकारका निमित्त खुद बने तब तो फिर ये विकार कभी नही मिट सकते। उपादान भी खुद, निमित्त भी खुद, विकार फिर मिटे कैसे ? और कल यह बताया गया था कि विकार परसंग निमित्तपूर्वक हुआ करते है, स्व प्रत्ययक नही हैं। एक बात और समझो,

जो आगममें लिखा है—स्वाभाविक पर्याय तो होती है स्वप्रत्ययक और विकार होता है स्व-परप्रत्ययक। याने वहाँ है स्व उपादान और परपदार्थ निमित्त।

(६२) विकारपरिणमनकी विधि—कैसे विकार होता उसकी चर्चा चल रही है यहाँ जीवमे जो विकार होता, क्रोध विकार होता तो जीवमे स्वभाव तो नही है क्रोध करनेका। कषाय करनेका जीवमे स्वभाव नही होता। किसी भी पदार्थका स्वभाव विकार रूप नहीं होता। वह तो अपने आपमे है। देखो परनिमित्त बिना विकार नही होता और निमित्त विकार नही करता, इन दो बातोंको सही समझना है। पदार्थका क्या स्वरूप है यह समझनेके लिए चले तो क्या स्वरूप है? कोई कहता है कि अपने स्वरूपसे है, पररूपसे नही है, और अपने स्वरूपमे अनेक गहराइयाँ हैं। उत्तरोत्तर अन्तर्दृष्टिमे चले जायें तो निषेध होता चला जाता और अंतमे कोई ऐसी चित्ज्योतिकी बात आती कि जिसको लखकर कोई कह देता है कि वह कुछ नही है। और, कुछ है भी नही, मायने राग नही, द्वेष नही, विकार नही, कर्म नही, जो चिन्ह हैं, जो पकडे जाते वे आत्मामे कुछ नही हैं। तो क्या है आत्मा? यह बात बातोंसे नही बतायी जा सकती खुद अनुभव करके देखो जो जिनेन्द्र भगवान हुए उनकी भक्ति करते हुएमे अपने आपके ज्ञानस्वरूपमात्र आत्मतत्त्वका अनुभव हो जाय तो बस बेडा पार हो जायगा। संसार संकटोसे छुट्टी मिल जायगी। यही काम नही किया अब तक। भव-भवमे सब कुछ पाया, राज्य पाया, धनिक हुए, बडी आज्ञा की, बहुत बहुत बडी बातें हुईं, मगर आत्माका सत्य बोध नही हुआ जिससे यह जीव संसारमे अब तक रुलता रहा। उस आत्माका परिचय करें तो वह परिचय आपको अनुभवसे आयगा, बातोसे न आयगा। वैसे तो उत्तर देंगे कि कोई कहे कुछ है नही कोई कहे कुछ है, है और ना के बीचमे जो कुछ है सो है। स्वानुभव-गम्य है यह अतस्तत्त्व उसका उपाय कैसे बने? उसके लिए यह ही निर्णय कहा जा रहा है कि वस्तुस्वातन्त्र्य और निमित्तनैमित्तिक भाव जानो। हाँ तो निमित्त क्या कहलाता? वह पदार्थ जो उपादानसे अत्यन्त निराला है और जिसके असन्निधानमे कार्य नही होता। और उपादान क्या कहलाता कि जिसमे कार्य बन रहा, जो कार्यरूप परिणम रहा उसे कहते हैं उपादान। जैसे घडा बनता है तो मिट्टी तो उपादान है और कुम्हारका व्यापार निमित्त है, ऐसे ही जब जीवमें विकार होता है तो जीव तो उपादान है, उसमे विकार परिणमन है और कर्म प्रकृतिका उदय यह निमित्त है। तो यहाँ यह बात समझना है कि निमित्त उपादानमे कुछ नही करता, किन्तु उपादान ही अनुकूल निमित्तको पाकर अपनी ही कलासे, अपने ही बलसे, अपनी ही योग्यतासे विकाररूप परिणम जाता है।

(६३) विकारपरिणमनविधिका संक्षिप्त ब्योरा—एक मोटा दृष्टान्त यही आप ले

लो। हम बोल रहे है और आप लोग इसमे निमित्त हो रहे हैं। आपको हम सुना रहे हैं ना तो आप हमसे बुलवा रहे हैं क्या ? यही आप निरख लो, आप लोग हमको कुछ कर तो नही रहे। आप अपनी जगह बैठे हैं, हम स्वय अपना ही लक्ष्य बनाकर अपनी ही परिणति मे, अपने ही बलसे, अपनी ही कलासे हम अपने आप बोल रहे है। अब यही देख लो आप निमित्तने हममे कुछ नही किया, और आपका सन्निधान आया। ऐसा न होता तो हम बोलते भी नही। दोनो बातें एक साथ परखते जावो। अगर आप लोग यहाँ न होते तो अकेले ही तख्तपर बैठकर इस तरहसे हाथ हिला हिलाकर हम न बोलते, और यदि बोलते तो लोग समझते कि आज महाराज जी को न जाने क्या हो गया ? देखिये यह एक मोटा दृष्टान्त दे रहे हैं। यह अन्वयव्यतिरेकी निमित्तकी बात नही है। यह तो एक आश्रयभूतकी बात है। अब अन्वयव्यतिरेकी निमित्तकी सोचो। कर्मप्रकृतिका उदय कर्मपर अपने आपपर आता, क्योकि पहले उनकी स्थिति बँधी पडी थी। तो स्थिति पडी हो तो उदय अवश्य ही आयगा। उदय किसीकी कृपासे नही आता, वह तो अपने समयपर आता ही है। कोई कारण कलाप मिल जाय। आत्माके निर्मल भाव बने अथवा आत्माके संक्लेश भाव बनें तो कर्मकी उदीरणा भी हो सकती है। उदय अपने आप आता है। जैसे एक कलईका डला ले लो वह अभी दो दिन पहले बनाया गया, मान लो उसकी म्याद ६ माहकी है। ६ माहके बाद वह टिक नही सकता, बेकार्म हो जायगा, मगर उसपर कोई अभी दो दिन बाद ही पानी डाल दे तो वह कलईका डला तो बीचमे ही उबल जायगा ना ? तो ऐसे ही समझो कि आत्माके परिणामो का निमित्त पाकर कर्मोंमे उदीरणा होती है। देखो निमित्तनैमित्तिक भाव दोनोकी ओरसे है। आत्माके विशुद्ध भावका निमित्त पाकर कर्मोंमे सम्वर निर्जरा होती है। कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर जीवमे विकार होता है। तो हुआ यह सब ठाठ मगर निमित्तने उपादानमे कोई परिणति नही की। यह अबाधित नियम है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमे त्रिकाल परिणमन नही कर सकता और यह अपने ६ साधारण गुणोमे ही आ गया। अगुरुलघुत्व गुण किसे कहते हैं ? स्वयके प्रतापसे द्रव्य अपने स्वरूपमे परिणमे, पररूपमे न परिणमे, यहासे ही ब्रेक हो गया। यहाँसे ही जान लिया गया। तो निमित्त उपादानमे कुछ नही करता, मगर जितने विकार होते है वे निमित्त बिना नही होते और उनका निर्माण ही इसी प्रकार है। विधान ही यह है।

(६४) वस्तुस्वातन्त्र्य और निमित्तनैमित्तिक भाव इन दोनोंके परिचयसे प्राप्त शिक्षा— अब यहा यह देखिये कि इन दोनो ही निर्णयोसे याने वस्तुस्वातंत्र्य है और निमित्तनैमित्तिक भाव है इस निर्णयसे मोक्षमार्गके लिए क्या प्रेरणा मिलती है ? यह बात बतावेंगे। तो अभी

यह बात आयी कि निमित्त उपादानमे कुछ नही करता, क्योकि निमित्तका उपादानमे अत्यन्ताभाव है। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमे त्रिकाल अभाव है अर्थात् कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यरूप बन ही नही सकता और कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यमे न अपना कोई उत्पाद करता, न व्यय करता। निमित्त अपनेमे काम करता हुआ ठहर रहा, उपादान अपनेमे परिणमता हुआ रह रहा। जैसे कुम्हार मिट्टीका घडा बना रहा तो कुम्हार क्या कर रहा कुम्हार यह कर रहा जरा तुम किसी मिट्टीको न देखो, केवल हाथ हाथको देखो तो जैसे जैसे हाथ चला रहा, बस वह कर रहा, उसका सन्निधान पाकर मिट्टी अपने आपमे पसर रही है, बन रही है। तो प्रत्येक द्रव्यका काम उसका अपने आपमे होता है। अन्य द्रव्य तो निमित्तमात्र है। तो निमित्त बिना विकार नही होता यह बात यहाँ ध्यानमे लानेकी है। तो ऐसा है यद्यपि तो भी विकार परिणमन निमित्तके सन्निधान बिना नही होता। उदाहरण तो दे कोई कि कोई भी विकार परसंग पाये बिना हो गया हो। परसग पाये बिना विकार नही होता इतने पर भी परने इसमे विकार उत्पन्न नही किया। देखिये कितना तथ्य भरा हुआ है कि निमित्त नैमित्तिक भाव होते हुए भी निमित्तने उपादानमे कुछ नही किया और निमित्त उपादानमे कुछ नही करता, फिर भी विकार निमित्तसन्निधान बिना नही होता। दोनो तथ्य एक साथ दिखते है ज्ञानी जीवको। स्वातन्त्र्य भी पदार्थमे बिराज रहा है और निमित्त नैमित्तिक भाव भी यह सब दिख रहा है। रोज रोज प्रयोग तो करते है और वस्तु-स्वातन्त्र्य भी बोलते है। अगर हाथ रोटी बना दे तब तो बडा सस्ता काम हो जायगा। फिर तो आटेकी कुछ जरूरत ही न रही, बस बहूके हाथ ही रोटी बना देंगे। तो ऐसा हो सकेगा क्या? निमित्त उपादानमे कुछ नही करता, फिर भी विकार निमित्त सन्निधान बिना कभी नही होता, क्योकि निमित्त योग बिना तो उपादान अगर परिणमेगा तो स्वयंमे स्वभावरूप बनेगा, विकार रूप न बनेगा। ये दोनो बातें वस्तुमे तथ्यभूत है। अब यहाँ यह परखना है कि हमने जान लिया कि वस्तुस्वातन्त्र्य है और निमित्त नैमित्तिक भाव है। अब इन दोनोके जाननेसे हमको लाभ क्या मिला? शिक्षा क्या मिली? देखो जब यह जाना वस्तुस्वातन्त्र्यमे विकाररूप परिणमता हुए मुझे कर्म विकाररूप नही बनाता तो एक शूरता प्रकट होती है। अगर यह श्रद्धा बन जाय कि कर्म मुझमे विकार करने तो फिर इस तरहसे तो एक कायरता आयगी। अरे मैं क्या करूँ, कर्म ही सब कुछ कराते है। मेरा तो कुछ वश ही नही। मैं तो कुछ कर ही नही सकता। सब काम कर्मके आधीन है, इस तरहसे तो वहाँ कायरता है, और जहाँ जाना कि कर्म मुझे कुछ नही कराते। मैं अपने आपमे परिणमता हूं, हाँ निमित्त को पाकर परिणमता, लेकिन निमित्त नही परिणमाता, मैं स्वय परिणमता हूं। तो एक

शूरताका भाव आया कि मैं अपने को संभालू तो यह कर्मबन्धन तो तड़ तड टूट जायगा। एक शौर्य प्रकट होता है। और देखो निमित्त नैमित्तिक भावके परिचयसे स्वभावदर्शनमे बडी सुगमता मिलती है। कैसे मेरेमे विकार हुआ। यह विकार नैमित्तिक है। मेरा स्वरूप नही है। निमित्त पाकर हुआ है। मेरे गांठकी चीज नही है। मैं तो स्वभावरूप हू, चैतन्यमात्र हू, ऐसा यहां बोध जगे तो निमित्त नैमित्तिक भावके परिचयसे स्वभावदर्शनमे सुविधा मिलती है। ये दोनो ही तथ्य हैं और दोनो ही तथ्योंके परिचयसे हमे यहां मोक्षमार्गमे मदद मिलती है।

—०—

(१२)

(६५) **वस्तुस्वातंत्र्य और निमित्तनैमित्तिक भाव हुए बिना दृश्यमान लोकके अस्तित्व मिटनेका प्रसंग**—वस्तुस्वातत्र्य और निमित्तनैमित्तिक भाव ये दो बातें कह रहे हैं, ध्यान से सुना होगा। प्रत्येक वस्तु अपनी परिणतिसे ही परिणमती चली जाती है, दूसरा नही परिणमाता, यह तो है वस्तुस्वातत्र्य और विकार जितने होते हैं वे निमित्त योग बिना नही हो सकते, यह है निमित्तनैमित्तिक भाव। तो देखो दोनो ही बातें एक वस्तुमे अविरोधरूपसे रहती हैं। ऐसा नही है कि निमित्तनैमित्तिक भाव है तो वस्तुस्वातत्र्य न जगेगा और वस्तुस्वातत्र्य है तो निमित्तनैमित्तिक भाव न जगेगा, ऐसा नही है। तो ये दोनो बातें एक वस्तुमे अविरोध रूपसे रहती है, क्योकि दोनोकी सत्ता अलग अलग है, निमित्तका अस्तित्व उसमे है, उपादानका अस्तित्व उसमे है। जैसे कुम्हारका अस्तित्व कुम्हारमे है और मिट्टीका अस्तित्व मिट्टीमे है और देखो अपना अपना काम कर रहे हैं तिसपर भी सम्बन्ध दिख तो रहा है, कुम्हार मायने हस्तादिककी क्रियायें कर रहा और घडा बन रहा। तो दोनो बातें एक जगह रह सकती हैं, उसमे किसी प्रकारका विरोध नही है। सब सत् न्यारे-न्यारे हैं, सबका अपने अपनेमे उत्पाद व्यय होता है इसलिए वस्तुस्वातत्र्यका किला अभेद्य है, त्रिकाल औपाधिक है। वस्तुस्वरूप, अणु अणु प्रत्येक पदार्थ परिणमेगा तो अपने स्वरूपमे परिणमेगा, जैसे दर्पण के आगे कितने ही कागज लगा दें पर परिणमेगा तो वह दर्पण ही का प्रतिबिम्बरूप। कागज तो न परिणम जायगा। तो वस्तुकी स्वतंत्रता अभेद्य है। अगर वस्तुस्वातंत्र्य न होता तो जगतमे आज पदार्थोंकी सत्ता न रहती, सब शून्य हो जाता, क्योकि एकने परिणमा दिया दूसरेको दूसरेने परिणमा दिया इसको क्या रहा? न वह रहा न यह रहा, सारा जगत शून्य

हो जाता। तो वस्तु स्वयं तो एक अभेद्य जैसा है। विकाररूप परिणमन किसी भी पदार्थका स्वभाव नही है। देखो दृष्टान्त तो बहुत दिए जाते हैं [मगर इसके लिए बाहरी कोई दृष्टान्त नही मिल सकता। कहते है कि अग्निका सन्निधान पाकर जल अपने स्वभावको छोडकर गर्म बन गया, पर यह तो बताओ कि जलका स्वभाव क्या ठंडा है? कहते तो हैं दृष्टान्तमे, मगर जब तत्त्वकी बात देखा तो जलका स्वभाव ठंडा नही, जलका स्वभाव गर्म नही। ठडा भी निमित्त योग पाकर होता है, गर्म भी निमित्त योग पाकर होता है। जलका स्वभाव तो द्रवत्व है, मायने कहना, ऐसा शील होना और देखो जल कोई द्रव्य नही है तभी तो जलका यह द्रवत्व सदा कहाँ रहता? तो पदार्थ नही है जल जो उसमे कोई बात घाली जाय। दृष्टान्त जब जब दिया जाता है तो दृष्टान्त एक देश होता है। द्रव्य तो पुद्गल अणु है और पुद्गल अणुका जो स्वभाव है वह स्वभाव है और उसके विपरीत जो भाव है वह विकार है। तो किसी भी वस्तुमे मेरा स्वभाव मेरे विकारके लिए नही हुआ करता। तो कोई भी पदार्थ, कोई भी सत् अपने आपकी ओरसे विकाररूप परिणमता नही है। खुद खुदके विकार का निमित्त नही होता। तब होता क्या है कि जब परउपाधिका सग मिलता उस समय उपादान अपनी योग्यतानुसार अपनेमे अपना विकार परिणमन कर लेता।

(६६) **अन्वयव्यतिरेकी कर्मदशा निमित्तके अनुरूप भाववर्तनका चित्रण**—देखो एक दृष्टान्त है। कोई एक वेश्या मरी और उसे लोग जलानेके लिए ले जा रहे थे तो मुनि महाराजने देखा तो उनका तो यह भाव हुआ कि ऐसा दुर्लभ मानव जीवन पाया और इसने इसे व्यर्थ ही खो दिया। और कोई कामी पुरुष जिसका उससे परिचय था उसका यह भाव हुआ कि यह यदि दो चार माह और जीवित रहती तो हम उसके साथ कल्लोल ही करते, और वहाँ कुत्ता श्रृगाल वगैरहके ये भाव हुए कि यदि ये लोग इसे जलाते नही, यो ही छोड जाते तो हमारा कई दिनोका भोजन बनता। अब देखो वेश्याका शरीर तो एक है। यदि किसी भावका निमित्त होवे तो सबके एक समान भाव बनना चाहिए था। मुनिके भावोमे और कामी पुरुषके भावोमे ऐसा फर्क क्यो? तो यह बाहरी जो शरीर है यह निमित्त नही कहलाता। निमित्तके अनुरूप काम जरूर हो रहे है। मुनि महाराजके अनन्तानुबधी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण आदि १२ कषायोका अनुदय है इसलिए उनका ऐसा शुद्ध परिणाम रहा। तो उस वेश्याके मृतक शरीरको देखकर अपनी योग्यताके अनुरूप भाव बनाया मुनिराजने, और कामी पुरुषके इन कषायोका उदय है—पुरुषवेद, स्त्रीवेद आदिक वेदोका तीव्र वेग है तो उस निमित्तके अनुरूप उसके वे भाव बन गए, ऐसे ही कुत्ता, श्रृगाल आदिक के क्षुधा तृषा वेदना आदिकका उदय है तो उनके वैसे भाव बन गए। तो ये बाहरी

निमित्त नही कहलाते, इनको तो हम जिस प्रकार ढालें उस प्रकार ढल जायेंगे। जैसा विचार करेंगे उस प्रकारका विचार बन जायगा। तो यह बात कही गई है कि निमित्त उपादानमे कुछ नही करता, फिर भी जितने विकार होते है वे निमित्त पाये बिना नही होते। तो देखिये पर उपाधिके सगके समय यह उपादान अपनी योग्यतासे अपनी परिणतिसे अपनी परिणमन शक्तिसे अपनेमे विकार उत्पन्न करता है। यो विकार परिणमनमे निमित्त नैमित्तिक भाव है, इसका कोई निषेध नही कर सकता। और इतना होने पर भी वस्तुस्वातत्र्य है ही, इसका भी कोई निषेध नही कर सकता। ऐसे दोनो तथ्योको जो ज्ञानी पुरुष देखता है वह दोनोसे मिलने वाली शिक्षाके द्वारा हितरूप प्रयोग करता हुआ अपने आपमे उतर जाता है।

—०—

(१३)

(६६) **परिणमनकी नियतता व अनियतताकी समस्या**—विश्वमे जो कुछ हो रहा है, जो भी परिणमन है वह सब परिणमन एक नियत है अथवा अनियत, इस ही को कहो क्रमबद्ध होता है, उस ही क्रमसे होता है या अक्रम, इस प्रश्नका समाधान इस निबधमे चलेगा देखो पहले एक मोटी दृष्टि दो। एक लोकव्यवहारके लिए सामान्यतया तो क्रम बना हुआ है और विशेषतया क्रम नही बना। जैसे उत्सर्पिणी काल अवसर्पिणी काल ये क्रमसे चलते है ना ? पहले कालके बाद दूसरा, तीसरा, चौथा, ५ वाँ, छठा, फिर छठा, ५ वाँ, चौथा, तीसरा, दूसरा, पहला। यह एक साधारण बात कह रहे हैं और उसके अन्तर्गत कुछ क्रम नही दिखता है। जैसे बीच १२-१२ वर्षका युग होता है तो अब १२ वर्षमे घट गया फिर बढ गया। भले ही इस चतुर्थकालमे जो बीत रहा था ऋषभदेव भगवान हुए उसके बहुत बाद काल तक धर्मप्रवृत्तिका साधन न रहा, बादमे अजितनाथ भगवान हुए। तो ऐसी एक लौकिकी नीतिके अनुसार ऐसी घटना देखी जाती हैं। लेकिन यहाँ लौकिकी ढगकी बात नही विचारना है। एक तात्विक चर्चा है कि ये पर्यायें सब इस ही क्रमसे नियत हैं। अथवा अनियत इस विषयमे दो बातें पहले मुख्य समझना है। नियत होने की बात ज्ञानसे समझी जाती है या साधनसे समझी जाती है। सर्वप्रथम दो बातो पर विचार करना है। नियत होनेकी बात ज्ञानद्वारा समझी जाती है, साधन द्वारा नही समझी जाती। यद्यपि साधनमे यह निर्णय पड़ा है कि कौनसे साधन किस प्रकारके कार्यके निमित्त होते हैं। और जिसका

उपयोग आप प्रतिदिन करते है जैसे रसोईमे आग साधन है, उससे रोटियाँ सिक जाती है तो वहाँ एक निर्णयरूप नियतपना है कालक्रम वाले नियतकी बात नही है। एक होता है निर्णयरूप नियत और एक होता है ज्ञानद्वारा नियत और एक विचारणीय है उपचरित होगा साधन द्वारा नियत। कालक्रममे नियत तो देखो निर्णयरूप नियत भी सम्भव है और ज्ञानद्वारा नियत भी सम्भव है, पर उत्पत्तिके माध्यमसे साधनके विधानसे नियत है अथवा अनियत, केवल यहाँ विसम्वाद रहता है। जैसा चाहे नियत हो चाहे अनियत जो कुछ भी होगा ज्ञानस्वभावके कारण प्रभुने जान लिया, अब जाननेकी ओरसे नियत है, पर जाननेकी ओरसे नियतका निर्णय एक निर्णय नही कहलाता कार्यके लिए।

(६८) ज्ञापक हेतुसे कार्यविधानका निर्णय न होकर कारक हेतुसे ही कार्यविधानकी संभवताके प्रदर्शनमे स्वभावपर्यायोकी नियतताकी सिद्धि—कार्यके हेतु दो प्रकारके होते है—एक कारक दूसरा ज्ञापक। ज्ञापक कार्यका कारण नही होता। किन्तु ज्ञापकका कार्य विषय होता है। कारकमे कार्यका कारण देखा जाता है। ज्ञापक कारण हेतु नही कहलाता, किन्तु ज्ञान कराने वाला कहलाता है। जान लिया, जो भी जान लिया, जिसे भी जान लिया, जाननेसे वहाँ कार्यका निर्णय नही, क्योकि जानना कार्यका हेतु नही है, बल्कि कार्यका कार्य है जानना उपचारसे। अर्थात् जैसा होगा, जो कुछ होगा उसे विषयभूत करके ज्ञानकी उत्पत्ति हुई है, ज्ञानमे वह विषय बना है तो अब समझना है उत्पत्ति द्वारा कि ये पदार्थ इस क्रममे नियत है अथवा नही। ज्ञानद्वारा नही, उसका तो फैसला अभी हो गया। जो कुछ होगा, जैसा जो कुछ है ज्ञानद्वारा ज्ञात हो गया तो ज्ञानकी ओरसे अब नियत कह लो, मगर नियतपनेकी बात कारणमे लगाना चाहिए, ज्ञान तो ज्ञापक कहलाता है। अब जब कारणकी ओर चलते हैं तो विश्लेषण करके चलो। कार्य कहलाये दो प्रकारके एक स्वभावकार्य और एक विभावकार्य। स्वभावकार्य स्वप्रत्ययक होता है, विभावकार्य स्वपरप्रत्ययक होता है। जैसे प्रभुका केवलज्ञान परिणमन, स्वभाव परिणमन, वह सब स्वप्रत्ययक है। केवल निजके कारणसे है। उसमे कोई परपदार्थ निमित्त नही है। कालद्रव्यकी चर्चा यो नही की जाती कि वह सर्वसाधारण निमित्त है। कही निमित्त हो, कही निमित्त न हो ऐसी बात कालद्रव्यमे नही है, इसलिए उसके निर्णयकी आवश्यकता नही। तो जितने भी स्वभाव परिणमन है वे सब स्वप्रत्ययक होते है। खुद हीके कारणसे होते हैं। जैसे सिद्ध भगवान, उनमे अनन्त आनन्द आ रहा है। तो वह अनन्त आनन्द क्या किसी परपदार्थका निमित्त पाकर आ रहा या किसी परका आश्रय करके आ रहा? वह तो स्वके आश्रयमे ही उत्पन्न होता है इसलिए उस आनन्दमे यह निर्णय पड़ा है कि आनन्दके बाद आनन्द, ऐसा ही परिणमन अनन्त काल तक चलता

रहेगा। तो स्वभाव पर्याय नियमसे नियत ही है। दूसरी बात आ ही नही सकती।

(६६) **विभावपर्यायोकी विधानानुसारिता होनेसे अनियतताकी सिद्धि**—अब विभाव पर्यायकी बात देखो, उत्पत्तिके द्वारसे द्रव्यमे स्वभावत विकार नही है। और, कोई भी द्रव्य अपने विकारमे खुद निमित्त होता नही। यह बात कुन्दकुन्द देवकी गाथासे बिल्कुल स्पष्ट है। उसमे उदाहरण दिया है कि जैसे स्फटिक मणि अथवा कांच परिणमन करनेका स्वभाव तो रखता है मगर स्वयके विकार करनेका वह निमित्त नही बनता। क्या दर्पण स्वयके नाना प्रतिबिम्बोका निमित्त हो जायगा ? तो स्वय विकारका निमित्त न होनेसे स्फटिक मणि स्वय रागादिक रूपसे नही परिणमता। ये ही शब्द हैं ठीक श्री कुन्दकुन्द देवके और अमृतचन्द्र सूरिके। तब फिर होता क्या है कि इस दर्पणमे रागादिकके निमित्तभूत जो कोई परद्रव्य कपड़ा आदिक जो कि स्वय राग अवस्थाको प्राप्त है और वह दर्पण कांचके लालप्रतिबिम्बका निमित्त भूत है, तो उसके द्वारा यह रागादिक रूपसे परिणम जाता है। इसका अर्थ यह समझना कि निमित्तका सान्निधान पाकर यह दर्पण अपने आप विकाररूप परिणम जाता है, तो बात यह आयी ना कि द्रव्यमे हमेशा एक पर्याय होती है, आगे क्या पर्याय हो विकार रूपकी तो जैसा निमित्त सन्निधान पाये उस अनुरूप अपनी योग्यताके कारण विकाररूप परिणमता है। देखो उत्पत्तिनयकी अपेक्षा बात चल रही है, उस बीचमे यह प्रश्न नही उठाया जा सकता तो क्या और प्रकारका निमित्त होगा ? सर्वज्ञने या ज्ञानीने देखा, उससे विपरीत होगा क्या ? इस प्रश्नका वहा अवकाश न रखना, नही तो आप उत्पत्तिनयका जौहर नही समझ सकते। जब उत्पत्तिनयसे वर्णन चलता है तब आप ज्ञान सर्वज्ञ ये सब ख्याल छोड दीजिए। तब आप विधानकी दृष्टिका निर्णय पा सकेंगे। जब जिस नयसे वर्णन होता है तब उस नयसे उस वर्णनको समझना चाहिए। तो उत्पत्तिनयकी अपेक्षासे जैसा विधान होता है उसके अनुरूप अपनी योग्यतासे उपादानमे परिणमन चलता है। इसी बातको स्पष्ट किया है कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथामे कि जो बात जिस जिस देशमे जिस कालमे जिस विधानसे होता हुआ जाना गया है वह इस प्रकार होता। यहां और तो बात सब एकदम सीधी समझ लेवें, पर 'जेण विहाणेण' जिस विधानसे इतने शब्दका इतना मर्म है वह उत्पत्तिनयका समर्थन करता है। सो यहां जानना कि ये पदार्थ ज्ञानकी ओरसे, ज्ञापकताकी ओरसे नियत हैं। जिस प्रकार होता है सो होता है और विधानकी ओरसे पदार्थ अनियत है। यदि विकार द्रव्यमे अपनी सामर्थ्य से नियत है तो उनको हटाने वाला कौन होगा ? और जब जीवके निमित्त सन्निधान पाकर ये विकार होते है तो वे हटाये जा सकते हैं। देखो बात कितनी सीधी है, प्रेक्टिकल करके देख लो। एक दर्पण सामने रख लीजिए और हाथकी अगुलियां जब चाहे सामने लावो तब

चाहे हटा दो तो आप यह परखेंगे कि हाथका सम्बंध पाकर इस दर्पणमे प्रतिबिम्ब हु
दर्पणमे प्रतिबिम्ब नियत नही है, किन्तु दर्पणमें ऐसी योग्यता है कि जैसा निमित्त सन्नि
पाये, अपनेमे विकारपरिणमन खुद अपनी शक्तिसे कर ले।

(७०) **निमित्तनैमित्तिक भाव न माननेपर सत्कार्यवादका प्रसंग**—देखो एक द
दर्शन है सत्कार्यवाद। यह अन्य दर्शनकी बात कह रहे हैं। सत्कार्यवादका अर्थ यह है
भविष्यमे जितने भी कार्य है वे सब पदार्थोंमे भरे पड़े हुए है, उनकी व्यक्ति क्रमसे हुआ क
है। कार्यकी उत्पत्ति नही होती, किन्तु व्यक्ति होती है। ऐसा सत्कार्यवादका सिद्धा
और उसकी दलीलें भी हैं। असत् क्यो नही उत्पन्न होता ? और की और पर्याय क्यो
हो जाती, आदिक युक्तियोसे सिद्ध करते हैं कि पदार्थोंमे कार्य सब भरे पडे हुए है और उ
व्यक्ति होती है। तो दृष्टान्तमे देते हैं कि जैसे बरगदके फलका एक बीज होता है उस
मे क्या क्या भरा पडा है ? सैकडो पेड भरे पड़े है उतनेसे बीजमे, करोडो फल भरे है।
जब उसका एक योग होता है, बो दिया, पेड बन गया तो यह अभिव्यक्ति कहलाती
उनके करने वाला कोई नहीं, किन्तु कार्य उनमे भरे पडे हैं और उनमे व्यक्त हो जाते हैं।
ऐसे सत्कार्यवादकी बात जैनसिद्धान्तमें नही है। यह चूकि विशिष्ट ज्ञानियोके ज्ञानमे आ
उस ओरसे तो कहेगे नियत, परन्तु उत्पत्तिका जो विधान है उस विधानसे देखे तो है अ
यत। स्याद्वादका प्रयोग करें, कही भी विसम्वाद नही होता। ऐसे ही समझ लो कि कुम्
घडा बना रहा तो कहते हैं ना ऐसा कि कुम्हार जिस प्रकारका हाथका व्यापार करेगा
प्रकारसे वहाँ दिया बने, करवा बने, मटका बने। ये पर्यायें बनती हैं, अब उसमे यह प्र
न लाना चाहिए—तो क्या प्रभुने जो कुछ देखा, यह नही देखा ? यह विषय दूसरा है। f
विषयसे जैसी जो बात होती रहेगी उसको जान लिया विशेष ज्ञानीने, पर विशेष ज्ञानीने ज
लिया इस कारण वहाँ उस तरह होता है। यह बात नही है, किन्तु जैसा यहाँ उपादान
मित्त अनुकूल साधन मिलता है उन विधियोके अनुसार होता है। और इस प्रकार होते
को विशेष ज्ञानीने जान लिया, यह है वहाँ तथ्य। अब जान लियेकी ओरसे हम वहाँ
निरखनेपर हावी हो जायें तो वहाँ उत्पत्तिनयका हमने निरास कर दिया समझिये। वि
ऐसा होता नही।

(७१) **परिणमनोंकी नियतता व अनियतताका निर्णय**—भैया ! यहाँ यह निर
रखना। स्वभावपर्याय सब ज्ञप्तिनय और उत्पत्तिनय दोनोसे नियत है, क्योकि वह स्वप्र
यक है और विभाव परिणमन ज्ञप्तिनयकी दृष्टिसे नियत है और उत्पत्तिनयकी दृष्टिसे अनि
है। जो अनियत है वह हटाया जा सकता है और जो स्वकी ओरसे नियत है वह नही हट

जा सकता। इस तरह हमको ऐसे निर्णयसे स्वभावदर्शनका सहयोग मिलता है। जैसे—जो जो देखी वीतरागने सो सो हो सी वीरा रे। जब हम यह निश्चय बनाते है तब हम वहाँ क्यो विकल्प करें ? ऐसा ही होनेको है, ऐसा ही देखा है वही होता है, उस ओरसे ज्ञान करने से यहाँ धीरता उत्पन्न होती है और यदि एक निश्चयके साथ ज्ञान कर रहा है तो वहाँ उसको विकल्प हटानेका प्रसंग भी होता है मगर श्रद्धा नही है इस प्रकार धर्मके कामोमे तो कह देंगे कि जब मोक्ष होगा तब ही होगा और घरके दूकानके कामके लिए यह बात नही सोच सकते कि जितनी आय होनी होगी सो होगी, फिर कमाई करनेमे जल्दी क्यों मचाते ? पूरा स्वाध्याय और पूजा करके क्यो नही अपनी सच्ची कमाईका काम किया जाता ? तो बतलाओ यह कोई श्रद्धा है कि विडम्बना ? दूसरी बात यह है ज्ञानकी ओरसे समझ बननेकी शिक्षा। अब यहाँ उत्पत्तिनयसे देखा कि देखो पदार्थ जिस योग्यतामे है वह पदार्थ जैसा निमित्त होगा उसके अनुरूप पर्याय पाता है, चाहे निमित्त जुटाकर पाया जाये, चाहे सहज पाये, इस ओरसे पाये या उस ओरसे पाये। सन्निधानसे मतलब है—जैसा सन्निधान पायें उसके अनुरूप यह उपादान अपनेमे विकार परिणमन कर लेता है। तो ऐसेमे क्या शिक्षा मिलती है कि ओह ये विकार मेरी गाँठकी चीज नही हैं जो हटाये नही जा सकते। विकार तो मेरे स्वरूप नही हैं। ये तो इस तरह हुआ करते है। तो हम अपना उपयोग सहज ज्ञानस्वभावमे लगायें ना तो यह बात बनेगी ही नही।

(७२) **अन्य विकल्पोको छोड़कर स्वभावके दर्शनका उद्यम करनेका अनुरोध**—द्रव्यार्थिकनयसे जो निर्णय है उसका उपयोग उस नयके अनुसार किया जायगा। तो यो प्रयोजन उसका स्वभावदर्शनका है। जैसे बने स्वभावके निरखनेकी दृष्टि जगे, मैं ज्ञानमात्र हू, चैतन्यस्वरूप हू, इस प्रकारकी भावना दृढ बने उसका कल्याण है। कल्याणके लिए ज्यादह पढने लिखनेकी जरूरत नही होती। यह तो उसकी संस्कृतिपर निर्भर है। दृष्टि जगी कि मैं केवल ज्ञान ज्ञानस्वरूप ही हू। मैं अन्य रूप नही हू। यही मेरा सर्वस्व है, यही मेरी क्रिया है, यही मेरी अनुभूति है, यही मेरा भोग है। ज्ञानको छोड़कर मेरा और कुछ प्रसग नही, मेरा और कुछ स्वरूप नही, ज्ञान ज्ञानमात्र ही मैं हू, ज्ञानज्योति प्रतिभासस्वरूप, जो कि जीव का एक स्वभाव भाव है, एतावन्मात्र मैं हू, ऐसा कोई दृढताका निर्णय करके रह जाय तो कल्याणका सदेह नही है। अवश्य कल्याण होगा, पर देखो कैसा मोहने इसको लपेट लिया है कि यह एक मिनटको भी भूल नही सकता कि मेरा घर, मेरा लडका, इनमे से कुछ भी एक मिनटको भी भूलना नही चाहता अगर दूसरी तरफ उपयोग लगा है तो सस्कारमे तो यह ही बसा हुआ है। भला बतलाओ इतने उपद्रव परिग्रहका लगाव अपने उपयोगमे लादकर पूरा

क्या पडेगा ? मरण तो होगा ही, फिर यहाँकी कवायत, यहाँका ही विकल्प, यहाँकी ही यह विडम्बना, विपदा, यह कुछ साथ देगी क्या ? साथ न देगी, किन्तु जो कुछ कमा डाला यह पाप उस पापका फल आगे आयगा। यहाँ तो एक स्वच्छन्दता सी मिली, मेरा ही तो घर है, मेरेमे बल है, मेरेमे बुद्धि है, धन दौलत वगैरह सब कुछ मेरे पास खूब है। यो एक बडी स्वच्छन्दता सी मान ली है मगर शुद्धस्वरूप देखो, "वस्तुस्वरूप ही नही कि परसे कुछ मिले खुदगर्ज भी किसको कहे, सब सत्वके भले।" यहाँ कोई किसीका सहाय नही है। भले ही बहुत अनुराग हो, प्रेम हो, श्रीराम और लक्ष्मणका तो बडा ही घनिष्ट प्रेम था, पर श्रीराम लक्ष्मणको बचा सके क्या या लक्ष्मण श्रीरामको बचा सके क्या ? और दोनो ही जगलमे रहे, दोनोंने क्लेश भोगा दोनोने कुछ भी किया मगर किया सबने अपने-अपने भाव और परिणामके अनुसार। कोई किसीका मददगार नही।

(७३) उपाधियोसे विविक्त चैतन्यस्वरूपमात्र अनुभवनेकी उमंग—भैया ! इस शरीरका भी ध्यान छोडो, यह तो कलक है, यह तो कीचड है यह तो सारे दुःखोकी जड है। भूख प्यास आदिक वेदनायें लगें तो इस शरीरके कारण लगें। शरीरको उर्दूमे बदमाश बोलते है और शरीफ बोलते हैं। पर यह शरीर शरीफ (सज्जन) तो है नही, जो यह बडल लगा है, जहाँ जायगा वहाँ यह बडल साथ जायगा। जैसे यही बुन्देलखण्डमे कही कही की महिलायें अपने शरीरमे इस तरहसे चद्दर ओढकर चलती है कि जिससे देखनेमे ऐसा लगता कि कोई बहुत बडी चीज अपने शरीरमे लपेटकर जा रही हो। अच्छा यह तो उनकी बात है मगर यह शरीर जीवपर ऐसा ही लिपटा लिपटा फिर रहा है, इस पर कुछ वश नही चलता कि इस शरीरको तो यही पडा रहने दे और आत्माराम इस शरीरसे निकलकर मदिर से दर्शन कर आवें। एक ऐसा ही बन्धन है इस वक्तमे कि शरीरके साथ आप जायेंगे और आपके साथ यह शरीर जायगा। कितना कठिन बन्धन है, कितनी बडी विपदा है। यह हर्ष (मौज) माननेका समय नही है। यह तो इतनी बडी विडम्बना हम आप पर लदी है और इस विडम्बनाको दूर करनेका हम इस कालमे कोई पौरुष न बनायें तो इसका फल तो ससार मे रुलना ही होगा। शरीर मैं नही, कषायें मैं नही। देखो धन जोडना सरल है, घर भरना सरल है, पर कषायोकी पकड छोडना सरल नही है। और कहते हैं लोग कि मैं घर छोड़ दूँगा, मैं सब त्याग दूँगा, पर मैं इसको मजा चखाकर ही रहूगा। कषायकी पकड कितनी कठिन होती है ? किसीको कोई बात बोल आये और थोडी देरमे वह बात असत्य मालूम पडी तो चूँकि हम चार आदमियोमे बोल गए थे इसलिए अब उसको लौटा नहीं सकते यह क्या है ? यह है कषायकी पकड। तो आप देखो कि परिग्रह तो बाहरी चीजोका न

नही, किन्तु वास्तविक परिग्रह है कषाय। इसे कहते हैं आभ्यतर परिग्रह। इस कषाय परिग्रहका त्याग हो तो मोक्षमार्ग मिले। आगे बढें। इन कषायोके छोडनेमे क्यो सकोच होता है? अरे जगतमे जो कुछ दिखता है वह सब अप्रयोजन है, मायारूप है। अपने आपके स्वरूपकी संभाल तो करें। खुद खुदमे खुदको शरण है। यहाँके विकारके हटावो और अपने आपके स्वभावकी दृष्टि बनाओ।

—०—

(१४)

(७४) **निश्चय व्यवहारके पूर्वापरवर्तित्वके सम्बन्धमे चार समस्यायें**—एक प्रश्न लोगोके सामने रहने लगा है कि व्यवहार निश्चयसे पहले होता है या निश्चयके बाद होता है। अब जरा ध्यानसे सुनो इस प्रश्नको जरा और विस्तारसे बढाओ यह प्रश्न चार रूपोंमे रखकर सुनो। निश्चयके पहले व्यवहार है क्या? निश्चयकी अनुभूतिके समय व्यवहार है क्या? निश्चयके साथ व्यवहार है क्या, या निश्चयके बाद व्यवहार है क्या? ये चार प्रश्न रखिये—अब पहले प्रश्नका मतलब सुनो— निश्चय नाम किसका है जो अन्तरगमे मूल शुद्धि हो उसे यहाँ निश्चयमे रखिये और व्यवहार नाम किसका है कि जो प्रवृत्ति हो वह है व्यवहार। तो यहाँ ४ प्रश्न ये आये है कि क्या निश्चयके पहले व्यवहार हो सकता है या निश्चय की अनुभूतिके समय व्यवहार होता है या निश्चयके साथ व्यवहार होता है या निश्चयके बाद व्यवहार होता है। इन चार प्रश्नोको और स्पष्ट समझें। निश्चयमे रख लीजिए सम्यक्त्व, निश्चयसम्यक्त्व सम्यक्त्वघातक। ७ प्रकृतियोके उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे जो आत्मामे विशुद्ध स्वच्छता जगती है उसे कहते हैं निश्चयसम्यक्त्व या सम्यक्त्व ही कहो। निश्चय शब्द देनेकी जरूरत क्या? सम्यक्त्व तो यही है जो कि ७ प्रकृतियोके उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे हो। तो अब बतलावो उस सम्यक्त्वसे पहले व्यवहार है क्या? यदि नही है सम्यक्त्वसे पहले व्यवहार तो जो ये वचन कह जाते है छहढालामे कि 'हेतु नियतको होई, और भी अनेक ग्रथो मे जो वर्णन आता है ये सम्यक्त्वके साधन धवल जैसे महान् ग्रन्थोमे भी सम्यक्त्वके साधनमे एक परिच्छेद ही अलग बनाया है छठवी पुस्तकके अन्तमे चूलिकामे और अनेक ग्रन्थोमे लिखा रहता है तो फिर वह कैसे? अच्छा तो सुनो—निश्चयके पहले व्यवहार नही एक प्रश्न, दूसरा प्रश्न है उस निश्चय सम्यक्त्वका जब अनुभव हो रहा याने स्वानुभूतिकी अवस्था है, उस समयमे ही व्यवहार है सम्यक्त्वके अनुरूप क्या ऐसी बात है? यह दूसरा प्रश्न है।

तीसरा प्रश्न है कि अनुभूति तो नही हो रही, किन्तु सम्यक्त्व विद्यमान है। क्या उस समय व्यवहार होता है यह तीसरा प्रश्न है। चौथा प्रश्न है—सम्यक्त्व मिट जाय। कुछ जीवोंके मिट भी तो जाता है। क्षयोपशम सम्यक्त्व हो, उदय आ जाय मिथ्यात्वका तो लो मिट गया। उपशम सम्यक्त्व हो, उदय आ गया मिथ्यात्वका तो लो मिट गया। तो क्या सम्यक्त्व मिट जानेके बाद व्यवहार होता है ? ऐसे ये चार प्रश्न रखियेगा। और उत्तर क्या होगा कि जो चार प्रश्न रखे गए वह ही इसका उत्तर है। ये ही चार उत्तर हैं, निश्चयसे पहले व्यवहार निश्चयकी अनुभूतिके समय व्यवहार, निश्चयके साथ व्यवहार और निश्चयके मिटने के बाद भी व्यवहार। ये चार समाधान हैं और इनका क्रमसे उत्तर दिया जायगा विवरणके रूपमे।

(७५) **व्यवहारसम्यक्त्वका चार प्रकारोंमें विश्लेषण**—यहाँ यह बात जान लें कि व्यवहार नाम इन सभीका पडता है। सम्यक्त्वसे पहले जो परिणति है उसे भी व्यवहार बोलते हैं, और कह दीजिए व्यवहार सम्यक्त्व और स्वानुभूतिके समय जो प्रवृत्ति होती, परिणति होती वह भी व्यवहार सम्यक्त्व और निश्चय सम्यक्त्वके रहते समय अनुभूति न जग रही हो तब भी जो परिणति होती है वह भी व्यवहार सम्यक्त्व और कभी सम्यक्त्व मिट जाय तिस पर भी जो उसका व्यवहार होता है वह भी व्यवहार सम्यक्त्व। चौथी बातमे आप कुछ सोच रहे होगे, पर आप यह बतलावो कि जब परिणामोकी दशा अति दुर्गम्य है। अभी कोई योगी ११वें गुणस्थानमे है और कहो डेढ मिनट बादमे उसे देखेंगे मिथ्यात्व गुणस्थानमे, अभी छठे ७वें गुणस्थानमे है एक मिनट बाद मिथ्यात्वमे आ गए तो विचित्रता कैसी है परिणामोंकी, पर आप यह सोचें कि जो अभी छठे ७वे गुणस्थानमे था और उसके तुरन्त बाद आ गया मिथ्यात्वका उदय तो क्या बाह्य क्रियावोमे कोई ऐसा ज्यादह अन्तर पड़ जायगा कि जिससे आप यों समझेंगे कि अभी तो यह ठीक दिमागका था, अब यह पागल हो गया, इतना अन्तर तो न पायेंगे और परिणामोकी ऐसी विचित्रता है कि मिथ्यात्व भी आ जाय तो परख नही हो सकती। वही समिति वही व्रत, वही गुप्ति बराबर ठीक कर रहे हैं। उनकी भी समझमे नही आता कि जब मिथ्यात्वको समझा नही और भीतर ऐसा नृत्य चल रहा है तो उस समय होने वाला जो व्यवहार है वह व्यवहार सम्यक्त्वसे बाहर तो नहीं गया। प्रवृत्ति तो अष्टाग रूप रही ना। तो ये जो ४ प्रश्न हैं ये प्रश्न भी है और ये चार उत्तर भी हैं। अब जो इन चारको व्यवहार सम्यक्त्व कहा नही है सम्यक्त्वपर सम्यक्त्वके लिए उमंग है और उस उमग मे जो तत्त्व श्रद्धान, सम्यग्दर्शनके ८ अगकी प्रवृत्ति तत्त्वाभ्यास आदिक जो भी वृत्ति चल रही है लो वह भी व्यवहार सम्यक्त्व कहा गया। तो व्यवहार नाम इन सबके लिए है कहो तो

है साथ होने वाली बात साक्षात् व्यवहार और कही है उसके संस्कारका व्यवहार । और कहीं है सम्भावनारूप व्यवहार । तो इस प्रकार ये चार प्रश्न यहां बनते हैं और उनका नाम यो रख लीजिए निश्चय सम्यक्त्व हेतुभूत व्यवहार—जिसे कहते है—हेतु नियतको होई । निश्चय सम्यक्त्वानुभूति कालप्रवृत्ति रूप व्यवहार । जिसे कहते है—जब सम्यक्त्वका अनुभव हो रहा हो उस समयका होने वाला परिणमन, और, तीसरा है निश्चयसम्यग्दृष्टि । परिणति रूप व्यवहार । याने सम्यग्दर्शन है और उसकी जो अब व्यावहारिक परिणति हो रही है और चौथा है निश्चय पाश्चात्य व्यवहार । भले ही सम्यक्त्व नही मिला फिर भी वह योगी है, साधु है, उपासक है, उसके पहले सस्कार है, भीतरी परिणामोका पता क्या ? उसकी जो परिणति हो रही है एक वह व्यवहार है । जो योगी आत्मसाधनाके बलसे ११वें गुणस्थानमे पहुचकर वीतराग बन गया है, यथाख्यात चारित्र पा लिया उस योगीके दो मिनट बाद मिथ्यात्व आया । जिसकी वजहसे या जिसकी सम्भावना रखकर कोई कहे कि यह हमारे मुनि नही । अरे भीतरकी बातका पता पाडकर प्रवृत्ति बनावेंगे तो बना न पावेंगे । बाहरी आचरण, बाहरी बात, बाहरी प्रवृत्ति जहां निर्मल है, दोषरहित है वहां ही आपको निर्णय बनेगा । तो ये चार प्रकारके व्यवहार है, इनमेसे पहले व्यवहारकी बात सुनो ।

—०—

(१५)

(७६) निश्चयसम्यक्त्वहेतुभूत व्यवहारसम्यक्त्वका निर्देशन—पहले व्यवहारका नाम क्या दिया ? निश्चय सम्यक्त्व हेतुभूत व्यवहार । ऐसा व्यवहार सम्यक्त्व वह कहलाता है कि जहां सम्यक्त्व तो प्रकट हुआ नही, किंतु उस ही सम्यक्त्वके हेतुभूत ७ तत्त्वोका श्रद्धान आत्मतत्त्वकी चर्चा, सम्यक्त्वके ८ अगरूप प्रवृत्ति, सब कुछ प्रवर्तन चल रहा है । जैसे कि उन तत्त्वोका स्वरूप है । तो ऐसा जो प्रयत्न है उसे कहते हैं निश्चय सम्यक्त्वहेतुभूत व्यवहारसम्यक्त्व । यह भीतरी परिणाम इतना अगम्य है कि यहां तो कोई किसीको जान ही नही सकता । सम्यक्त्वके जो बाह्य चिन्ह हैं—प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य इन लक्षणोके द्वारा जान सकते हैं सो वह वास्तविक लक्षण तो अनुभूति है सम्यक्त्वका । कभी तो प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य ये भी आभास बन जाते हैं । प्रशम नाम है शान्त होना, क्षमाका भाव रखना । किसीने अपराध किया हो तो तत्काल क्षमा कर देना, सम्वेग—धर्ममे अनुराग, ससार, शरीर, भोगोसे वैराग्य यह कहलाता है सम्वेग । अनुकम्पा—प्राणियो

पर दया। देखो कितना सम्बध है दयाका। जिसने अपने आत्मस्वरूपको जाना वह सब प्राणियोमे वह स्वरूप जान रहा है। फिर उनको दुःखी देखकर क्यो न अनुकम्पा होगी ? अनुकम्पाका अर्थ है खुद कप जाना, दूसरेकी तकलीफको देखकर खुदके दिलमे तकलीफ हो जाय इसे कहते है अनुकम्पा और इसीको कहते हैं दया। कोई भी भिखारी अगर भोजन चाह रहा है तो जब तक आप खुद दुःखी न हो जायेंगे तब तक आप उसे रोटी नही दे सकते उसके दुःखको देखकर खुदमे कोई दु.ख होगा तो आप रोटी देनेकी चेष्टा करेंगे। दयाका नाम है अनुकम्पा। जैसा दूसरी जगह देखा उसके अनुसार खुदमे सोच विचारकर खुदका दिल कंप जाय उसका नाम है अनुकम्पा और आस्तिक्य। यद्यपि ये सब आभासरूप भी हो सकते है, फिर भी लक्षण तो ये ही है। साधर्मी जनोमे वात्सल्य करना, प्रीति करना, उमडाना, यह तो एक साधारण बात होनी चाहिए न कि छाट छाटकर करे। जैसे कहते हैं कि हमारा इससे प्रेम है। हमारे जिसे नही कहते तो यह हमारेसे अलग है, ऐसी छाट नही होनी अनुकम्पामे। तो ये चार आभासरूप भी हो सकते, फिर क्या करना ? कैसे जानना कि सम्यक्त्व है, यह तो चिन्ह देखकर अनुमान किया जाता है। भला बतलावो कोई मुनि कोल्हूमे पिल रहा और विरोधीपर जरा भी क्रोध नही ला रहा, समतासे सह रहा और सम्भव है कहो सम्यक्त्व न हो, मिथ्यात्व हो तो क्या भीतरी सम्यक्त्व मिथ्यात्वको ऐसा ढूंढ ढूंढकर व्यवहारमे प्रवृत्ति होती है। व्यवहारमे तो चरणानुयोगकी पद्धतिसे जो बात नजर आती है उसके अनुसार प्रवृत्ति होती है। तो व्यवहार सम्यक्त्वकी बात कह रहे। पहला व्यवहार सम्यक्त्व—सम्यक्त्वसे पहले जो तत्त्वाभ्यास, अष्टाग प्रवर्तन रूपमे जो व्यवहार है वह कहलाता है—हेतु नियतको होई याने व्यवहार सम्यक्त्व निश्चय सम्यक्त्वका हेतु होता है।

(७७) **निश्चयसम्यक्त्वहेतुभूत व्यवहारसम्यक्त्वकी उपयोगिता**—देखो हेतुक कितने ही अर्थ है सम्यक्त्वोत्पत्तिके अनरग हेतु तो कर्मका उपशम आदिक है। बहिरग हेतु जिनबिम्बदर्शन आदिक है और यह उपादानमे कार्य होनेके परम्परा हेतुरूप है। श्रद्धानुमापक प्रवर्तन होना यह व्यवहार सम्यक्त्व है। यदि धर्मात्मा जनोमे सम्यक्त्व है या नही ऐसा सदेह करके चोकन्ना हो जाय तो फिर तीर्थप्रवृत्ति नही हो सकती। जीवमे होने वाला जो ज्ञानका पुरुषार्थ मंद कषाय स्वरूपका कुछ दिग्दर्शन यही सब हुआ व्यवहारसम्यक्त्व सो इसका निमित्त पाकर सम्यक्त्वका घात करने वाले अनन्तानुबंधी मिथ्यात्वादिक प्रकृतियोका शैथिल्य हो जाता है। देखो व्यवहार सम्यक्त्वमे समाधानरूप परिणाम जो विशुद्ध होता है वहां यह सामर्थ्य है कि सम्यक्त्वघातक कर्मप्रकृतियोको शिथिल कर दे याने व्यवहार सम्यक्त्वमे होने वाले विशुद्ध परिणामोका निमित्त पाकर इन चार प्रकृतियोमें भी कुछ परिवर्तन हो सकता

है। तो जैसे कोई साग-भाजी खरीदने जाय और भारी चतुराईसे छाँटे तो वह रद्दी साग लेकर आता है। तो ऐसे ही जो दूसरेमे सम्यक्त्वकी तलाशीको अपनी नम्रताका आधार बनाकर भारी काट छाँट चल गई तो उसमे कुछ भी वजन खुदके दिलमे नही रहती। तो जो हम आप सब लोगोका व्यवहार चलता है सदाचाररूप तत्त्वाभ्यासरूप, आत्ममननरूप, तत्त्वचर्चारूप यह भी तो कुछ महत्त्व रखता है। आगे प्रगति कैसे बने यदि यह भी न हो तो। फिर इसके बाद जब जीवको करणलब्धि मिलती है तो उसमे उपशम आदिक होते हैं और सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है। तो यहाँ यह देख लो कि सम्यक्त्वमे होने वाला जो पहला पुरुषार्थ किया गया वह व्यवहार सम्यक्त्व है और वह निश्चयसम्यक्त्वसे पहले चलता ही है, अन्यथा तीर्थप्रवृत्तिका कोई अवसर ही नही रहता।

—०—

(१६)

(७८) स्वानुभूतिसमयसंगत व्यवहारसम्यक्त्व—व्यवहार सम्यक्त्वकी चार संज्ञायें विधियाँ बताई हैं। सम्यग्दर्शनसे पहिले होने वाला व्यवहार सम्यक्त्व, सम्यग्दर्शनकी अनुभूतिके समय होने वाला व्यवहार सम्यक्त्व, सम्यग्दर्शनके साथ होने वाला व्यवहार सम्यक्त्व, सम्यग्दर्शन नष्ट होने पर होने वाला व्यवहार सम्यक्त्व ऐसी व्यवहार सम्यक्त्वकी चार कक्षायें हैं जो यह प्रश्न करे, जो यह बात रखे कि व्यवहार सम्यक्त्व कब होता है ? सम्यक्त्वमे पहले। सम्यक्त्वके बाद। सम्यक्त्वके साथ। उनसे पूछना चाहिए कि तुम व्यवहार सम्यक्त्व का लक्षण क्या करते हो ? जैसा कि लक्षण कहा वैसा उत्तर देना चाहिए। तो अब देखिये इस विधिमे निश्चयसम्यक्त्वकी अनुभूतिके समयके व्यवहार सम्यक्त्वकी बात चल रही है। सम्यक्त्वमे विषय क्या हुआ ? एक अखण्ड शुद्ध सहज ज्ञायकस्वभाव। यद्यपि आत्मा पर्याय दृष्टिसे अनेक प्रकार परिणमता है, पर यहाँ अनुभवमे अन्य भेद कुछ नही लाते। केवल अखण्ड एक ज्ञायक स्वभाव अतस्तत्व जब यह अनुभूतिमे चल रहा है, जिसे कहते हैं स्वानुभव। जब स्वानुभव चल रहा है तो स्वानुभूतिके समय होने वाला जो व्यवहार है वह तो स्वानुभवके कालमे ही हो सकता है। स्वानुभवके समयमे होने वाले व्यवहारका अर्थ क्या ? जो स्वानुभवके समय पर्याय हो वही व्यवहार। परिणमन शून्य कोई द्रव्य नही होता। सिद्ध भगवान भी परिणमनसे रहित नही हैं। उनके चल रहा है अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द अनन्त शक्ति ये परिणमन चलते हैं। तो जो स्वानुभवमे उपयुक्त है उसका

परिणमन क्या है ? सहज आनन्द रसमय अनुभवन निर्विकल्प अनुभवन । केवल रसास्वाद, किसका ? सहज आनन्दरसका आस्वाद । यह व्यवहार इस ही प्रकारका है जो केवल स्वानुभवके समय रहता है । फिर स्वानुभव न रहा तो भी सम्यग्दर्शन चल ही रहा, क्योकि स्वानुभव नीचे के सम्यक्त्व वाले गुणस्थानोमे बहुत काल तक नही रहता । कितना रहता, कैसे रहता ? तो ऐसा समझ लो करीबन कि जैसे बिजली तडकी है तो कितने समय ठहरी । ऐसे ही स्वानुभव हो तो कितने समय ठहरेगा । अगर स्वानुभव अन्तर्मुहूर्त ठहर जाय भली भाति तो अरहत अवस्था हो जाती है । नही ठहरता और मत ठहरो । थोडा स्पर्श भी हो जाय, थोडा उसके स्वलक्षणकी दृष्टि हो जाय यह ही उसके लिए बहुत है । तो स्वानुभवके साथ होने वाला जो सहज आनन्द रसास्वादमय परिणति है वह क्या व्यवहारसम्यक्त्व सम्यक्त्व है ना ? तो उसका जो परिणमन है सो व्यवहार सम्यक्त्व है । जो अनुभवमे आ रहा है वह । वैसे तो सम्यक्त्व भी परिणमन ही है, पर सम्यक्त्व परिणमनमे जो एक अनुभवमे आयी वृत्ति है वह व्यवहार बन गया । ऐसा यह व्यवहार स्वानुभवके कालमे ही है, सम्यक्त्वसे पहले नही, सम्यक्त्वके साथ नही, सम्यक्त्वके बाद नही, किन्तु सम्यक्त्वका जब ठीक सही अनुभव हो रहा है उस समयमे है यह व्यवहार सम्यक्त्व ।

(७९) बाह्य समागमोंसे उपेक्षा कर स्वानुभूतिका पौरुष करनेका अनुरोध—यहाँ प्रश्नमे आयी हुई दूसरी बात चल रही है । देखो कितने ही प्रसग ऐसे होते कि जीवपर कोई चर्चा चले, विवाद बने, विडम्बना हो तो अपने मूल ध्येयसे वह टल जाता है । मूल ध्येय है स्वभावदर्शन । मूल उद्देश्य है आत्मकल्याण । विषय कषाय उत्पन्न न हो, वहाँ मेरी रक्षा बनी रहे, बचाव बना रहे, ऐसी बात बन सके तो वह है मनुष्य जीवनका सार । कषाय तो भव-भवमे की, विषयानुभव तो भव भवमे पाये । वही बेढगी रफ्तार बनी चली आ रही है अनादि कालसे उसमे तो कुछ सिद्धि नही होने की । अपना चित्त बदलो । आजका जमाना भी यही कहता है । पहिले जमाना था ऐसा कि पुत्रपर विश्वास, मित्र पर विश्वास, धन रह रहा उसपर विश्वास । पहले शादी सम्बन्ध करने वाले लोग देख लेते थे कि उनके इतने गाँव हैं, साहूकारी है । इनका इतना व्यापार है । इतना लेन देन है, समझ लेते थे कि यह अच्छा है और रहेगा ऐसा कई पीढ़ी तक ऐसा विश्वास रहता था । आजके धन पर किसी का विश्वास है क्या कि जो आज है वह दो महीने तक रह जाय । रह जाय वह बात अलग है, मगर जमाना इस प्रकारका है कि कह नही सकते कि अगले माहमे क्या हो ? यद्यपि विश्वास पर तो दुनिया टिकी हुई है । सो यह चलता है, मगर जमाना इस प्रकारका है । तो यह जमाना सिखाता है कि उदार बनो । यह जमाना बताता है कि लोभके रगमेमत

रणो। उससे कितनी ही विपत्तियाँ आती हैं। यहां तो जैसा धर्म बताता है उसीके लायक जमाना बन रहा है। प्रमाण करो, मूर्छा हटावो। ममता न करो, राग न करो। सबको वितरण करो, सबका हक समझो। समय आ गया। साम्यवाद, समाजवाद, यह सब किस का रूप है? बात कुछ यह कहनेकी न थी, पर यह बतानेकी बात है कि बाह्य सगसे समागमसे उपेक्षा रहे विरक्ति रहे तो आत्मानुभवकी पात्रता हो सकती है। कल्याण बडी चीज है। 'कला बहत्तर पुरुषकी, ता मे दो सरदार। एक जीवकी जीविका दूजो जीवोद्धार'। एक आजीविका और दूसरा आत्मोद्धार। अब जिसकी जिस ढगकी आजीविका है वैसी आजीविका रहे और दूसरा काम आत्मोद्धार रहे, उसमे भी आत्मोद्धारमे फर्क आ जाय और आजीविका अच्छी बनी रहे क्या यह प्रशसनीय है? चाहे आजीविकामे फर्क आ जाय मगर आत्मोद्धारकी दृढता बन जाय यह उत्तम है। उसमे भी गुजारा करें। तो देखो मुखसे तो कहना पडेगा सबको कि आत्मोद्धारमे फर्क न आये। चाहे करने को मन न हो ऐसा, चाहे आत्मोद्धारका काम धरा रहे आलेमे, पर आजीविकाका काम होना चाहिए, आजीविकाके काममे बहुत प्रगति करना चाहिए, ऐसा कोई मुखसे बोल न सकेगा। चार आदमियोमे बैठ कर कोई मुखसे यह बोलनेको तैयार न होगा कि आत्मोद्धार तो जाने दो आलेमे और आजीविका का साधन बढिया बनाना चाहिए। ऐसा कहनेमे सकोच होगा, दिल डरेगा और अगर है ऐसा तो आप यह समझे कि जिसको बोलनेमे समूहके बीच कुछ सकोच होना है और जिसको बोलनेमे धडाधड बोल सकता है तो आप बतलावो कि जो समाजमे धडाधड बोला जा सकता है वह परिणाम हो जाय तो वह अलौकिक है कि नही? अभी दान करने वाला पुरुष समाजके बीच खडा होकर यह नही कह सकता कि मैंने इतना दान किया और सबका उपकार किया। उसे सकोच होगा। तो मालूम होता है कि जिसमे गर्व न हो और जिस मे अपने एक कोई स्वार्थकी बात न आये। आप हर बातमे देखो, कोई यहाँ आकर यह नहीं बोल सकता कि देखो भाई दस लक्षण पर्व आया है, अब खूब रोज रोज ३-४ बार खावो। यहाँ आकर तो यही बोला जायगा कि भाई व्रत करो, अनशन करो, पूजा पाठ करो, तो उससे समझो कि जो सर्वसमूहके बीच कहा जा सकता है मार्ग तो वह है चलनेका।

(८०) अपनी परिस्थिति व पदवीके अनुसार वृत्ति व विकास—बात यह चल रही है कि धर्मके लिए जब हमे कुछ पौरुष करना है तो हमारी यह मजिल और कदम ये भिन्न भिन्न जगहपर ही है। हम वहाँ एक बात नही कह सकते सबके करनेके लिए। किसीको मांसका ही त्याग करा दिया तो यह ही धर्म हो गया चाण्डालका, मासभक्षीका, किसीको प्रतिमा व्रत दे दिया, यह ही धर्म हो गया, किसीको और ऊँचा ब्रह्मचर्य व्रत दिया विकास

हुआ, कोई मुनिव्रत पा ले, अच्छा हो गया, पात्रतायें होती है, योग्यतायें होती है, सब तरह से निभो। शिखर जी की वदना करने जाते तो वहाँ एक बात तो नही होती कि जो ४० वर्षका हो वही वदनामे जाय। बूढे बुढिया भी जाते, लगडे लूले भी जाते, बच्चे लोग भी जाते। दसो तरहकी बातें होती है। तो ऐसे ही धर्ममार्गमे हम केवल एक रूप ही बनाये कि यह ही करो, लक्ष्य तो एक रहेगा, लक्ष्य ५० नही बन गए, मगर करनेमे क्या आया ? इसके मामले अनेक बनेंगे। पुराणमे कहा कि किसीने कौवाका मांस छोडा था तो वह भी मरकर स्वर्गमे देव हुआ था। अपनी बातपर दृढ रहा, विरक्त हो गया जिसका कि वह आदी था, मगर अपने नियमपर दृढ रहा तो देखो उसने भी कोई रास्ता तो पाया। आगे धर्मकी बात पायगा। तो यह आत्मोद्धारका धर्मधारणका बहुत व्यापक क्षेत्र है। ऐसा ही चल रहा कोई और ऊँचा चल रहा कोई, और कोई बडा चल रहा चलने दो। जैसे सब कोई शिखरजी की यात्रा कर रहे तो करने दो, ऐसे ही धर्मधारणका क्षेत्र है। आत्मोद्धारके लिए जिसके जितनी योग्यता है, पात्रता है वह उतना कर रहा है, पर लक्ष्य सबका एक है। जैसे शिखरजी की यात्रामे यात्रा करने वाले लोग नाना प्रकारके है, पर लक्ष्य सबका एक है—मै वदना कर आऊँ। ऐसे ही धर्मधारणके प्रसंगमे धर्म करने वाले अनेक प्रकारके लोग है, मगर सबका लक्ष्य एक है, क्या कि सम्यक्त्वकी अनुभूति, स्वभावकी अनुभूति, स्वभावमे मग्न होना, और देखो जैसे जो कोई भी पहली टोकपर पहुच गया वह पहली टोकके पास जो गली है उसमेसे ही तो गुजरकर पहुच गया। जो अभी बहुत नीचे है वह जरा देरमे आकर पहुचेगा। जो बिल्कुल ऊपर पहुच गया है वह जरा जल्दी पहुचेगा। तो ऐसे ही ये हमारे श्रावकव्रत, मुनि-व्रत, अप्रमत्त विरत व श्रेणीसे गुजरकर ही पहुचाते हैं उस प्रभुस्थानपर। तो इस प्रकार यह धर्मपालनका क्षेत्र बहुत व्यापक है। करते जावो, पर आगे बढो। बस यहाँ आगे बढनेकी बात है। करो, छोड़ो, आगे बढो, यही पद्धति है। तो इस तरह कोई अपने उपयोगको स्वच्छ रखकर अपने स्वभावकी अनुभूतिमे प्रवेश करता है तो ऐसी अनुभूतिके समयका व्यवहार तो उस अनुभूतिके समय है। न सम्यक् होनेसे पहले है, न सम्यक्त्व मिटनेके बाद है और न अनुभूति समयको छोडकर बाकीके सम्यक्त्वके साथ है, वह एक अनुभूतिके समय है।

—o—

(१७)

(८१) सम्यक्त्वसहवर्ती व्यवहारसम्यक्त्व—अब तीसरे प्रकारके व्यवहार सम्यक्त्व की बात कह रहे है। जो सम्यक्त्वके साथ होने वाला व्यवहार अनुभूति वाला नही है। सम्यग्दर्शन होनेपर सदा अनुभूति नही चलती। और सम्यक्त्व रहता है। जैसे किसी हिन्दी भाषा वालेने सस्कृत भाषा पढ ली, विद्वान् बन गया, कुशल बन गया, पर सस्कृतका पत्र पढ रहा हो या सस्कृतमे कुछ बोल रहा हो तो उस समय है सस्कृत भाषाका उपयोग, प्रयोग, पर क्या उस सस्कृत भाषाका उपयोग, प्रयोग रात दिन रहता है ? जब मौका समझा तब है। बाकीके समय सस्कृतकी योग्यता है, सस्कृतज्ञ है, ऐसे ही जिसको सम्यग्दर्शन हो गया उसको सम्यक्त्वकी अनुभूति सदा निरन्तर रहे सो तो नही होती, किसीको दो दो चार चार माहकी सम्यक्त्वानुभूति नही होती। अरे उस अनुभूतिका रसास्वाद वही समझता है। वह एक अलौकिक दुनियामे पहुच गया जिसने अपने आपके सहज ज्ञानानन्द स्वभावका अनुभव किया। सिद्ध भगवानकी लिस्टमे उसका नाम लिख गया। उसका उम्मीदवार बनेगा अवश्य। जिसको सम्यक्त्व हुआ, सम्यक्त्वानुभव हुआ वह अवश्य ही सिद्ध होगा। अगर विषय कषायो के झझटने भी इसे रोका तो वह कब तक रुकेगा ? पहुच जायगा। जिसको सम्यक्त्व हुआ, अनुभूति भी अभी नही है, हुआ तो अनुभवपूर्वक ही सम्यक्त्व, पर अब नही है, ऐसे ही सम्यग्दृष्टिकी जो प्रवृत्ति है अष्टागरूप प्रवृत्ति, वह व्यवहार सम्यक्त्वके साथ चलती है। सम्यक्त्वके बिना नही है, सम्यक्त्वसे पहले नही है, सम्यक्त्वके मिटनेपर नही है। कभी सम्यक्त्व मिट भी तो जाता है। तो यो यह व्यवहार सम्यक्त्व जिसकी अष्टाग प्रवृत्ति है वह होती है सम्यक्त्वके साथ। एक उद्देश्य यह न छूटे।

(८२) आत्मसंयमनका महत्त्व—एक छोटी सी कहानी है कि कही एक पतग उड रही थी तो हवाने उस पतगका बडा स्वागत किया और कहा अरी जीजी अब तुम हमसे ही मिलकर रहो, जो डोर पकडे है उसका साथ तुम छोड दो फिर खूब स्वतत्र होकर हमारे पास रहो। तो पतग बोली—हमारा उससे छूटना कैसे बन पायगा ? हम तुम्हारी मदद करेंगे, बोलो तुम्हे हमारे साथ रहना स्वीकार है ना ?· हाँ हाँ स्वीकार है। तो खूब तेज हवा चली, पतगकी डोर टूट गई और पतग स्वतत्र होकर हवाके साथ किलोल करने लगी। अब तो वह पतग हो गई स्वच्छन्द। जब तक वह पतग डोरके आश्रयमे थी तब तक तो वह रक्षित थी। अब स्वच्छन्द हो जानेका परिणाम क्या हुआ सो देखिये हवाके तेज थपेडोंसे पतग फटने लगी, बहुत हैरान हुई, तो पतग बोली—हवा जी बद हो जावो, हम

बहुत परेशान हो गई। अब हमें न सतावो, अब न चपेटो, पर हवाने तो यही चाहा था। थोडी ही देरमे ऊपरसे बादल गरजने लगे, पानी बरसने लगा तो पतग भीग गई, नीचे गिर गई और कीचडमे जाकर फँस गई। तो देखो एक संयमन छोड दिया वह सयम डोरा छोड दिया तो पतंगकी क्या दशा हुई ? हवासे बह-बहकर कीचडमे ही फँस गई। तो ऐसे ही समझो कि मन भी पतगकी तरह चचल है, इस मनकी ऐसी उडान मत करो कि जो अपने कब्जेमे बाहर हो जाय। बडी सम्हालकी बात है। उस ढंगसे चलो। देखो कैसा जमाना आज चल रहा है, कैसा अध्यात्मरुचिका आज जमाना है कि जो श्रीमद्भगवत गीता है, जिसमे कृष्ण, अर्जुनकी कथा लिखी है, जिसकी आज टीका होने लगी कि ये कृष्ण अर्जुन कुछ न थे। एक अध्यात्म चल उठा कि अर्जुन तो एक जिज्ञासु भव्य जीव थे, ऐसा ही सब जीवोका अर्थ लगा लगाकर वे सब पात्र हट रहे। श्रीरामके चरित्रके विषयमे भी अब लोग टीका करने लगे। तो ऐसा कुछ अर्थ लगाया कि न श्रीराम रहे, न लक्ष्मण रहे, न दशरथ रहे, ऐसा जो आत्मा है, भीतरका भाव है उसको पैदा करने वाला भाव है उसके साथकी समता है वह मिटाकर वह सब चारित्र उड गया। आजकी हवा ऐसी चल रही है और यह ही बात हमारे तप सयमकी भी चल रही है, व्रत कुछ नही, तप कुछ नही, सयम तो यह है। स्वभाव मे मग्न होना बाकी सब तो कवायत है। इसमे कुछ धरा नही, यह तो हवा ही चल रही है सब जगह, पर यह बतलावो कि जो छोटे ज्ञान वाले लोग हैं उनपर भी कुछ दया करना है कि नही। चलने दो सबको, इस ढगमे चलेंगे, चलते हुएमे समझावो, उन्हे आगे बढनेकी बात बताओ आगे और ले जावो। घरमे सभी कोई हैं— छोटे बच्चे भी है, जवान लोग भी है, बूढे लोग है, जब सवेरा हो जाता है तो सभीको लोग जगाते हैं—अरे उठो काम करो, सामायिक करो, अपना काम देखो, लेकिन छोटे बच्चोके प्रति लोग यही तो कह देते है ना कि अरे यह तो बच्चा है, इसे अभी सोने दो। तो सबको एक लाठीसे हाँकनेकी बात नही चलती। जिसने जितनी योग्यता पायी उतना उससे वह आगे बढे और आगे बढे स्वभावका दर्शन करे, सहज स्वभावमे मग्न हो जावे। तो देखो जिसको सम्यग्दर्शन हो गया उसको अनुभूति नही हो रही सदाकाल, महीनेमे कभी हुआ मगर सदाकाल जो उसकी प्रवृत्ति चलेगी वह कहलाया व्यवहार सम्यक्त्व। वह सम्यक्त्वके साथ चल रहा है।

(८३) **ज्ञानीकी अष्टाङ्गप्रवृत्ति**—ज्ञानी पुरुष जिनवचनमे शंका नही करता, क्योकि जिनवचनकी बात उसने अपने अनुभवसे मिला ली। अनुभव तो होता था उसे और उसको और दृढता हुई। तो जिनवचनके प्रति जिसको भक्ति नही है वह सब जगह दोष देखता है। बहुतसे लोग तो कहने लगते हैं कि तीसरे अध्यायको तो उमास्वामीने गलत बना दिया। अब

ऐसा कहने वाले लोग हो गए कि पृथ्वी तो गेंदकी तरह गोल है। उसके आगे नरक कहाँ धरा? स्वर्ग कहाँ है? राकेट चला दिया तो जितना थमा रहा उतना स्वर्ग है। कहाँ जम्बूद्वीप, कहाँ भरत क्षेत्र, कहाँ मेरु पर्वत, यह तीसरा अध्याय बेकार कहने लगे कुछ लोग पर जिनको जिनेन्द्र वचनोमे आस्था है उनकी एक सबसे विलक्षण बात जो स्वानुभूतिकी है वह जिसे मिल गई और उस विषयकी तुलना कर लिया कि सच हैं ये वचन तो जिनेद्र देवके जो और परोक्ष वस्तुके बारेमे जो वचन हैं उनपर भी इसको खूब दृढ श्रद्धा रहती है कि हाँ सब ठीक बात है, उसको नरक स्वर्ग आदिक किसीमे भी सन्देह नही होता, ये प्रवृत्तियाँ है, यह व्यवहार सम्यक्त्व है, विषय साधनकी आकाक्षा न होना यह सहज ज्ञान गुण आ जाता है ज्ञानी पुरुषमे, मुनिराजको देखकर ग्लानि न करना। अब वहां देखो--वे कभी नहाते नही, दाँत भी उनके कभी साफ नही रहते, केशलोच किए जानेके कारण बाल भी तितर बितर रहते, कितने ही मुनियोके तो बैठनेका जो आसन है वह खराब हो जाता है तो ऐसे ऐसे शरीरोको देखकर, वहाँ मैलपर दृष्टि नही, किन्तु भीतरी वैराग्यपर दृष्टि है। उनका रत्नत्रय बडा पवित्र है। कैसा विरक्त आत्मा हैं। कि कमसे कम इतना तो स्पष्ट ही दिखता कि निर्विकार हो गए तभी नग्न हो सके। आप लोगोमे से कोई जरा १० ५ मिनटको जरा नगा होकर दिखा तो दे। जहाँ बालकवत् निर्विकार भाव है वहाँ ही नग्नता बनती है। उस मुद्रामे कितने ही गुण नजर आयेंगे। आपको तो गुण देखनेसे मतलब है? आपका उपयोग विशुद्ध रहे, गुण पूजा करें, गर्व तब आता है अपनेमे जब कि अपनेको सबसे बडा और दूसरोको तुच्छ माना जाय, यह अहंकारका नियम है, पर उससे अपनेको कुछ सिद्धि होगी क्या? अपनेको तो अष्टागरूप प्रवृत्त करें। जैसे बने वैसे सकटोसे छुटकारा पाना है। ज्ञानी पुरुष तत्त्व कुतत्त्व, सुगुरु कुगुरु, सुदेव कुदेव आदि प्रयोजन भूत विषयोमे अमूढ रहता है, उसे कोई भी चमत्कार सत्यश्रद्धासे विचलित नही कर सकता। ज्ञानी पुरुष धर्मप्रभावना हेतु परके अवगुण नही वखानता, अपने गुण भी नही वखानता। कदाचित् किसी साधुमे दोष आ जावे तो उसे एकान्तमे तो समझायगा ज्ञानी, किन्तु जनतामे प्रकट नहीं करेगा। इसका कारण यह है कि जनतामे प्रगट करनेसे लोग श्रद्धाहीन हो जावेंगे। ज्ञानी निजगुणकी वृद्धिरूप प्रवर्तन करता है। कोई धर्मात्मा कारणवश धर्मसे च्युत हो रहा हो तो उसे ज्ञानी धर्ममे स्थिर करता है। ज्ञानी पुरुषको सर्व धर्मात्माओसे अद्भुत वात्सल्य रहता है, निष्कपट प्रेम रहता है। ज्ञानी पुरुष अपने सदाचारसे, तपश्चरणमे, विद्याविकासमे कल्याण कारी धर्मकी प्रभावना करता है। इस प्रकार यह अष्टाग प्रवृत्तिरूप व्यवहारसम्यक्त्व सम्यक्त्वसहभावी व्यवहार है।

---o---

(१८)

(८४) निश्चयपाश्चात्य व्यवहारसम्यक्त्व—व्यवहार सम्यक्त्व निश्चयमे पहले होता या साथ होता या पीछे होता, इस सम्बन्धमे चर्चा चलते-चलते इस प्रसगके चौथे भेदका विश्लेषण किया जा रहा है। इसका नाम है निश्चय पाश्चात्य व्यवहार। याने सम्यक्त्व मिट जानेके बाद होने वाला व्यवहार। जिस जीवको सम्यक्त्व हो गया था और अब मिथ्यात्वका उदय आनेसे सम्यक्त्व न रहा तो भी इतना जल्दी जो व्यवहार प्रवर्तन होगा वह पहले जैसा ही होगा। जैसे किसीको सम्यक्त्व है और अब न रहा तो उसकी प्रवृत्ति अनर्गल अटपट न हो जायगी, उसका सस्कार लगा है। मिथ्यात्व मिट जानेपर भी जो सस्कार लगा है, जैसी प्रवृत्ति करते थे वैसी प्रवृत्ति करने लगेगा और इस स्थितिको देखो तो वह लो सम्यग्दर्शनके बाद यह व्यवहार सम्यक्त्व हुआ। यहाँ कुछ मालूम तो नही किया जा सकता कि इस मुनि महाराजके सम्यक्त्व था, अब इस एक मिनटमे सम्यक्त्व नही है और अब सम्यक्त्व आ गया। क्षयोपशम सम्यक्त्वका ऐसा ही परिवर्तन चलता है, तो कुछ पता तो नही रहता और उनको भी स्वय पता नही होता कि हमको सम्यक्त्व नही रहा और मिथ्यात्व आ गया। ऐसा वह भी नही जानता। थोडे समयकी बात उनका जो व्यवहार होगा वह अष्टागरूप होगा। यो यह व्यवहार सम्यक्त्व निश्चयके बाद होने वाला है। स्याद्वादसे सबका निर्णय कर लो। कही विवाद हो ही नही सकता। यदि कोई विवाद कर रहा तो समझ लो कि यह जैनसिद्धान्तसे दूर है। स्याद्वादमे विरोधका क्या काम ? ऐसी ऐसी अनेक कठिन समस्यायें स्याद्वादसे समाधानमे आ जाती है। तो व्यवहार सम्यक्त्व कब होता है इस विषयमे हम जितने प्रश्न करें उतने ही उत्तर हैं। व्यवहार सम्यक्त्वका लक्षण समझ लो। जब जैसा लक्षण बतायेंगे तब तैसी उनकी वृत्ति कही जायगी। दोनो निश्चयपाश्चात्य व्यवहार सम्यक्त्वके बादमे रहा। अब सम्यक्त्व न होनेपर भी उसका व्यवहार सम्यग्दृष्टिकी तरह रह रहा है, क्योंकि उसके व्यवहारके साथ अव्यवस्था नही, किसी प्रकारका विवाद नही। तो चूंकि सम्यक्त्व कुछ मिट जानेके बाद जो प्रवृत्ति हो रही है तत्काल उस प्रवृत्तिमे कोई फर्क नही नजर आता है। यो यह निश्चयपाश्चात्य व्यवहार सम्यक्त्व न रहनेपर भी विधिवत् चलता रहता है। जैसे कि व्यवहार सम्यक्त्व होता था और वहाँ जैसी प्रवृत्ति चलती थी वैसी ही प्रवृत्ति अब चल रही है इसलिए लोगोको अब अविश्वासकी बात वहाँ कुछ नही है। ऐसा यह निश्चयपाश्चात्य व्यवहार सम्यक्त्वके पश्चात् होता है अर्थात् सम्यक्त्व मिट जानेपर होता है। कुछ समय तक यह जीव वैसी प्रवृत्तियोमे रह जाता है सम्यक्त्व मिट जानेपर भी तो भी वहाँ यह व्यवहार सम्यक्त्व कहलाता है। यो व्यवहार सम्यक्त्वका जैसा अर्थ लगावेंगे

वैसा ही उसका उत्तर आयगा।

—०—

(१६)

(८५) निमित्तमें उपयोग जोडे तो विकार होता है इस तथ्यका विश्लेषण—एक चर्चा होती है कि निमित्तमे उपयोग जोडें तब विकार होता है या निमित्तमे उपयोग न जोडें तब भी विकार होता है ? एक यह समस्या सामने है। इसका उत्तर सक्षेपमे तो यह है कि जीव आश्रयभूत निमित्तमे उपयोग जोडे तो व्यक्त विकार होता है और इस बहिरंग निमित्त मे उपयोग न जोडे तो व्यक्त विकार नही होता, क्योकि कर्मका उदय, इसका किसीको ज्ञान नही। जिसका ज्ञान नही उसमे उपयोग जोडनेकी बात कैसे हो सकती ? तो कर्मोदयका निमित्त होनेपर याने उदयविपाकके सन्निधान होनेपर जीवमे अव्यक्त विकार होता है, इस तथ्य को समझनेके लिए निमित्तके स्वरूपको समझिये—निमित्त और उपादान। निमित्त भिन्न चीज होती है, निमित्तका उपादानमे प्रवेश नही। निमित्तका उपादानमे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कुछ नही, निमित्तका प्रभाव भी उपादानमे नही, किन्तु निमित्तसन्निधान पाकर उपादान अपनेमे प्रभाव बना लेता है। मूल बात यह है और निमित्त उपादानका सम्बध याने निमित्तनैमित्तिक भाव सर्व विषम पर्यायोके साथ लग रहा, पर सिर्फ जीवके विकार कामके प्रसगमें निमित्त दो प्रकारके हुआ करते हैं। अन्यत्र कही न होगे दो प्रकार। पुद्गल पुद्गल मे कार्य हुआ, वहाँ निमित्त और उपादान है, वहाँ दो प्रकार नही हैं। जो निमित्त है सो निमित्त जो उपादान सो है ही, पर जीवके विकारके प्रसगमे निमित्त दो प्रकारके होते हैं। एक तो है अन्वयव्यतिरेकी निमित्त और दूसरा होता है आश्रयभूत निमित्त। देखो यह प्रकरण बहुत ध्यानसे सुनने योग्य है। देखो निमित्तके दो प्रकार हैं, किस जगहके लिए जीव मे विकार होता है उसके लिए, और जगहके लिए नही। अजीव अजीवके सम्बधमे निमित्तके दो प्रकार नही। वहाँ तो एक ही प्रकारका है निमित्त। और यह समझो कि सदा सब जगह निमित्तका उपादानमे अत्यन्ताभाव रहता है। याने निमित्तका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जुदा, उपादानका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जुदा। जैसे दृष्टान्तमे समझ लो, कुम्हारके व्यापारका निमित्त पाकर मिट्टीमे घडा बना, तो निमित्त मानो कुम्हार। तो कुम्हारकी अगुली, नजर, रूप, रस, गंध, स्पर्श, व्यापार, क्रिया, कुछ भी मिट्टीमे गई क्या ? मिट्टीमे तो मिट्टी ही है। कुम्हारका कुछ भी मिट्टीमे नही गया, लेकिन कुम्हार जैसा व्यापार करता, यह निमित्त योग

न हो तो कही मिट्टीमे बिना निमित्त योगके स्वयं घडा बन गया क्या ? नही, फिर भी निमित्तने घडेमें कुछ किया नही, और निमित्त बिना घडा बना नही, सर्वत्र आप यही बात पायेंगे। निमित्तनैमित्तिक भाव और वस्तुस्वातन्त्र्य दोनो एक साथ सब जगह रहते है। यह बात कही है अभी अजीव और अजीवके लिए। व्यापार भी अजीव चीज है, दृष्टान्त एक देश होता है, पर जीवके विकारके लिए मायने जो भाव हो कषायभाव हो, तो ऐसे भावकी निष्पत्तिमे दो प्रकारके निमित्त होते है। एक तो कर्मका उदयरूप निमित्त, दूसरे जिसपर क्रोध आ रहा हो, जिसपर कषाय जग रही हो वह चीज, निमित्तमे दो तरहके निमित्त हैं। सब जिन्दगीमे परख रहे होगे— एक है अन्वयव्यतिरेकी मायने कर्मका उदय होनेपर ही क्रोध हो सके, कर्म का उदय न हो तो क्रोध न हो सके, ऐसा जिसके साथ अन्वयव्यतिरेक है एक तो वह निमित्त हो सकता कर्मोदय और एक ये दुनियाके सारे पदार्थ। ये कहलाते आश्रयभूत, ये उपचरित निमित्त हैं, इनपर उपयोग लगावें तो निमित्त कहलायेंगे, और इनमे उपयोग न लगायें तो निमित्त न कहलायेंगे। ऐसी बात इस जगतके सारे उपचरित निमित्तोमे है।

(८६) उपचरित निमित्तोंके परिचयसे प्राप्तव्य शिक्षा—निमित्तकी द्विविधतासे हम को शिक्षा क्या मिलती है कि भाई जो बहिरग निमित्त है, उपचरित निमित्त हैं, जो खास निमित्त नही है, जिनमे उपयोग फसावो तो निमित्त कहलाते, न फसावो तो नही कहलाते। ऐसे उपचरित निमित्तमे क्यो लगाव करते ? उपचरित निमित्तसे हटना चाहिए और जितना त्याग बन सके उतना इस उपचरित निमित्तका त्याग करना चाहिए। चरणानुयोग इसी आधारपर बना हुआ है जो जो पदार्थ हमारे विकारमे उपचरित निमित्त पडते हैं उनका त्याग करें और जो वास्तविक निमित्त है कर्मोदय उनका त्याग आप क्या करें ? उनका त्याग स्वय हो जायगा। यदि आप उपचरित निमित्तका परिहार कर दें तो ऐसा ज्ञानबल बढेगा कि ये कर्मोदय भी शिथिल होगे और कर्मबन्ध भी शिथिल होगे और उनका समूल क्षय होगा मगर पुरुषार्थपूर्वक आप कर क्या सकते है ? उपचरित निमित्तका त्याग। देखो जैनसिद्धान्तमे जो व्रत सयम आदिक बताये गए हैं उनमे यह ही आधार है, भाई व्रत करें, उपवास करें याने भोजनका विकल्प न रहे, भोजनका प्रसग छोडें और एक निर्विकल्प भावना में बढ सकें इसके लिए है उपवास। इसके लिए उपवास नही है कि लोग जान जायें कि इनका भी उपवास है। न्तु भोजनका, अन्य बाह्य पदार्थोंका विकल्प न जगे और उनका प्रसग हम न जुटायें और एक उस विकल्पसे बचें और अपने धर्मध्यानमे समय विशेष लगायें। होता ही है प्रोषधोपवासमे ऐसा। उपवास करे और धर्मध्यानमे ही अधिक समय लगायें, चरणानुयोगकी यही प्रक्रिया है कि उपचरित निमित्तका त्याग करें।

(८५) अव्यक्त विकार व व्यक्त विकारके विश्लेषणसे अन्वयव्यतिरेकी निमित्तका परिचय—एक प्रश्न आया था न—निमित्तमे उपयोग जोडें तब विकार होता है या निमित्त मे उपयोग न जोडें तब भी विकार होता है। इस प्रश्नका समाधान करनेके लिए विकार दो प्रकारका है यह भी समझना और निमित्त दो प्रकारका है यह भी समझना और इन दोनो मे अन्तर है—विकार दो प्रकारका कौन ? एक तो अव्यक्त विकार और दूसरा व्यक्त विकार। व्यक्त विकार तो निमित्तमे उपयोग जोडा, बाह्य आश्रयभूत पदार्थमे उपयोग जोडे तब होगा और उसमे उपयोग न जोडें तो व्यक्त विकार न होगा। दूसरा विकार कौन है ? अव्यक्त विकार जिसका हमे पता नही, जिसको हम बुद्धिमे ला सकते नही उसकी हम चर्चा कर रहे, ऐसे अव्यक्त विकारमे कर्मोदयका निमित्त है। देखो एक मोटा दृष्टान्त—कांच होता है ना तो कांचका प्रतिबिम्ब झलका है ऐसा कांच जिसके उसपर निरख सकते, जैसे कि रेलके डिब्बो मे लगे रहते। जिसमे बाहरकी चीजें देखते रहते हैं। घरोमे भी लोग लगवाते। तो ऐसा कांच जिसके आर पार देख लो जिसमे किसी भी तरफ लाल मसाला न लगा हो ऐसा एक बिल्कुल साफ कांच उसमे भी प्रतिबिम्ब पडता कि नही पडता ? नही पडता, अगर कुछ पडना भी तो बिल्कुल मामूली झाईसी पडता है, और जिसमे लाल मसाला लगा हो उसमे देख लो कितना स्पष्ट प्रतिबिम्ब पडता है। तो वहाँ जैसे व्यक्त छाया और अव्यक्त छायाका एक मोटा दृष्टान्त दिया है ऐसे ही जीवोके लिए व्यक्त विकार और अव्यक्त विकार है। व्यक्त विकार तब आता जब कि बाह्य उपचरित निमित्तमे उपयोग जुडे। और उपयोग न जुडे तो अव्यक्त विकार होता। तो यहा दो बातें समझना—व्यक्त विकार होता है निमित्तमे उपयोग जोडनेसे और अव्यक्त विकार होता है निमित्तका सन्निधान पानेसे। ऐसी दो बातें समझनेपर कोई विवाद नही रहता। और एक बात समझ लो, जो जगतमे ये बाह्य पदार्थ हैं ये उपच रित निमित्त है, इनमे उपयोग जोडें तो विकार हो यह बात सही है ना, और इन पदार्थोमे उपयोग न फसायें तो विकार नही होता, सही है ना, पर एक तो यह समझें कि यहाँ व्यक्त विकारकी बात कही। दूसरी बात यह समझना कि एक निमित्तका नाम लेकर जैसे आश्रय-भूत निमित्तमे बात घटित होती है ऐसे ही अज्ञात अन्वयव्यतिरेकी निमित्तमे भी घटित करें तो उसका कहना इस प्रकार बनत कि जैसे आकका दूध पीनेसे मनुष्य मर जाता तो कोई सब जगह यह कहे कि दूध पीनेसे मनुष्य मर जाता है तो क्या इसका ऐसा कहना ठीक है ? अरे आकका दूध पीनेसे मनुष्य मरता है न कि गाय भैसका। ऐसे ही यह समझो कि उस आश्रयभूत निमित्तका उपचरित निमित्त होनेपर निमित्तका आरोप होता है। इसमे उपयोग जोड़नेसे व्यक्त विकार होता है न कि कर्मके उदयमे उपयोग जोड सकते, क्योंकि कोई जोड

हो नही सकता, वहाँ तो ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक भाव है। यह बडी सूक्ष्म चर्चा है। और देखो वह अन्वयव्यतिरेकी निमित्त बधके समय ही अपनेमे पूर्ण सामर्थ्य वाला बना, वहाँ प्रकृतिबध है, प्रदेशबन्ध है, स्थितिबन्ध है, अनुभागबन्ध है। अगर इसमे अन्तरंग निमित्तको न मानें तो फिर जैनसिद्धान्तके १५ आने ग्रन्थ असत्य हो जायेंगे। केवल एक आने ही खडित करकर सत्य कल्पित रहेगे। देखो— समयसारमे स्वयं लिखा है कि कर्मके उदयसे जीव सुख पाता है, कर्मके उदयसे जीव दुःख पाता है, कर्मके उदयसे जीव मरता है, कर्मके उदयसे जीव जीवित रहता है। किसीका कर्मोदय कोई दूसरा नही दे सकता, वह ही स्वयं करता है। समयसारमे एक परिच्छेद अलगसे पूरी तरहसे दिया गया है। तो उसमे अन्वयव्यतिरेकी निमित्तका स्थान है और इस जगतके आश्रयभूत पदार्थोका क्या स्थान है? देखो बात दोनो सत्य हो गईं।

(८८) **स्याद्वाद द्वारा समस्याओंका समाधान**—जैसे कोई चार अधे पुरुष हाथीका परिचय लेनेके लिए चले। तो हाथी खडा था। एक अधेके हाथमे टटोलते टटोलते पड गए पैर तो वह कहता है कि अरे हाथी तो खम्भा जैसा होता है, एकके हाथमे पड गई सूँड तो वह कहने लगा—अरे हाथी तो मूसल जैसा होता है। एकके हाथमे पड गए कान तो वह कहता है अरे हाथी तो सूप जैसा होता है और एक के हाथमे पड गया पेट तो वह कहने लगा—अरे हाथी तो ढोल जैसा होना है। अब वहाँ वे चारो अपनी अपनी बात रखकर आपसमे झगड रहे थे। वहाँ कोई सूझना पुरुष आया, बोला—अरे भाई तुम लोग आपस मे क्यो झगडते हो? तुम सबकी बात ठीक है। देखो जिसने पकडा पैर सो पैरोकी दृष्टिसे हाथी खम्भा जैसा है, सूडकी दृष्टिसे हाथी मूसल जैसा है। कानोकी दृष्टिसे हाथी सूप जैसा है और पेटकी दृष्टिसे हाथी ढोल जैसा है। तो बात समझ गए और चारो अधे शान्त हो गए। तो ऐसे ही समझिये कि ये दोनो कथन सत्य है। उपयोग निमित्तमे जुडायें तो विकार होता, न जुडायें तो विकार नही होता। यह बात सत्य है। पर निमित्त कौन-सा? आश्रयभूत निमित्त। विकार कौन सा? व्यक्त विकार और जो यह कहते है। उपयोग जोडनेकी बात कि निमित्तका सन्निधान होनेपर उपादान अपनेमे विकार उत्पन्न कर लेता है, उसकी बात सत्य है, जीवमे कर्मोदयरूप निमित्त पाकर उपादानमे विकार होता यह भी सत्य बात। अजीव पदार्थोमे तो बिल्कुल खुली बात यहाँ जोडने जानेका सवाल नही। उपादान व निमित्त दोनो अजीव हैं कौन किसमे उपयोग जोडे? जोडने वाली चीजका उपयोग जोडें, इसमे ठहरने वाली चीजका उपयोग जोडें, किसीका कोई उपयोग नही जोडता निमित्तका सन्निधान है तो उपादानमें अपना प्रभाव आ गया, अपना कार्य बन गया। हाँ यहाँ इतनी

बात अवश्य समझना कि तीन कालमे ऐसा नही हो सकता कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका परिणमन कर सके। प्रत्येक द्रव्य अपने आपमे अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप ही रहता है, अन्यके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप नही हो सकता है। सर्वत्र देख लो, अजीव अजीवके प्रसगमे जीव अजीवके प्रसगमे। जीव जीवमे तो उपादान निमित्तका सबध नही, यह भी बात आप समझ लो भले ही ऐसा लगता हो कि आपने पढाया, हमने पढ लिया तो भाई आपके निमित्तसे हमने पढ लिया यह बात तो ठीक है वहा उपचरित निमित्तकी अपेक्षा करना, आपसे मतलब चैतन्यशक्तिसे नही, चित्स्वभावसे नही, किन्तु इस पर्यायसे, जो वचन है वह अजीव, जिसको देखा वह अजीव मगर एक वास्तविक जीव। शुद्ध जीव, चैतन्य शक्ति वाला जीव। उसके लिए कोई जीव निमित्त नही होता। यह प्रसग चलता है। तो जीव अजीवमे और अजीव अजीवमे जो विकारकी बात चलती है तो इसमें यह बात समझना स्याद्वादका सहारा लो, वहा सर्व समस्यावोका समाधान है।

(८६) वचनोका आशय समझकर निर्विरोध होनेका संदेश—देखो जितने भी लोग हैं उन सबमें बुद्धि है और जो कुछ वे विचार कर कहते हैं आखिर हैं तो सब परमात्मस्वरूप और एक निश्चल भावसे कल्याणकी भावना रखते हुए, धर्मसे प्रीति रखते हुए बोलते है तो जरा कुछ उनकी भी तो मदद करो कि वे किस दृष्टिसे किस भावसे वे सत्य बोलते है। असत्य तो तब बनता कि जब एक नयकी बात पर आग्रह करके रह जाय और प्रतिपक्षनय को माने ही नही, तब उसका कथन सत्य होकर भी असत्य है। सत्य नो है एक दृष्टिसे, मगर उम दृष्टिका आग्रह करले और प्रतिपक्ष नयका निषेध करे तो सत्य कह कर भी वह असत्य रह जाता है। यही बात हुई है सब अन्य दर्शनोमे। क्षणिकव दियोने क्या पकड किया अगर वे यह कहते हैं कि पदार्थ अहेतुक है, पदार्थ एक क्षण ठहरता है। पदार्थका किसीसे ताल्लुक नही है। सर्व पदार्थ ऐसे पूर्व और उत्तर योगसे रहित हैं, उनने क्या अपराध किया यही तो जैन सिद्धान्तका ऋजुसूत्रनय भी कहता है कि पर्याय एक क्षणकी पर्याय अहेतुक है। उसकी दृष्टि दूसरे क्षण पर है ही नही। तो बतलावो कि जैनदर्शनमें जो ऋजुसूत्रनय कहता है वही बौद्धजन कहते हैं। क्या अपराध बन गया? अपराध यह हुआ कि उन्होने ऋजुसूत्र नयका एकान्त कर दिया कि पर्याय अहेतुक ही होती है। दूसरी बात मानना नही? जैसे कि ग्रन्थोमें लिखा है कि पूर्वपर्याय सयुक्त द्रव्य उत्तर पर्यायका उपादान होता है। यह है द्रव्यार्थिक नयका विषय और प्रतिसमयकी पर्याय अहेतुक होती है, बात यह ऋजुसूत्रनय द्रव्यार्थिकनयने बतायी। तो आप यह बतलावो कि जो पर्यायार्थिकनय ने बताया उसको मुख्य करके कहनेसे हितके लिए प्रेरणा मिली है क्या? द्रव्यार्थिकनयके विषयको मुख्य करके

प्रेरणा दिया कि उपादान आत्मा अपने भावोंको संभाले, पूर्वपर्यायसंयुक्त द्रव्य उत्तर पर्यायका उपादान होता है।

(९०) प्रतिपक्षनयका विरोध न कर द्रव्यार्थिकनयकी प्रधानतामें आत्महितकी गवेषणा—जैन दर्शनमे अनेक नय हैं, पर्यायार्थिकनयकी मुख्यता करके हितमार्गमे लगनेकी पद्धति जैन दर्शनमे बहुत कम है। ऋजुसूत्रनयकी बात किसी प्रसंगमे कही जाने वाली चीज है। क्योकि वह ऋजुसूत्रनयका विषय तो है ना, उसे कह दिया है सर्वार्थसिद्धि ग्रंथमे देखो। अन्य जगह भी कहा है इस प्रसगमे। पर उस प्रयोगकी मुख्यता करके वर्णन नही है पर्यायार्थिकनयकी बातका। द्रव्यार्थिककी अपेक्षा तो यह आयी है कि पूर्वपर्याय सयुक्त द्रव्य उत्तर पर्यायका उपादान है और ऋजुसूत्रनयका यह विषय है कि पर्याय तो एक समयका है। उसका हेतु क्या, उसका अन्यसे सम्बध क्या ? सो उसका विषय गौण रूपसे वर्णित है, जैसा कि बौद्ध जन मानते हैं। बौद्धोका दर्शन देखो। ऋजुसूत्रनयका दर्शन इतना गौणरूपसे वर्णित है जैन ग्रन्थोमे कि उस नयका नबर प्रसग आनेपर ऋजुसूत्रनयके विषयकी बात बतानेका प्रकरण होनेपर कहा जाता है। न कि ढोल पीटनेकी तरह कहा जाता है। आप अन्तर देखें, तभी तो आगममे द्रव्यार्थिकनयको प्रधान बताया गया है। देखो क्या बात कह रहे है कि बात सब सत्य है, पर आग्रह हो जाय और प्रतिपक्षका निषेध हो जाय तो सत्य होकर भी असत्य है। जैसे मोटा दृष्टान्त लो—बतलावो जीव नित्य है कि अनित्य ? अब जिसने जो अपनी दृष्टि बनाया होगा वह वैसा उत्तर देगा। हर जीव द्रव्यकी दृष्टि बनाये है कि जीव द्रव्य है, जीव सत् है, जीव अनन्तानन्त है। तो कहेगे कि जीव नित्य है, और जिसने पर्यायदृष्टि बनायी है, पर्यायको मुख्य करके देखें तो जीवमे प्रतिसमय नवीन पर्याये होती है और वे पर्यायें एक क्षण ठहरती है, दूसरे क्षण नही रहती। जीव अनित्य है, जो सुबह है वह दोपहर नही, जो दोपहर है वह शामको नही। विचार विकार तरग, और जो इस भवमे है वह अगले भवमे नही। तो जीव अनित्य है, ऐसे दो प्रकारके दिमाग वालोने दो बातें कही। अब ये दोनो ही अपनी-अपनी हठपर अड जायें, द्रव्यार्थिकनयसे देखा तो कहा कि सर्वथा जीव नित्य ही है, अपरिणामी है, कूटस्थ नित्य है, उसमे परिणाम है ही नही विकार है ही नही, ऐसा कोई एकान्त कर ले तो द्रव्यार्थिक दृष्टिसे सत्य बोल रहे थे, मगर एकान्त कर लिया तो वह असत्य हो गया। उसमे वस्तुका स्वरूप नही बनता, ऐसे ही पर्यायका एकान्त करके कोई कहे कि जीव तो क्षण-क्षणमे नया नया है। दो क्षण भी नही ठहरता एक जीव, क्योंकि उसने देखा पर्यायको, और उस पर्यायको मान लिया सम्पूर्ण जीव। वह तो दूसरे क्षण भी नही ठहरता, वह तो अनित्य ही है, ऐसा एकान्त कोई कर ले तो वह भी असत्य है। तब द्रव्यार्थिक पर्या-

यार्थिक दोनो नयोकी सधिका महत्त्व है जैनदर्शनमे । फिर करे क्या ? जब जिस दृष्टिको मुख्य करके हमे आत्मस्वभावका दर्शन हुआ उस द्रव्यको मुख्य करके स्वभावदर्शन किया जावे ।

(६१) **अन्तस्तत्त्वका परिचय कर उसमे लीन होनेके पौरुषमे ही कल्याणलाभ**—निचोड यह है आत्माके स्वभावके परिचय विना, ज्ञान विना और स्वभावमे मग्न हुए विना ससारके सकट नही मिट सकते । मुक्ति मिलेगी तो अतस्तत्त्वके परिचयसे मिलेगी । आत्म-बोध करें, आत्मज्ञान करें, आत्मामे मग्न हो । जैसे—लोग रमते है ना विषयोमे, भोगोमे, पदार्थोमे तो वह भी एक ऊपरी वात ही तो है । वोलो कोई रम सकता है क्या मकानमे ? आप यहाँ वैठे हैं, मकान वहाँ धरा है, केवल कल्पना ही तो करते । यह रम सकता है क्या किसी दूसरी बातमे ? तो जब ये भोग विषयरम्य नही है, रमने लायक नही है, आखिर छोडकर जाना ही तो होगा, कितने दिनकी वात है ? यह वैभव, यह धन, यह संयोग कितने समयकी बात है ? कुछ प्राण निकल जानेका समय नियत है क्या ? अर न जाने कब किसका प्राणान्त हो जाय । चलते-फिरते, उठते वैठते, लिखते पढते न जाने कब प्राणान्त हो जाय । प्राणान्त हो जानेका समय कोई नियत नही । ऐसा असार ससार है, इसमे किसी भी वाह्य-पदार्थमे मग्न मत हो, लगाव मत लगावो, बाहर दृष्टि दो अपने आत्माके स्वरूपकी । भला होगा तो आत्मज्ञानसे ही होगा । उस आत्मद्रव्यको समझें और ज्ञानमात्र एक स्वभावरूप अपनेको अनुभव करें । मै ज्ञानमात्र हू, ऐसी अपनेमे दृष्टि दें, ऐसा अनुभव बनायें । ये विक-ल्प छोडें कि मे व्यापारी हू, मैं अमुक हू, मैं पुरुष हू । मैं स्त्री हू, ये भी विकल्प अनुभवमे बाधक है, क्योकि ये सारे विकल्प जब होते तब शरीरमे मग्न रहते हैं । आप सोच लो—मैं व्यापारी हू, ऐसा कोई तब कह सकता, जब कि चित्तमे चैतन्यस्वरूप समाया हो । जब शरीर का भान है तब कहेगे कि मैं व्यापारी हू, तब कहेगे कि मैं अमुक हू । तो ये सारे जितने बाह्य विकल्प है ये सब शरीरके आश्रित हुए ना । तो इन विकल्पोका परिहार करें और अपने आ-पके भीतर जो एक विशुद्ध चैतन्यशक्ति है उस आत्मतत्त्वका अनुभव करें ।

(६२) **बाह्यविकल्प त्यागकर उपयोगभूमिको स्वच्छ बनानेका कर्तव्य**—जैनदर्शनके उपदेशका सार कितना है, उपदेश बहुत है, ग्रन्थ बहुत हैं, पर सार यह है कि अतरग बहिं-रग विकल्पका त्याग और अपने आपको सहज ज्ञानस्वभाव रूप अनुभव करो । धीरे-धीरे उप-योगको स्वच्छ करके बाह्यमे विकल्प न जाय, इसके लिए अगर सारा जीवन लग जाय एक उपयोगकी स्वच्छता करनेके लिए तो समझो कि हम बहुत बडा काम कर रहे । एक राजाके पास दो चित्रकार आये । एक था मानो इटलीका चित्रकार और एक था जापानका । राजाने दोनो चित्रकारोसे कहा कि तुम दोनो इस हालमे एक एक भीतपर सुन्दरसे सुन्दर चित्रकारी

करो, जिसकी चित्रकारी विशेष अच्छी होगी उसको पुरस्कार मिलेगा।....ठीक है। बीचमे एक पर्दा डाल दिया गया। तो इटलीके चित्रकारने क्या किया कि कई तरहके मसाले ला लाकर एक तरफकी भीतको रगडना शुरू किया। वह ६ माह तक रगडनेका ही काम करता रहा और उधर दूसरी भीतपर जापानी चित्रकारने नाना प्रकारके रंग ला लाकर चित्र बनाना शुरू किया, वह भी ६ माह तक चित्र बनानेका काम करता रहा। जब ६ माह पूरे हो गए तो राजाने बीचका पर्दा हटा दिया और दोनो चित्रकारोकी चित्रकारी देखना शुरू किया। तो वहाँ क्या देखा कि इटलीके चित्रकारने जो भीतको ६ माह तक घुटाई की थी उसमें दूसरी भीतपर बने हुए चित्रोंका प्रतिबिम्ब पड रहा था जिससे चित्र बडे कातिमान दिखाई पड रहे थे, और दूसरी ओर जापानी चित्रकार द्वारा बनाये गए चित्र बड़े भद्दे मालूम पड रहे थे। आखिर इटलीके चित्रकारने पुरस्कार प्राप्त किया। तो भाई अपनी इस उपयोग भीतको पहले घिसो, खूब रगडो मननसे, चिंतनसे विचारसे, और फिर जो करेंगे क्रिया, व्रत, सयम आदिक जो कुछ करेंगे वह विधानसहित, विधिपूर्वक सहजभावसे होगा। इसमे तीन बातें समझनी हैं, एक तो निमित्त दो प्रकारके—आरोपित निमित्त और अन्वयव्यतिरेकी निमित्त, और विकार दो प्रकारके— बुद्धिपूर्वक विकार और अबुद्धिपूर्वक विकार, बस ये दो रूप समझ लिया तो इस प्रश्नके समाधानमे सन्देह नही रह सकता। तो यहाँ अन्वयव्यतिरेकी निमित्त है। अन्तरग निमित्त कहो, कर्मोदय कहो, बधन उपाधि कहो, इन सब शब्दोका समयसारमे प्रयोग किया गया है और उपचरित निमित्तके लिए उपचरित निमित्त है—आश्रयभूत निमित्त कहो, बहिरग निमित्त कहो, नोकर्म कहो, विषयभूत निमित्त कहो, ये सब एकार्थक है। आप ही समझो शास्त्रोमे कर्म नोकर्म ये दो बताये कि नही। कर्म भी निमित्त हैं और नोकर्म भी निमित्त है। विकारके लिए। अगर दोनो ही इस प्रकारके हो कि जिसमे हम उपयोग जोडें निमित्त हो तो इसके कहनेकी क्या जरूरत थी ? वे तो एक ही प्रकारके कहलाये। तो उनमे एक विवेक बनायें कि जगतमे जितने भी पदार्थ हैं ये सब आरोपित निमित्त हैं। कुछ परतत्र नही है कि ये पदार्थ हमको रागद्वेष करा ही दे। हम इनमे जुडते, इनको ख्यालमे लेते, राग करते, द्वेष करते, इसलिए अपनेका परतंत्र अनुभव करें कि हम बडे बधनमे है।

(६३) उपचरित निमित्तोको महत्त्व न देकर निज महान् ज्ञानस्वभावमे प्रीति करने का अनुरोध—लोग कहने लगते कि अभी तो हमारी कच्ची गृहस्थी है पर हम तो यह नही जानते कि गृहस्थी पक्की कब कहलाती ? और फिर गृहस्थी कच्ची है तो वह तो बध नही सकती, पक्की ही तो बधेगी। गृहस्थी पक्की हो जाय या कच्ची हो, जब उसमे उपयोग जोडो तभी वे निमित्त बनते है, उनमे उपयोग न जोडो तो वे निमित्त नही होते। राजा जनककी

एक कथा बहुत प्रसिद्ध है। वह एक योगी कहलाते थे। तो एक गृहस्थ अपनी गृहस्थीमे बडा दु:खी होकर राजा जनकके पास पहुचा और कहा——महाराज मैं क्या करू ? मैं तो गृहस्थीसे बहुत दु:खी हू, मैं तो गृहस्थीसे बंधा हुआ हू। गृहस्थीने मुझे जकड रखा है। तो राजा जनक ने उत्तर तो कुछ न दिया, पर सामने खड़े हुए एक खम्भेको अपनी जोटमे भर लिया और कहा अरे रे रे भाई मुझे छुडावो, देखो इस खम्भेने मुझे पकड लिया। तो वह गृहस्थ बोला— राजन् आप तो वडे बेवकूफ मालूम होते हैं। हमने तो सुना था कि आप वडे बुद्धिमान हैं, इसीसे हम आपके पास आये थे, पर आप तो हमसे भी अधिक मूर्ख मालूम होते है। अरे आपने स्वय ही इस खम्भेको पकड रखा है फिर भी आप कह रहे कि इस खम्भेने मुझे पकड लिया। तो राजा जनक बोले—बस यही तो तुम्हारा उत्तर है। तुम भी तो मूर्ख मालूम होते हो। अरे गृहस्थीको तुमने स्वय पकड रखा है, अपने चित्तमे बसा रखा है फिर भी कहते हो कि गृहस्थीने मुझे पकड रखा। तो जिसमे अपना उपयोग जोडो वही निमित्त होता है। जिसको हमने जाना उसीमे उपयोग जुड सकता। तो जो ज्ञात निमित्त है, जो वास्तविक निमित्त है, आश्रयभूत निमित्त है उसमे उपयोग जोडा तब विकार व्यक्त होता है, पर कर्मो-दय है, अज्ञात अज्ञातमे उपयोग तो नही जुडता, अज्ञातके निमित्तसे ज्ञातका तिरस्कार हो जाता है और ज्ञातमे अज्ञातका भी तिरस्कार हो जाता है, किन्तु उपयोगका जुडना ज्ञात नही होता। तो ज्ञातका तिरस्कार ज्ञातसे भी होता और अज्ञातसे भी होता है। उसके बादका वर्णन अब आगेके निबन्धोमे आयगा, अभी तो इतना तात्पर्य समझना कि उपयोग दो प्रकारके होते——व्यक्त और अव्यक्त। निमित्त दो तरहके होते—अन्वयव्यतिरेकी निमित्त और आरोपित निमित्त। आरोपित निमित्तमे उपयोग जोडें तो व्यक्त विकार होता है न जोडे तो नही होता और अन्वयव्यतिरेकी निमित्तका सन्निधान पाकर अगर उपयोग इन बाहरी पदार्थोंमे न जोडें तो अव्यक्त विकार मिलकर व्यक्त विकार नही हो सकता। तो जो इन विषयोमे उपयोग न जोडनेका तपश्चरण करे उसके यह सभव है कि अव्यक्त विकार भी दूर अवश्य हो जायगा।

—०—

(२०)

(९४) **उत्पादशीलता होनेपर भी विकारपरिणमनकी स्वपरप्रत्ययकता**—जगतमे जितने भी पदार्थ हैं वे सब स्वयं उत्पाद व्यय ध्रौव्य सहित होते हैं तो प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण नई अवस्था बनाता है, पूर्व-पूर्व अवस्था विलीन करता है और वह पदार्थ सदा बना रहता है, उसे

एक दृष्टान्त लो—एक अंगुली है, अभी यह सीधी है, अब यह टेढी हो गई तो क्या हो गया कि टेढेपनका तो उत्पाद हुआ और सीधीपनका विनाश हुआ, और अंगुली बराबर वही बनी रहती है। जो सीधमे थी वही अब टेढमे है। अंगुली वही है। और अगुलीमे ऐसी अवस्था नई बनी और पुरानी अवस्था मिट गई यह एक दृष्टान्त है, इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ स्वय ही अपने द्रव्यत्व गुणके कारण नई-नई अवस्थायें बनाता है, जो जहाँ नई अवस्था बनी वहाँ पुरानी अवस्था विलीन होती है और वस्तु वहीका वही रहता है, ऐसा सभी पदार्थोंका नियम है, पर साथ ही साथ यह भी विचारें कि पदार्थ केवल अपने ही प्रत्ययसे परिणमन करे तो उसमे स्वभाव परिणमन होगा। विभाव परिणमन, विकार परिणमन न होगा। क्यो न परिणम होगा क्या वजह है कि पदार्थ जब अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्य व्रतको लिए हुए है तो उस मे अपने आप विकार परिणमन न हो। समाधान—देखो अपने आपमे अपने स्वभावके अनुरूप उत्पाद होना चाहिए, स्वके ही प्रत्ययसे विषम पर्याय कैसे बन सकती है? वहाँ यह मानना ही होगा कि उसके साथ किसी पर उपाधिका सम्बध है तब यह विकाररूप परिणमा। देखो निमित्त और उपादानका सम्बन्ध इतना ही भर है कि योग्य उपादान अपनेमे विकार उत्पन्न करता है, किन्तु इस वाक्यमे यह समझ लिया होगा कि निमित्त उपादानमे विकार नही करता और निमित्तके सन्निधान बिना विकार नही होता। यह नियम समस्त पदार्थोंके लिए है। जो जो पदार्थ विकाररूप परिणमते है; विकाररूप परिणम सकने वाले पदार्थ दो ही प्रकारके होते है—जीव और पुद्गल। शेष पदार्थोंमे विकार परिणमन नही होता। धर्मद्रव्यमे निरन्तर स्वभाव परिणमन है। अधर्मद्रव्यमे भी स्वभाव परिणमन आकाश और कालद्रव्यमे भी स्वभाव परिणमन चलता है। विभाव परिणमन केवल दो द्रव्योमे है—जीव और पुद्गलमे। सो विभाव परिणमनमे जो कुछ भी होगा वह पर पदार्थ उपाधिका निमित्त पाकर होगा। होगा उपादानमे, उपादानकी परिणतिसे ही, निमित्त उपादानकी परिणति न कर देगा। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका परिणमन नही करता, सभी पदार्थ अपने आपमे अपना ही परिणमन कर रहे है, पर निमित्तयोग होनेपर विकृत परिणमन होता है और परप्रत्यय न हो तो वहाँ विकृत परिणमन नही होता।

(९५) **दृष्टान्तपूर्वक विषम कार्यकी स्वपरप्रत्ययकताकी सिद्धि**—देखो एक मोटा दृष्टान्त। जैसे रेलगाडी चलती है तो इजन कैसे चलता है? बस चलता ही जाता है और जब कभी दिशा बदलनी होती है, पूरबसे चलती है अब दक्षिणको करना है तो पेटमैन होता है जो लाइन बदलता है। उस बदली हुई लाइनका सन्निधान पाकर इजन भी दक्षिणकी ओर चल देता है। इजन स्वय अपने आपकी ओरसे जिस वेगसे चल रहा था उसमे स्वय यह बात नही पडी है कि वह अपनी ओरसे दक्षिण दिशामे चला जाय। गया यद्यपि अपनी

ही शक्तिसे, अपने ही परिणमनसे लेकिन आंखोसे देख ही तो रहे हैं सब कि इस प्रकार जो दक्षिणकी ओर इंजन गया तो पटरी बदलनेका निमित्त पाकर गया। तो निमित्तने इंजनकी गति नही बना दी। इंजन तो स्वय गतिशील है, मगर यह भी दिख रहा कि उस बदलका निमित्त पाकर इंजन दक्षिणकी ओर गया, ऐसे ही सर्वत्र नियम है कि प्रत्येक पदार्थ परिणमते तो है अपने आपकी परिणतिसे ही लेकिन विभाव परिणमन जो होता है उसमे कोई पर पदार्थ निमित्तमात्र अवश्य है, अन्य किसी उपाधिके सन्निधान बिना विकार परिणमन नही होता। तो देखो इतनी बात सब द्रव्योके लिए लागू है। अब केवल जीवद्रव्यके विकारकी बात लो। पुद्गलमे उपादान एक क्यो होता है और जीव विकारके प्रसगमे निमित्त दो प्रकारके होते हैं एक होता है अन्वय व्यतिरेकी निमित्त और दूसरा होता है आश्रयभूत निमित्त। जीवमे जो प्रकट विकार होता है, बुद्धिपूर्वक विकार होता है वह इस प्रकार होना कि कर्मविपाकका निमित्त पाकर और इस जगतके आश्रयभूत पदार्थोंमे उपयोग जोडकर यह जीव अपनी परिणतिसे अपनेमे विकार उत्पन्न कर लेता है। तो देखो निमित्तमे दो बातें आयी ना एक तो अन्वय व्यतिरेकी निमित्त पाया दूसरे जगतके जो बाह्य पदार्थ है, आश्रयभूत पदार्थ है उनमे उपयोग जोडा तो बाह्य आश्रयभूत पदार्थोंमे उपयोग जोडा सो विकार व्यक्त होता है और अन्वय व्यतिरेकी निमित्तमे उपयोग नही जोडा जा सकता। वह तो अजीव अजीवमे जैसा निमित्त उपादानका सम्बन्ध है उसी नातेका सम्बन्ध अन्वय व्यतिरेकी निमित्त और जीवके विभाव पर्यायमे है। वहां यह जीव बाह्य पदार्थोंमे उपयोग नही जोडे तो वहाँ व्यक्त विकार तो नही होता, लेकिन कर्मविपाकका सन्निधान हो तो इसमे अव्यक्त विकार हो ही जाता है। अव्यक्त विकार शिथिलताको लिये हुए है।

(९६) **आश्रयभूत निमित्तोके साथ जीवविकारके अन्वयव्यतिरेक सम्बन्धका अभाव**— यहाँ अन्वयव्यतिरेकी निमित्त और आश्रयभूत निमित्त दो की चर्चा चल रही है। ये दोनो अलग-अलग बातें हैं, जिनको जैन सिद्धान्तमे कर्म और नो कर्म ये दो भेद कहे है। कर्म तो है वास्तविक निमित्त और नो कर्म है आरोपित निमित्त उसमे उपयोग जोडें तो निमित्त बने न जोडें तो नही बनता है ऐसी इन दो निमित्तोके सम्बन्धमे बात चल रही है कि कर्म उदय विपाक है अन्वय व्यतिरेकी निमित्त। अन्वयव्यतिरेकी निमित्त किसे कहते हैं जिस कर्मविपाकके होनेपर ही जीवमे विकार होता है और कर्मविपाक न होनेपर जीवमे विकार नही होता, ऐसा अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध जहा पाया जाय, जिस निमित्तमे पाया जाय उसे कहते हैं अन्वय व्यतिरेकी निमित्त। सर्वत्र यह जानना कि परिणमन तो पदार्थका अपने आपमे अपनी ही परिणतिसे होता है किन्तु जो विभाव है वह मात्र स्व प्रत्ययक नही होता। वह होता है

स्वपरप्रत्ययक । तो अब आश्रयभूत निमित्त क्या है ? आश्रयभूत निमित्त वह है जिससे बाह्य पदार्थोंमे उपयोग जोडा जावे । वहा उपयोगके जोडनेपर कर्मोदय विपाकज विकार व्यक्त जग जाता है ऐसे जिन बाह्य पदार्थोंमे हम लगाव लगायें, उनमे अपना चित्त दें तो वे बाह्य पदार्थ निमित्त कहलाते है । वे उपचरित निमित्त हैं, आरोपित निमित्त है । वास्तविक निमित्त नही हैं । इन आश्रयभूत निमित्तोके साथ जीवके विकारका अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध नही जैसे क्रोध आया और किसी बच्चेपर आया, बच्चेका क्रोधके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नही कि बच्चा होने पर ही क्रोध जगे । बच्चा न हो तो क्रोध न जगे । बच्चा होनेपर भी क्रोध न जगे । बच्चा न होनेपर भी क्रोध जग जाय, तो वहा अन्य कोई आश्रयभूत निमित्त बन जाता है । इन आश्रयभूत निमित्तोका जीवविकारके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नही है । तो यहाँ दो प्रकारके निमित्त ध्यानमें आये ना जिनका सिद्धान्तमे स्पष्ट वर्णन है । तो यहाँ क्या तात्पर्य निकला कि आश्रयभूत निमित्तमें जब उपयोग जुडता है तब विकार व्यक्त हो जाता है । होता है यद्यपि इस जीवमे ही मगर कर्मोदय विपाक निमित्त है और बाह्य पदार्थ याने नो कर्म ये आश्रयभूत निमित्त हैं ।

(९७) **आश्रयभूत विषयोमे उपयोग न जोड़नेका मोक्षमार्गमे सहयोग**—अब देखो उपयोग कहाँ जोडा गया ? जगतके इन बाह्य पदार्थोंमे ? और कहो कि कर्मोदयमे उपयोग जोड देंगे तो बतलावो एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और ये पञ्चेन्द्रिय, क्या ये जानते हैं कि ये कर्म अब उदयमे आये है, अब निकले है ? ऐसा कोई ज्ञात तो नही होता । जो चीज ज्ञात नही है उसमे लगाव कैसे लगाया जाय ? तो कर्मोदय विपाकमे उपयोग नही जुडता । इसका तो जीव विकारके साथ ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है जैसा अजीव पदार्थोंका अजीव पदार्थोंके साथ होता है । अब एक पुनः इस घटनाको समझ लीजिए । अशुद्ध जीव है और उसके साथ कर्मका बन्धन है । जब कर्मका उदय विपाक होना है तो उस समय जीवके उपयोगकी स्वच्छताका तिरस्कार हो जाता है, दब जाता है । ऐसी स्थितिमे यदि यह जीव इन बाहरी आश्रयभूत पदार्थोंमे उपयोग जोडता है तब तो हो जाता है विकार व्यक्त और इसमे उपयोग नही जोडता है तो विकार रह जाता है अव्यक्त । देखो अज्ञानी तो प्रतिक्षण किसी बाह्य विषयमे उपयोग जोडे रहता है । ज्ञानी पुरुषमे ऐसी कला है कि वह बाह्य पदार्थोंमे उपयोग जोड़े तो व्यक्त विकार हो और उपयोग न जोडे तो व्यक्त विकार न हो, ऐसी स्थितिमे जब कि वह इन पुत्र मित्र मकान आदिकमे अपनी ममताका लगाव नही रखता तो ये कर्म जो पहले बंधे है वे शिथिल होकर क्षीण हो-जाया करते है । पौरुष चलेगा हमारा बुद्धिपूर्वक कामके लिए । बुद्धिपूर्वक काम यही है कि इन बाह्य पदार्थोंको ध्यानमे लाने ।

उपयोग इसमे लगाते और यहाँ व्यक्त विकार बनाते। पुरुषार्थ क्या करें कि किसी भी बाह्य पदार्थको अपने उपयोगमे मत लावें, किसीका ख्याल न करें, एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप अर्थात् अपने आपकी सत्ताके कारण जो चित्का स्वरूप है वह मेरे ध्यानमे रहे तो भव भवके बांधे हुए कर्म क्षणमात्रमे खिर जायेंगे। सो अपनेको पुरुषार्थ यही करनेको है कि इन्द्रियके विषयभूत पदार्थोंमे अपना उपयोग न जोड़ें। हुआ क्या यहाँ कि कर्मोदय विपाक हुआ, उसका सन्निधान पाकर ज्ञानका तिरस्कार हुआ, स्वच्छता दब गई। उस कालमे घबड़ाता हुआ यह जीव अपने सुखके लिए ऐसा निर्णय बनाये हुए था ना कि पञ्चेन्द्रियके विषयोमे अनुभव जगा तो शुभ हो गया तो यह बाह्य पदार्थोंमे उपयोगको जोडता है और वहाँ विकार व्यक्त हो जाता है। विकार न जोडे तो विकार अव्यक्त रहेगा, और विकारका मूल जो कर्म है वे कर्म भी खिर जायेंगे और इससे हम मुक्तिके निकट पहुच जायेंगे।

—o—

(२१)

(६८) **अन्वयव्यतिरेकी निमित्त व आश्रयभूत निमित्तका विश्लेषण**—जीवमे रागादिक विकार होते हैं। इस प्रसगमे स्वय ही आप ही आप परके सम्पर्क बिना जीवमे ऐसा विकार हो, स्वप्रत्ययक हो तब वह स्वभावभाव बन जायगा। तब जैसा कि आगम कहता है, युक्ति कहती है, अनुभव कहता है, कोई परउपाधि सपर्कमे होता है तब विकार होता है। तो उन्हे ही निमित्त बोलते हैं। तो निमित्तकी जो प्रकारता बतायी जा रही है एक अन्वयव्यतिरेकी निमित्त, दूसरा आश्रयभूत निमित्त। खूब ध्यानसे सुनो—निमित्तका उपादानमे न द्रव्य जाता, न क्षेत्र जाता, न काल जाता, न भाव जाता, न प्रभाव जाता। निमित्तका कुछ भी अश उपादानमे जाता नही, मगर निमित्त योग बिना विकार होता नही। वहाँ यह ही समझना कि निमित्तका सन्निधान पाकर उपादान स्वय उसरूप हो जाता है। तब उन निमित्तो मे दो प्रकार हो गए—अन्वयव्यतिरेकी निमित्त और आश्रयभूत निमित्त। जहाँ कहा वास्तविक निमित्त और उपचरित निमित्त। अन्वयव्यतिरेकीका अर्थ है कि जीव विकारके साथ कर्मका अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध है, कर्मोदय हो तो जीव विकार हो, कर्मोदय न हो तो जीव विकार न हो, ऐसा सम्बन्ध जहाँ हो उसे अन्वयव्यतिरेकी निमित्त कहते है, और जहाँ अन्वय व्यतिरेकी तो नही है, पर जिसमे उपयोग जोडा जावे तो निमित्त कहलाता है उपयोग न जोडे तो निमित्त न कहलाये ऐसा जो बाहरी समागम है उसे कहते है आश्रयभूत निमित्त।

इन दोनोका एक दृष्टान्त ले लो। जैसे किसी मनुष्यको क्रोध उत्पन्न हुआ, जो कि दिख गया, व्यक्त हो रहा कि यह गुस्सामे आ रहा। तो वहाँ देखो क्रोधप्रकृतिका उदय न हो तो क्रोध बन जायगा क्या ? क्रोध प्रकृतिका वहाँ उदय है, यह तो हुआ अन्वयव्यतिरेकी निमित्त और साथ ही वह नोकरपर या पुत्रपर किसीपर क्रोध बन रहा, नही तो जो स्पष्ट क्रोध है उसका स्वरूप क्या ? किसी व्यक्तिपर, किसी पदार्थपर उपयोग जोडते हुए यह क्रोधी बनता है, तो जिसमे उपयोग जोडा गया वह कहलाता है उपचरित निमित्त (आश्रयभूत निमित्त)।

(६६) अन्वयव्यतिरेकी निमित्तमें प्रतिनियतता व आश्रयभूत निमित्तमें अनियतता— अन्वयव्यतिरेकी निमित्त व आश्रयभूत निमित्त दोनोका अन्तर आयगा आगे समझनेमे, पर थोडा स्थूल रूपसे इतना तो ध्यानमे है कि इन दो प्रकारके निमित्तोमे परस्पर अन्तर है। तो जैसे जीवने किसी नोकरपर क्रोध किया तो वहाँ अन्वयव्यतिरेकी निमित्त है वह नोकर, जिसपर क्रोध चल रहा, यह भी आप देखेंगे कि अन्वयव्यतिरेकी निमित्त तो होता है प्रतिनियत और आश्रयभूत निमित्त नियत नही होता। जैसे क्रोध आयगा कब ? जब क्रोधप्रकृति का उदय हो। नियत बन गया ना ? अन्य प्रकृतिके उदयमे नही, मगर आश्रयभूत निमित्त मे नियतपना नही कहा। नोकरपर उपयोग जोडकर क्रोध आ गया, पुत्रपर क्रोध आ गया या अन्य किसीपर उपयोग जोडकर क्रोध हो गया, तो प्रतिनियत न रहा। जैसे कि कर्मविपाकका विकारके होनेमे प्रतिनियत है उस प्रकार से जगतके बाहरी पदार्थ प्रतिनियत निमित्त नही है, जो ध्यानमे आया उसीका आश्रय करके यह विकारी बनता है। लोग कहा करते हैं कि एक गुहेरा होता है वह जब मूत्र करता है तो किसी न किसीको काटकर, डसकर करता है। तो वहाँ बात यह है कि उस गुहेरेको कोई ऐसा शौक नही है कि वह किसीको डसता हुआ हो मूत्र करे, किन्तु उसके मूत्र करनेकी प्रकृति ही ऐसी है। न हो मनुष्य तो किसी लकडीको ही मुखसे काटकर मूत्र कर देगा। कुछ भी जीव मिले या अजीव मिले, यह उसकी ओरकी आदत है। तो ऐसे ही जब व्यक्त विकार होता है तो वह परपदार्थमे उपयोग जोडता है। तो इसकी ऐसी आदत है कि यह विकार बनता ही तब है जब किसी भी परपदार्थमे उपयोग जोडा जा रहा हो, किसी बाह्य पदार्थमे उपयोग जोडे बिना व्यक्त विकार नही होता, क्योकि इस विकारका फिर रूप क्या, मुद्रा क्या ? हाँ आश्रयभूत पदार्थका उपयोग न हो तो अव्यक्त विकार रह जायगा। तो जो आश्रयभूत निमित्त हैं उनमे तो प्रतिनियतपना नही है कि नोकर न हो तो क्रोध न होगा, जो विचारमे होगा उसीका आलबन लेकर क्रोध बना लेगा। जैसे गुहेरा किसी आदमीकी प्रतीक्षा नही करता, वह तो जीव मिले या अजीव उसको डसता हुआ ही मूत्र करता है, ऐसे ही यह उपयोग जो कुछ भी सामने मिले, जिसका भी

ख्याल आ जाय, कुछ सम्बध बन जाय, उसका ही आश्रय करता हुआ यह विकार उत्पन्न कर लेता है। तो आश्रयभूत निमित्तमे तो यह अटपट बात चलेगी, क्योकि वह उपचरित निमित्त है, वास्तविक निमित्त नही हैं। पर कर्मोदय विपाकमें अटपट बात नही चलती। वहाँ यह प्रतिनियतपना है कि दर्शन मोहका उदय होनेपर मिथ्यात्वभाव होता, साता वेदनीयका उदय होनेपर साता भाव होता, क्रोध प्रकृतिका उदय होनेपर क्रोध भाव होता, तो कर्मोदय विपाक तो एक वास्तविक निमित्त हुआ और जगतके ये बाहरी पदार्थ आश्रयभूत ये उपचरित निमित्त कहलाते हैं।

(१००) **निमित्तकी द्विविधताके परिचयमे सन्मार्गका प्रकाश**—देखो दोनो बातें सही समझो जायेंगी तो जिनागमकी सत्यता समझेंगे। कर्म, नोकर्म इनको कहनेकी क्या जरूरत? यह आवश्यकता है, यह भेद बताता है। एक दृष्टान्त दिया करते हैं कि कोई एक वेश्या मरी, उसको देखकर कामी पुरुष सोचता है कामविषयक बात, मुनि सोचता है उसके कल्याण वाली बात और कुत्ता शृगाल आदिक सोचते हैं कि ऐसे ही छोड जायें तो इससे हमारी क्षुधा मिटे। अब यहाँ यह बात देखेंगे कि जो साधु जन हैं उनका वास्तविक निमित्त वह मृतक वेश्या शरीर नही है, किन्तु १२ प्रकारकी कषायोका अनुदय है, क्षयोपशम है, इस कारण उनका भाव विशुद्ध हुआ। कामीके जो भाव हुआ उसमे वास्तविक निमित्त वह मृतक वेश्यादेह नही है, किन्तु उस प्रकारके बधका उदय है। तो ऐसा भाव हुआ, और शृगाल आदिकके असाता वेदनीयका उदय है और साथ ही उस प्रकारकी रतिका उदय है सो ऐसा भाव बना। अगर आश्रयभूतकी ओरसे देखें तो अटपट रहे ना। वही वेश्या मुनिके और प्रकारके परिणाम का निमित्त रहा, वही देह कामी और शृगालके और प्रकारका निमित्त रहा, तो ये दो बातें स्पष्ट जाननेमे आनी चाहिए कि अव्यक्त विकार तो होता है, उपयोग किसी आश्रयमे न पड रहा हो और व्यक्त विकार तब होता है जब किसी परवस्तुमे उपयोग जम रहा हो। तो देखो सभी ग्रन्थोमे जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, धवला, जयधवला सभीमे यह स्पष्ट हो जाता है कि हाँ वास्तवमे जीव विकारमे दो प्रकारके निमित्त हुआ करते है। अजीव विकारमे वहाँ एक ही प्रकारका निमित्त होता है, उपयोगमे जुडने न जुडनेकी बात नही है अजीवमे। जैसे आग पडी है पीछे पैर आ गया आगपर, तो वहाँ यह बात न चलेगी कि अरी आग हमने तो तुमको उपयोगमे ही नही लिया था, तू जला क्यो रही है? जलानेका कारण क्यो बन रही है? वहाँ तो जैसा योग है, जैसा उपादान है उस प्रकारसे वही बर्ताव होता है। तो जो पहले यह बताया था कि कर्मविपाक है अन्वयव्यतिरेकी निमित्त और ये बाहरी समागम है आश्रयभूत, उसका दृष्टान्तपूर्वक कुछ कथन किया गया है।

—०—

(२२)

(१०१) **अन्तरङ्ग निमित्त व बहिरङ्ग निमित्तका प्रतिपादन**—निमित्तकी द्विविधता के विषयको एक दूसरे प्रकारसे ध्यानमे लायें। एक होता है अन्तरगनिमित्त और दूसरा कहलाता है बहिरंग निमित्त। बात यही कही जा रही है जो पहले कहा गया था कि कर्म तो है अन्वयव्यतिरेकी निमित्त और जगतमे बाह्य पदार्थ हैं आश्रयभूत निमित्त इसीको इस तरह निरखें कि एक तो है अतरग निमित्त और दूसरा है बहिरग निमित्त जिसे हम उपचरित निमित्त कहते हैं जिसमे उपयोग जोडनेसे व्यक्त विकार होता है वह बहिरग है तो यह बात कैसे घटित होती है, क्यो कर्मविपाक अतरग है और क्यो ये बाह्य पदार्थ बहिरग हैं, उनका हेतु देखिये—कर्मविपाकको अंतरग निमित्त इस कारण कहा जाता कि वह अन्वय व्यतिरेकी है, एक क्षेत्रावगाही बद्ध है और स्वभाव तिरस्कारमे वह हेतु है और उनका प्रतिफलन हो गया, अन्वरित है, इस कारण कर्मविपाकको अतरग निमित्त कहते हैं। देखिये—इन दोनो निमित्तोमे अतरगपना और बहिरगपनाका विश्लेषण किया जा रहा है। अन्तरग निमित्त है कर्मविपाक। यह सिद्ध करनेके लिए चार बातें बतायी गई। प्रथम तो यह कि अन्वयव्यतिरेकी ये बाहरी पदार्थ मेरे विकारमें अन्वय व्यतिरेकी नही। पुत्र हो तब क्रोध हो, पुत्र न हो तब क्रोध न हो, ऐसा नियम तो नही बनता। तो अन्वय व्यतिरेक नही है इस कारण वह बहिरग कहलाता है और कर्मविपाकमे अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध है। अन्वय व्यतिरेकका अर्थ है कि जिसके होनेपर है और न होनेपर न हो जैसे कि अग्निके होनेपर ही धुवा होता है और अग्निके न होनेपर धुवां नही होता, यह बात तो आप प्रत्यक्ष घरमे देखते ही है। तो जिसके होने पर हो हो और जिसके न होने पर न हो, उसको उस कालके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध कहते हैं। जैसे किसीको घमड आया तो मान प्रकृतिका उदय होने पर ही आया। मान प्रकृतिका उदय न हो तो घमंड नही हो सकता है। अब वहाँ यह विशेषता है कि यदि यह जीव किसी बाहरी पदार्थका आश्रय ले तो वह मान व्यक्त हो जाता है, आश्रय न ले तो वह अव्यक्त रहता है। यहां खूब ध्यानसे सुनो अतरग निमित्त और बहिरग निमित्तमे क्या अन्तर है ? कर्मविपाक तो है अन्वय व्यतिरेकी और ये जगतके बाह्यपदार्थ हैं केवल आश्रयभूत, ये अन्वय व्यतिरेकी नही हैं इस कारण कर्मविपाकको तो अतरग निमित्त कहते हैं और बाह्य समागमको बहिरग निमित्त कहते हैं।

(१०२) **कर्मविपाककी अन्तरङ्ग निमित्तताका व बाह्य विषयोकी बहिरङ्गनिमित्तता के द्वितीय कारणका प्रदर्शन**—दूसरा हेतु दिखाया, कर्मविपाक एक क्षेत्रावगाही बद्ध है, जब कि दुनियाके ये विषय प्रसग ये बाह्य पदार्थ एक क्षेत्रावगाही बद्ध नही हैं। यहाँ दो विशेषण दिए

गए– एक क्षेत्रावगाही और बद्ध एकक्षेत्रावगाही। तो मेरे आत्माके प्रदेशोमे रहने वाले अनेक पदार्थ हैं। यह देह है, और, और भी पदार्थ है, लेकिन वे बद्ध नही हैं। तो जो बद्ध नही है, बाहरी क्षेत्रमे है वह कहलाता है बहिरग और जो अपने अतरग भावसे अन्वयव्यतिरेक रखता हो वह नीति कहलाती है अतरग। तो दूसरा हेतु है कि यह कर्मविपाक एक क्षेत्रावगाहो बद्ध है लेकिन ये बाहरी विषय प्रसग साधन ये एक क्षेत्रावगाही बद्ध नही हैं। यो अन्तरग निमित्त और बहिरग निमित्तमे अन्तर आया। अब तीसरा हेतु देखो कर्मविपाक तो होता है स्वभाव तिरोधानका हेतु अर्थात् आत्माका जो स्वभाव है उस स्वभावका तिरोधान होता है, इसका हेतु है कर्मोदय विपाक। जब जोडा तब, न जोडा तब, वह कर्मविपाक उदयमे आया तो वह स्वभाव तिरोधानका हेतु बन जाता है। चौथा हेतु है। अनिवारित प्रतिफलनका हेतु जैसे दर्पणके सामने हाथ करे तो उसको कोई रोक नही सकता कि न आये प्रतिबिम्ब और रोकेगा तो वही प्रतिबिम्बमे आ गया। तो यह कर्मविपाक प्रतिबिम्बका हेतु होता है इस कारण इसे अंतरग निमित्त कहते हैं। और बहिरग निमित्त ये जीवके विकारमे छाया आये ही आये, इसका निमित्त नही है। इस कारण ये कहलाते हैं वास्तविक निमित्त। हाँ तो जो एक यह चर्चा है कि उपयोग निमित्तमे जुडे तो वह निमित्त कहलाता है और उपयोगमे न जुडे तो वह निमित्त नही कहलाता। यह बात बहिरग निमित्तमे घटावो, कर्मविपाकमे न घट सकेगा, क्योकि कर्मविपाकका तो ज्ञान हुआ नही जीवको। ज्ञात है। जो अज्ञात है वह आश्रयभूत कैसे हो सकता है ? और ये विषयसाधन बाहरी पदार्थ ये ज्ञात है तब ये विकारके विषय बनते हैं। तो उपयोग जोडनेसे विकार हो, यह बहिरग निमित्तमे लगावो। अन्तरग निमित्तमे नही।

(१०३) **सम्पर्क व उपयोगरूप जुडानमे अन्तर**—वैसे तो जैसे निमित्तनैमित्तिक भाव होते हैं वैसी ही चीज चलती है, तो अतरग निमित्त मायने कर्मका उदय हो तो और कर्ममें उदीरणा हो तो वे दोनो ही अन्तरग निमित्त कहलाते है। तो अतरग निमित्त याने जिसका उदय आये, जिसकी उदीरणा हो, ऐसे कर्म इस विकार करने वाले जीवको ज्ञात ही नही है तो उसका आश्रय कैसे लें ? हां भूमिकाका जुडना तो है मगर ज्ञान द्वारा नही। जब कर्मका उदय होता है तो वहां ज्ञानस्वभावका तिरस्कार हो जाता है। तो इस प्रकारका जो तिरस्कार होता है, जिसे प्रतिफलन कहते हैं वह हुआ एक आलम्बन मगर बुद्धि वाला आलबन नही कि उपयोग जुडायें तब हो हो यह तो एक प्रतिफलित हुआ वह कर्मविपाक और जीवमे उसकी छाया माया पडी। इस तरह बहिरग निमित्त हो जाता है। इस सब चर्चासे शिक्षाकी बात क्या मिलती है ? देखो शिक्षा केवल एक ही है स्वभावदर्शन लेनेकी। इस स्वभावदर्शन

के सिवाय कुछ भी दूसरा तत्त्व आश्रयमे न आने दें। प्रतिफलन—सामने जो दर्पणके आगे हाथ किया तो हाथका आलबन हो गया, तो वहाँ जो आलंबनका अर्थ समझा ऐसा ही जीव के विकारमे भी समझें। तो शिक्षा हमको यह मिली कि जितने व्यक्त विकार होते है वे किसी बाह्य पदार्थका आश्रय विकल्प करना ही होता है। वे सब विकार दु.खदायी हैं इस कारण हमे इन बाहरी पदार्थोंका आश्रय न करना चाहिए, उपयोग न जोडना चाहिए। एक तो यह शिक्षा मिलती है, दूसरी यह शिक्षा मिलती कि कर्म कोई जबरदस्ती नही करते हैं कि तुम क्रोधी बनो, मानी बनो, ऐसा कर्मकी ओरसे कुछ भी जबरदस्ती नही है, वहाँ जो कुछ भी प्रश्न चलते है वे इसके ही अन्तरसे उठकर चलते है निमित्त पाकर। तो यहाँ यह समझना कि हमको कायर न होना चाहिए, निमित्त मेरेको विकार नही बनाते, किन्तु उस ही निमित्तका सन्निधान पाकर निमित्त पाकर विकारी बन जाता हू। बात दोनो है। वृक्षके नीचे आने वाले पुरुषको वृक्ष छाया नही देता। वृक्ष तो वृक्षमे है। वृक्ष अपनेसे बाहर क्या दे सकते ? लेकिन ऐसा ही योग है कि जो मनुष्य वृक्ष तले जायगा, वृक्षका संबध पायगा वह स्वयं अपने आप छाया ले लेगा। तो जैसे वृक्ष निमित्त बिना छाया नही, ऐसे ही समझो कि कर्मोदय बिना जीवके विकार नही। और जैसे यहाँ समझो, वृक्ष मुसाफिरको छाया नही देता, ऐसे ही यह समझो कि कर्मोदय जीवको विकारी नही बनाता, यह ही विकारकी आदत रखने वाला प्राणी योग्य अनुकूल निमित्त सन्निधान पाकर विकारी बन जाता है। बात यही है और सच्ची समझके बाद ही मुक्तिके मार्गकी बात बनती है। तो यहाँ यह बताया गया कि बुद्धिपूर्वक जो पदार्थमे विकारकी बात न करे तो ये व्यक्त विकार न रहेंगे और एक अपनेको रास्ता मिल जायगा, जिस रास्तेसे चलकर हम सिद्धप्रभु बनेंगे। श्रद्धा हो अपने आत्मस्वरूप की तो वहाँ फिर किसी प्रकारका विसवाद नही।

(१०४) **स्वभावके दर्शनकी हितरूपता**—स्वभावदर्शन ही हित है। स्वभावदर्शनके लिए पद्धति है अपने अतस्तत्त्वके आश्रय करने की, सो उन पद्धतियोसे हम कल्याण मार्गमे बढें तो यहाँ यह स्पष्ट किया गया कि बाहरी पदार्थोमे उपयोग जुडता है, कर्मोदयमे उपयोग नही जुडता। पर बाहरी पदार्थोंमे उपयोग न जोडें तो उसकी ऐसी धीरता वीरता उत्पन्न होती है कि उसका अव्यक्त विकार भी खतम होने लगता है। यह है दो प्रकारके निमित्तो की चर्चा। मगर इसमे कोई विपरीत भाव लायें, इन बाहरी पदार्थोमे उपयोग जोडे तो यह विकार बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है, न जोडे इस उपयोगको, बाहरी पदार्थोमे। रह अपने आपके घरमे, जैसा तेरा स्वरूप है, स्वभाव है उसके अनुकूल तू अपनेको बर्तता हुआ रह, इसमे ही कल्याण लाभ मिलेगा। अनुभवमे इतनी बात है कि व्रत तप सयम नियम करना ये ही

स्वभावके उचित वर्त्तव्य है, सम्यग्दर्शन सहित व्रत, तप आदिककी क्रियायें हो तो बनेगा मोक्षमार्ग । और सम्यक्त्व साथ नही है तो रहेगा सदाचार और उसका फल है पुण्यबध अगली गति उत्तम मिलेगी । वहाँ धर्मका प्रसग मिल जायगा । तो व्रत, तप, सयम आदिक सभी स्थिनियोमे आदरके योग्य सम्यक्त्व जग गया तो मोक्षमार्ग और न जगा सम्यक्त्व तो पुण्य बंध । तो सदाचार जितनी शक्ति हो उसके माफिक करना ही चाहिए ताकि हमारे उत्तरोत्तर विशुद्धता बढे, निर्मलता बढे कि हम अपने आपके बसे हुए सहज परमात्मतत्वका दर्शन कर सकें ।

—•—

(२३)

(१०५) **कर्म और नोकर्मके वर्णनका तथ्य**—ये ससारी प्राणी राग, द्वेष, मोह भाव के कारण दु खी हैं, अन्यथा जीवका स्वरूप तो सहज चैतन्यमात्र है । केवल प्रतिभास । उस मे कष्टका क्या काम ? जितना भी कष्ट है वह रागद्वेष मोहका है । सो कष्ट भी भोगते जाते है और राग, द्वेष, मोहको छोड भी नही सकते । यह स्थिति है ससारी प्राणीकी । जब जान लिया कि राग ही कष्ट है तो फिर राग क्यो नही छोडते ? द्वेष, मोह, कष्ट हैं तो फिर उन्हे क्यो नही छोडते ? न जानने वाले तो छोड ही क्या सकें ? जिनको परिचय ही नही कि राग द्वेष मोह ये कष्टरूप है, विकार है, मेरे स्वरूप नही, इनका जिन्हे पता नही वे तो छोडेंगे ही कैसे ? किन्तु यदि ज्ञानी जीवको पता भी हो गया कि ये राग और द्वेष कष्टरूप हैं, फिर भी वे क्यो नही छोडते ? इसका कारण विचारना होगा । तो सोचिये अब कारण । विकार होते समय जो हमारी समझमे आ सकता है, रागद्वेष विकारमे विकार होता है तब उस प्रसंगमे तीन पदार्थोंका प्रसग रहता है—कर्म, नोकर्म और अशुद्ध जीव । यह बात कठिन नही है । ध्यानसे सुनो और अपने अन्दरकी बात भीतरकी बात । कैसे हमपर उपद्रव आते है और उन उपद्रवोसे हम किस प्रकार छूट सकते हैं, यह बात यहाँ समझना है । तो पहले उपद्रवोकी बात समझो कि ये आते किस तरह है ? जिसमे विकार होते है, जो रागी द्वेषी बनता है वह तो है जीव उपादान और जिन पदार्थोंका ख्याल करके जिनमे उपयोग जोडकर ये रागद्वेष बनते है ये होते हैं नोकर्म और जिस कर्मविपाकका निमित्त पाकर ये सब घटनायें बन जाती है वे कर्मविपाक हैं निमित्त । सीधी सी बात यो समझो कि कर्मोदय निमित्त है और जिसमे हम अपना उपयोग जोडते हैं ख्याल बनाते है, स्त्री, पुत्र, मित्र मकान आदिक ये कहलाते है नो कर्म और जो जीव रागी बन रहे, द्वेषी बन रहे वे हैं उपादान ।

(१०६) **कर्म, नोकर्म व अशुद्ध उपादानका प्रसंग**—यहाँ तीन बातें सामने आयी—कर्म, नोकर्म और अशुद्ध जीव उपादान। इन तीनोका अर्थ समझो। कर्म क्या चीज ? पहले जब हमने रागद्वेष मोह किया था उस समय उनका निमित्त पाकर जो कार्माणवर्गणाओमे कर्मरूपता आती मायने कर्मबन्ध क्रिया, सो कर्म बँधते समय ही उनमे ये चार विभाग हो गए थे कि ये कर्म कैसे इस तरहका काम करेंगे ? प्रकृति बन गई थी और ये कर्म निषेक इतने समय तक ठहरेंगे तो यह कर्म निषेक इतनी डिग्रीका फल देगा और कर्म सो बँधे ही है। जैसे जब भोजन करते हैं ना और पेटमे भोजन चला गया तो वहाँ यह विभाग अपने आप हो जाता है कि कौनसी चीज क्या बन गई ? हड्डी बने, खून बने, मल बने, मूत्र बने, पसेव बने। होता है ना ऐसा। आखिर जिस भोजनको कहते है कि अब यह भोजन पच गया तो इसके मायने क्या कि उनमे अब कुछ सार सार बन गया और कुछ मल बनकर निकल गया। तो जो सारसा बना देहके लिए उसमे से कुछ हड्डी रूप बना, कुछ मासरूप बना, कुछ अन्य रूप बना। तो यह क्या बन गई ? प्रकृति। और अब कितने दिन तक ठहरेंगें ? जो हड्डी बने वे परमाणु कितने दिन तक रहेगे। जो मल बना वे कितने समय तक रहेगे। जो मल, मूत्र, पसेव आदिक बने वे कितने समय तक रहेगे, जो खून बना वह कितने समय तक रहेगा। है ना उसकी भिन्न-भिन्न बात। मल २४ घटे अधिकसे अधिक रहे या जिसका जो कुछ हो, मूत्र ६-७ घटे तक रहे देहके अन्दर, खून कुछ वर्षो तक रहे, हड्डी— ये और अधिक वर्षों तक रहे, तो ऐसी स्थिति उस भोजनमे पड जाती ना और अनुभाग हड्डीमे अधिक ताकत, खूनमे कम ताकत, मलमे कम ताकत, मूत्रमे और कम ताकत। अभी वैद्यक शास्त्र बताते है कि प्रत्येक मनुष्यके पेटमे कमसे कम ३ सेर तो मल हमेशा रहना ही चाहिए। जब नहो रहता है मल तो वह मनुष्य जल्दी मर जाता है। तो उस मलमे भी कोई शक्ति है। उसकी कितनी शक्ति और हड्डीकी कितनी शक्ति। उस शक्तिमे अन्तर है ना ? यह ही हो गया अनुभाग। और कितने प्रदेश कहा लगे हुए हैं ? यह हुआ प्रदेशबध तो ऐसे ही समझो कि जब जीवने रागद्वेष भाव किया, मोह किया तो कर्म बँधे और कर्ममे ये चार विभाग बन गए। अब आप समझते जाना कि जब यह कहा जाय कि निमित्तमे उपयोग जुडे तो विकार होता है या तब वह निमित्त कहलाता है यह बात नोकर्ममे घटित होगी या कर्ममे ? नोकर्ममे घटित होगी। जगतके इन बाह्य पदार्थोमे हम उपयोग जोडें तो वे निमित्त कहलावेंगे। और हम निमित्त न जोडें। उनका ख्याल न करें तो वे निमित्त नही कहलाते। पर कर्मविपाक जो कि बधके समयमे ही अनेक प्रकारसे निश्चित हो गया जब स्थिति पूरी हुई। उदय हुआ अथवा उदीरणा हो जाय तो उस समय इसका प्रतिफलन इस जीवसे होता है। यह है अनिवारित। अब ज्ञान

अगर साथ है तो नोकर्ममे उपयोग न जोडे यह उसकी विजय है। यदि ऐसा ज्ञानबल बनाये कोई ज्ञानी पुरुष तो विकार व्यक्त नही होता। और फिर जो जड रह गई, जो कि १०वें गुणस्थान तक चलती वह भी स्वय छिन्न होती जायगी।

(१०७) व्यक्त विकारके निर्माणकी पद्धति—यहाँ बातें तीन आयी—कर्म, नोकर्म व अशुद्ध उपादान जीव। कर्म तो वह कहलाया जो कर्म बाँधे गये। कहते ही है सब ऐसा कि ऐसे ही कर्म बाँधे। जिनको समझ भी नही कि कर्म क्या चीज कहलाते है और कैसे बनते है वे देहाती लोग भी कहते है कि भाई ऐसे ही कर्म बाँधे थे। बात तो बोल देते हैं तो उस कर्म मे जो कुछ पाया जाता है वह कर्ममे ही मिलेगा, नोकर्ममे और जीवमे न मिलेगा। क्या पाया जाता है ? रूप, रस, गध, स्पर्श, प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग, यह चीज कर्मके कर्मत्वमे ही मिलेगी, इसे कहते हैं अन्तर्व्याप्य व्यापक सम्बध। खुदमे ही व्यापे, खुदसे ही व्यापे ऐसी चीज कर्मकी कर्ममे है ? अब चले नो कर्म। कर्म मायने ससारके ये सारे पदार्थ। जो दिख रहे है, धन है, वैभव है, पुत्र मित्र है, शरीर है, कीर्ति है, ये उनके पदार्थ नो कर्म कहलाते हैं सो इन नो कर्मोमे हम उपयोग जोडें तो ये निमित्त है, न जोडें तो निमित्त नही। तो इन नोकर्मोका जो कुछ भी हो रूप रस गध स्पर्श आदिक इनका अन्तर व्याप्य व्यापक सम्बध उस नोकर्ममे ही है। अर्थ क्या है सीधा कि जैसे किसी पुत्र पर गुस्सा आया तो पुत्र कहलाता है नोकर्म और क्रोध प्रकृतिका उदय कहलाता है कर्म और जिसे गुस्सा आया वह कहलाया उपादान। तो पुत्रकी बात पुत्रमे मिलेगी कर्ममे नही, जीवमे नही। अब तीसरी चीज क्या है ? उपादानकी याने राग करने वाले, विकार करने वाले ये खुद जीव। तो इनका जो कुछ है वह इनका इनमे ही है, कर्ममे नही, नोकर्ममे नही। सो सबका सबमे ही अपना सर्वस्व है, फिर भी निमित्त नैमित्तिक योग ऐसा है कि क्या घटना बनती है ? कर्मका उदय आया उस समयमे ज्ञानका तिरस्कार हुआ। तिरस्कार होते ही यह ज्ञान ससारके पदार्थोमे जुड गया। बस व्यक्त विकार हो गया कैसे रागादिक भाव होते है उसकी तरकीब कह रहे हैं। होता है ना सबमे रागभाव। वह कैसे बनता ? बातें तीन कही जा रही हैं। विकार हुआ, कब हुआ, जब उस तरहका कर्म उदयमे आया और बुद्धिमे कैसे आया जब जगतके इन बाहरी पदार्थोमे इसने उपयोग जोडा। यह है विकारके निर्माणका तरीका।

(१०८) आश्रयभूत बाह्य वस्तुमे उपयोग न जोड़नेका व्यापक महत्त्व—अच्छा तो जब ऐसा समझें कि ये विकार, ये कषाय, ये रागादिक भाव कर्म नोकर्म व योग्यताके प्रसगमे होते हैं तो अपने आप क्या करना चाहिए कि इन राग विकारोसे ही दूर हो जायें। क्या है तरीका सीधा ? तरीका सीधा यह है कि इन बाहरी नोकर्मोमे यह ख्यालात न जुडायें, उप-

योग न जुडायें, दिल न फसायें। आप कहेगे कि यह तो बडा कठिन लग रहा कि हम मकान मे, धनमे, पुत्रमे, स्त्रीमे, इनमे हम दिल न दें, यह तो बडा कठिन लग रहा, तो पहला उपाय यह बतावें कि इनमे हमारा दिल न जाय। तो उसका उपाय सुनो। इन बाहरी पदार्थोंमे हमारा दिल न लगे। इसका उपाय है आत्मज्ञान। सम्यग्दर्शन। सत्य श्रद्धा बन जाय कि मैं तो केवल एक चित्प्रतिभासमात्र हू, मेरा सहजस्वरूप केवल यह ज्ञायकभाव है। इसको किसी से क्या मतलब ? किस जगह उपयोग लगाना। यह ही तो बरबादी है। यह ही तो ससारमे रुकावट है। उमंग होनी चाहिए कि मैं तो अपने इस ज्ञानस्वरूपमे ही अपने ज्ञानको जोड़ूँगा, इतना होनेपर भी सम्यक्त्व जग जानेपर भी रागद्वेष होते हैं। छठे गुणस्थान तक तो बुद्धिमे आता है उसका क्या उपाय है कि वह मिट जाय। यद्यपि कर्मोदय ऐसा नही है कि समझ बना-बनाकर भी अपने आपमे उपयोग जोड जोडकर भी राग बनता है, द्वेष बनता है, ऐसा कर्मविपाक चलता है। फिर भी उसके मेटनेका तो उपाय यह ही है कि बराबर निज ज्ञान-स्वभावकी आराधना करे।

(१०९) ज्ञानविकासकी ज्ञानप्रयोगसाध्यता—देखो आप लोग रोज-रोज भोजन करते हैं और देखते भी जाते हैं कि ऐसे रोटी बेली, इस तरह तवापर डाली, देखते है ना रोज-रोज और आप सबको खूब बता भी देंगे कि अजी रोटी बनानेमे क्या धरा ? यो आटा गूथो, लोई बनाओ, बेलनामे पसार दो, परथनमे उलट दो, फिर तवेपर धर दो। पहली पर्त जरा जल्दी ही उलट दो, दूसरी पर्त थोडा देरमे उलटो, उसको उठाकर धधकती हुई आगमे डाल दो, रोटी फूल जायगी और बन जायगी। यो कहना तो सरल लगता है, पर जरा कल रोटी बनाकर तो दिखाना। और जब प्रयोग करने जायेंगे तो आपको वे सब विधियाँ सीखनी पड़ेंगी। इसी प्रकार तो यहाँ हो रहा है। आजकल बातें बनाने वाले तो बहुत हैं, पर करने का काम दूर है। जैसे रोटी बनानेकी गप्प मारना तो सरल है और बनाकर दिखाना कठिन है, तब ऐसे ही समझिये कि जब कहा अनुभव करनेके लिए हम चलते हैं कि मैं जानू तो सही उस ज्ञायकस्वभावको। अपने उपयोगद्वारा उस ज्ञानस्वभावको लें, ग्रहण करें, तन्मय हो, अनुभव बने, जब ऐसा करनेको चलेंगे तब केवल बात बातसे न बनेगी, आपकी दिनभरकी न्याय प्रवृत्ति, दिन भरका सदाचार दिन भरके सद्विचार होगें तो यह पात्रता जगेगी कि मैं अब धीरतापूर्वक अपने ज्ञानद्वारा अपने ज्ञानके स्वरूपको देखूँ। तब जब इसको प्रेक्टिकल करते हो तो वे सब बातें गुजरेंगी जो सबपर गुजरी है, जितने भी सिद्ध हुए हैं वे सब ऐसे ही प्रयोग मे चलकर गुजरकर हुए है। बात सबकी वही होगी जो सिद्ध भगवन्त बनेगा। तब भाई जल्दी करो ना, अपने ज्ञानस्वरूपके अनुभवमे प्रमाद क्यो करते ? शीघ्रता करो, शीघ्रता

करोगे तो आपको बहुत सयमी भी होना होगा, न्यायवृत्तिसे रहना होगा, सदाचारसे रहना होगा, पाप छोडकर रहना होगा। तब ज्ञान इस लायक होगा कि हम अपने ज्ञानमे निज ज्ञानस्वरूपको जानें। और करता न हो सोर केवल बात ही करता हो तो रोटीकी बातकी तरह बात की जा सकती है, मगर रोटी बनाते न बनेगा, ऐसे ही अगर निज ज्ञानस्वरूपका अनुभव नही करना है तो केवल उसके लिए बातें बहुत है। बोलते जावो खूब, किन्तु यदि ज्ञानस्वरूपका अनुभव करना है तो उन सबको उस ही रूपमे डालना होगा जिससे गुजरकर यह अनुभव पाया जाता है, यह ही कहलाता है व्यवहारधर्म। सदाचारसे रहो, न्यायसे रहो। अब कोई दिनभर तो अन्यायमे गुजरे, उपयोग बाहर बाहर रहो, उपयोग कषायमे रहो, उपयोग लोभमे रहो और कोई चाहे ही नही उसके स्वानुभव कैसे जगे ? तो बहुत सद्वृत्तिसे रहना, जीवनको सद्वृत्तिसे गुजारना। जितना निःशल्यसे रहेगे, जितना शल्यसे दूर रहेगे। शल्य बनती है पाप करनेसे। पाप न करें तो शल्य न रहेगा। शल्य न रहेगा तो अपना स्वानुभव करते रहेगे। पाप करने वाले पुरुष शल्यमे रहते है, शल्यमे रहने वाले पुरुष इस ज्ञानस्वरूपका अनुभव नही कर सकते। तो ज्ञानानुभव चाहिए तो नि.शल्य होना पडेगा। निःशल्यता चाहिए तो अन्यायसे दूर रहना होगा।

(११) **व्यक्त विकारके निरोधका आयोजन**—हां तो ये विकार कैसे आते हैं इसकी बात चल रही थी। कर्मका उदय आये नोकर्ममे उपयोग जोडा और यह जीव व्याकुल हो गया, यह करतूत चल रही है ससारी प्राणीकी और ये तीनो बातें है अलग-अलग द्रव्योमे। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका करता कुछ नही, पर निमित्त नैमित्तिक योग तो देखिये—इन तीनोका इस तरह का गठन हुए बिना विकार व्यक्त नही होता। तब हमको यह शिक्षा मिलती है कि हम बाहरी नोकर्मोंमे उपयोग न जोडें, और उसके लिए हम सम्यग्ज्ञान प्राप्त करें। आत्मज्ञान करें। अब यहाँ तीन बातें समझना है। कर्मकी चीज कर्ममे है। इन बाहरी पदार्थोंकी चीज इनमे ही है और कर्मका जो प्रतिफलन हुआ है वह प्रतिफलन जीवमे है। प्रतिफलन तक तो हमारा कोई वश नही चलता, पर विकार व्यक्त न होने दें, इसपर हमारा वश चलेगा और जब विकार प्रकट न हो ऐसी हम एक शक्ति बना लेंगे तो कर्मकी जड भी कट जायगी। अब यहाँ देखो जीवपर आपत्ति आयी ना ? क्योकि विकल्प हुये, रागद्वेष भाव हुआ तो स्वयपर विपत्ति आयी ना। अच्छा तो ऐसी विपत्ति कर्मकी भी आयी है, क्योकि कर्मके अनुभाग आये ना और कर्म जब उदयमे आये तो उसमे भी खेल बने, मगर कर्म चेतन नही है, ज्ञानवाला नही है इसलिए उसका अनुभव कुछ नही, परिणमन तो है वहाँ, परिणमनरूप अनुभव है, पर समझरूप अनुभव नही है, और यह जीव चूंकि जाननहार है, चेतक है तो उस प्रकारका अनुभव इस जीव

मे प्रकट हो जाता है ।

(१११) अपनी आन्तरिक चर्चा—देखो यह आपके घरके भीतरकी बात कही जा रही है । अभी आपके घरके भीतरकी कोई चर्चा छेडे तो कितना मन लगाकर सुनोगे । क्या कह रहे यह हमारे घरकी बात कही जा रही है । और वहाँ कुछ कठिनाई समझें तो न समझिये कठिनाई । कठिन भी बात कुछ दिन सुननेसे सरल हो जाती है । विकारोसे परेशानी है ना ? रागद्वेष भाव उठते है उससे हैरानी होती कि नही ? भूल-भूल जाते और रागद्वेष करते जाते, चित्त बिगाडते जाते, किसके लिए चित्त बिगाडते ? क्या रखा है जगतमे सार ? किस चीजमे ध्यान लगाये तो इसका उद्धार हो ? बता सकते । क्या है कोई चीज संसारमे ? जितने समागम मिले है ये सब समागम दुःखके कारण हैं । और जिस गृहस्थने यह बात अपने मनमे नही जमाया उस गृहस्थके कोई तपश्चरण न होगा । यह बात पहले समझिये कि इस गृहस्थ को जितना समागम मिला है वह सब समागम आखिर कष्टके लिए है । थोडी देरके लिए अगर यहाँ कुछ मौज मान लिया, अपना चित्त प्रसन्न कर लिया तो कर लो प्रसन्न, पर इष्ट वस्तु मिली हो तो वह भी दुःखके लिए । यह बात तो जल्दी समझमे आ जायगी कि अनिष्ट वस्तु मिली है तो वह दुःखके लिए होती है । सबकी समझमे आ रहा, पर यह तो बताओ कि इष्ट वस्तु मिले तो वहाँ क्या दुःख होता है ? प्रथम तो जीवनमे उस इष्ट मित्रसे, उस इष्ट व्यक्तिसे कोई न कोई बात ऐसी मिलती कि बीच बीचमे उससे कुछ रज पहुंचेगी । कितना ही प्यारा पूर्ण इष्ट हो फिर भी उसकी सारे दिनभरकी प्रवृत्तिमे कोई न कोई प्रवृत्ति ऐसी जचेगी कि जिससे यह उदास रहेगा । कहाँ तक कौन सम्हालेगा ? रह सकता क्या कोई १० वर्ष निराकुल ? निरन्तर कोई न कोई एक बात जचेगी ऐसी जिससे कि कुछ दिल बिगड जायगा । खैर यह भी मानकर चलें कि वह जिन्दगीभर अनाकुल रहेगा सो रह जावे जिन्दगी भर, पर वियोग होगा न कभी कि रह जायगा सगमे सदा ? आपका पुत्रमे चित्त है तो सदा रह लेगा क्या ? या तो पहले आप मरण करके यहाँसे विदा हो जायेंगे या वह विदा हो जायगा । तो जो जितना अधिक इष्ट है वह उतना ही अधिक दुःखका कारण बनता है विकारके समय । गणित हिसाब भी सबका वही है । अगर जिससे मोह करके, जिसको इष्ट मानकर १० वर्ष राजी हो लिया तो १० वर्षमे जितना मौज मिल पाया उतना कष्ट वह ५ मिनटमे भोग लेगा । हिसाब सब जगह है । जैसे सबका खाना बराबर हिसाबका है । यदि किसीने खूब कीमती चीज लड्डू, पेड़ा, कलाकद वगैरह खूब खाया हो १० दिन तक और वह बीमार हो जाय, २० दिन तक खाली मूंगकी दाल पीकर रहे तो बताओ बराबर हो गया न हिसाब ? ठीक ऐसे ही जगतमे सुख दुःखका भी हिसाब बराबर बन जाता है । अरे किसमे मग्न होने ?

जितना मग्न होंगे उससे कई गुना दुःख पायेंगे वियोगके समय। तो एक निर्णय बनायें कि जो समागम मुझे मिला है इससे मेरेको लाभ कुछ नही है। मुझे कुछ अपनेमे आनो बात सोचना चाहिए।

—०—

(२४)

(११२) वास्तविक निमित्त और उपचरित निमित्त—प्रकरणमे जो बात चल रही है वह मूल बात यह है कि जीवमे जो राग, द्वेष, मोहके विकार फद आफतें विडम्बनायें बनती है वे इस तरह बनती हैं कि कर्मका उदय तो निमित्त है और जगतके बाह्य पदार्थ इसके आश्रयभूत हैं और जीवमे राग, द्वेषका विकार प्रकट होता है, तीन बातें समझना है। जिसमे विकार होता वह तो मैं जीव उपादान हू और जिन बाहरी पदार्थोंका ख्याल करके आलम्बन लेकर विकार बनता है वह है आश्रयभूत याने उपचरित निमित्त, उनमे उपयोग जोड़े तो निमित्त है, न जोडे तो निमित्त नही, और जो पहले बाँधे हुए कर्म है उनका जब उदयकाल आता है उनका अनुभाग खिलता है वह कहलाया कर्म विपाक। सो वह है निमित्त। सो इस प्रसंगमे यह जानना कि निमित्त तो मात्र कर्मविपाक है, जिसके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध है, याने कर्मोंका उदय आने पर विकार बनें इसे कहते हैं अन्वय। कर्मोदय न होने पर विकार बन ही न सके इसे कहते हैं अन्वय व्यतिरेक। यह बात कर्ममें पायी जाती है। जगतके इन पदार्थोंमे नही, तब ही तो कह लो कि ये सब अटपट बातें हैं, कोई नियत नही है ये सब। जिस चाहेका ख्याल आ गया यही बन गया इसके विकारका आश्रय और इस दृष्टिसे समझो तो अधेरनगरी कहो।

(११३) दुर्बुद्धिसे अटपट आश्रय—'अधेर नगरी बेबूझ राजा, टकासेर भाजी टकासेर खा जा' यह बना कैसे कि एक नगरमे एक गुरु और शिष्य पहुच गए। तो गुरुने शिष्य से कहा—जाओ कुछ आटा, दाल चावल, नमक, कोयला आदि ले आवो, बना खा लें फिर चलेंगे। अच्छी बात। गया वह शिष्य बाजारमे पूछा—आटा क्या भाव? टकासेर, कोयला क्या भाव?· टका सेर। नमक क्या भाव?····टका सेर। ··पेड़ा क्या भाव?·· टका सेर। रसगुल्ले क्या भाव? टका सेर·· 'पेडा क्या भाव?'' टका सेर, '' रसगुल्ले क्या भाव? ·· टका सेर। अब शिष्यने सोचा कि यहाँ तो सभी चीजें टका सेर बिक रही हैं, तब फिर लड्डू, पेडा, रसगुल्ला आदि मिठाइयाँ ही क्यो न टकासेरमे खरीदकर खावें। सो वह मिठाइयाँ टका सेरमे खरीद लाया, खुदने खाया और गुरुको भी खिलाया। वहाँ शिष्य गुरुसे कहता

है—महाराज हमारा निवेदन है कि इस नगरीमें करीब ६ महीने तक ठहर जावो। ''नही बेटा नही, यहाँ न ठहरो, यह अंधेर नगरी है, यहाँपर टिकना ठीक नही। 'महाराज इतनी बात तो हमारी मान ही लें ?''''अच्छा बेटा नही मानते हो तो ठहर जावो। बस ठहर गए। ४-५ महीनेमे ही वह शिष्य बडा मोटा हो गया। इसी बीचमे ही एक घटना घट गई क्या कि एक बाबू जी किसी गलीमे से जा रहे थे, देखा कि एक मकानकी भीतमे से एक ईंटा गिर गया। बाबू जी ने झट राजाके यहाँ मुकदमा दायर करवा दिया कि मैं अमुक गलीकी दूसरी से जा रहा था, अमुक नम्बरके मकानमे मकानमालिकने ऐसी भीत क्यो बनवा दिया कि जिससे ईंटा खिसक गया। यदि मैं इसके मकानके उधरसे जाता और वह ईंटा मेरे सिरपर गिर जाता तो मेरा सिर चकनाचूर हो जाता। राजन् उस मकान मालिकको दण्ड मिलना चाहिए। राजाने उस मकान मालिकको बुलवाया, पूछा—बोल तूने ऐसी कच्ची भीत क्यो चिनवा दी कि जिससे ईंटा खिसक गया।'''राजन् मेरा दोष नही, मैंने तो पूरा पेमेन्ट किया, दोष है कारीगरका।''''बिल्कुल ठीक। कारीगरको बुलवाया और पूछा—तूने भीतकी ऐसी कच्ची चिनाई क्यो किया कि जिससे ईंटा खिसक गया ? ' राजन् मेरा दोष नही, दोष है गारा बनाने वालेका, गारा पतला हो गया जिससे ईंटा खिसका।'''बिल्कुल ठीक। राजाने गारा वालेको बुलवाया—तूने गारा गीला क्यो कर दिया जिससे भीतमे से ईंटा खिसक गया ? अरे न गारा गीला होता, न भीतमे से ईंट खिसकती और न बाबू जी का सिर चकनाचूर होने तककी नौबत आती। 'राजन् मेरा दोष नही। दोष है मसक बनाने वालेका। उसने मसक बडी बना दी जिससे पानी ज्यादह भर गया और गारा गीला हो गया।''''बिल्कुल ठीक। मसक बनाने वालेको बुलवाकर पूछा—अरे तूने इतनी बडी मसक क्यो बना दी कि जिसमे पानी ज्यादह भर गया ? गारा गीला हो गया और भीतसे ईंट खिसक गयी। कदाचित् कोई बाबू जी उधरसे निकलते और वह ईंटा बाबू जी के सिरपर गिर जाता तो बोल क्या हाल होता ? तुझे सजा दी जायगी।'''राजन् मेरा दोष नही, दोष है उस किसानका जिसके घर बडा जानवर मरा। अगर छोटा जानवर मरता तो क्यो बडी मसक बनने पाती और क्यो बाबू जी का सिर चकनाचूर होनेकी नौबत आती ?'''बिल्कुल ठीक, अच्छा उस किसानको बुलवावो—किसानके आनेपर पूछा—तूने इतना बडा जानवर क्यो पाल लिया कि जिसके मरनेपर बडी मसक बन गई, पानी ज्यादा भर गया, गारा गीला हो गया, और भीतमें से ईंट खिसक गई और बाबू जी का सिर चकनाचूर होने तककी नौबत आ जाती। तो वह किसान कुछ उत्तर न दे सका, राजाने कहा बस सारा कसूर इसका है इसलिए ऐ जल्लादो इसे फाँसीके तख्तपर लटका दो। जल्लाद—जो आज्ञा राजन्, किसानका गला फन्देमे डाला

परन्तु इसका गला इतना पतला था कि फांसीके फन्देमे ही नही आता था, कैसे लटकाया जाय ? सो जल्लादोने कहा कि इसका गला पतला है, फन्देमे ढीला है । राजा बोला--अबे देर क्यो करते ? उसका पतला गला है तो किसी मोटे गले वालेको ले आवो । सो मोटे गले वाले मिल गए वही शिष्य जो जो खूब टकासेर रसगुल्ले खा खाकर मोटे हो रहे थे । जल्लाद बोले—चलो राजदरबारमे, वहाँ तुम्हे फांसी दी जायगी । तो शिष्य गुरुसे बोला—महाराज! अब तो हमे बचावो । देखो बेटा हम कहते थे कि यहाँ न ठहरो, यह अधेर नगरी है । फिर धीरेसे कहा—खैर घबडावो नही, फांसीपर लटकते समय हम तुम दोनो फांसीपर लटकनेके लिए झगडेंगे, तुम ऊपरसे कहना कि हमे फांसी मिलनी चाहिये और नीचेसे हम कहेगे कि हमे मिलनी चाहिए, बस इस तरहसे झगडते रहना, काम बना लेंगे । जब राजाने शिष्य को फांसीके तख्तपर चढवाया तो वे गुरु शिष्य दोनो ही झगडने लगे । एक कहे कि हमे पहले फासी मिलनी चाहिए, दूसरा कहे हमे । तो राजाने पूछा— अरे तुम दोनो फांसीके तख्त पर लटकनेके लिए क्यो झगड रहे ? तो गुरु बोला— राजन् तुम चुप बैठो । इस समय ऐसा शुभ मुहूर्त है कि जो फांसी ले लेगा वह सीधे बैकुण्ठ जायगा । तो राजा बोला--अच्छा तुम दोनो चुप बैठो, फांसीके तख्तपर चढकर फांसी हमको ही ले लेने दो । तो ऐसे ही समझो कि जगतमे सारे अटपट काम हो रहे हैं । किसीका कोई सही लक्ष्य नही है । जैसे कहते हैं ना— ऊँट न जाने किस करवट बैठे ? कुछ पता ही नही है इसे अपने आपका । जब तक इसे सही ज्ञान न मिले तब तक पता हो भी कैसे कि हमे क्या करना है क्या नही करना है । जिसको अन्दरमे यह ज्ञान हुआ कि मैं एक सहज ज्ञानस्वभावमात्र हू और ज्ञानस्वभावकी आराधना करना यही मेरा रोज रोजका काम है वह शान्ति पा सकता है । जिसे यह बोध नही वह बाहरमे अनेक आश्रयभूत पदार्थोंका ख्याल कर-करके अपनी कषाय ही बढाना फिरेगा । तो यहाँ यह समझना कि निमित्त तो केवल कर्मविपाक है और यह सब दृश्य कहलाता है आश्रयभूत उपचरित निमित्त, सो बाहरी पदार्थोंमे उपयोग जोडते हैं तो विकार व्यक्त होता है ।

(११४) परिस्थिति और विपरीताशयमे अन्तर—पहले तो यही निर्णय बना लें कि हमको विकार पसद है या अविकार भाव । तो वचनोंसे कह तो सभी लोग देंगे कि हमे तो अविकार भाव पसद है, पर यह तो उनके कहने भरकी बात हैं, भीतरमे देखो तो विकार भाव ही पसद कर रहे है । कषायें जग रही हैं भीतरमे तो इसका अर्थ है कि विकारसे ही प्रेम है । जहाँ विकारसे प्रेम है वहाँ सम्यक्त्व नही । रागसे राग ऐसो दो चीजें यहाँ समझना । राग तो सम्यग्दृष्टिके भी होता है पर सम्यग्दृष्टिको रागसे राग नही होता । जैसे कोई पुरुष बीमार हो जाय तो उसे औषधिसे राग होता है कि नही ? होता है,

पर उसके मनमे यह बात नही बसी है कि ऐसी ही दवा मुझे जिन्दगी भर मिलती रहे। बल्कि वह यही सोचता है कि न जाने कब मेरी यह दवा छूटेगी। तो जैसे उस रोगीको औषधिके रागसे राग नही ऐसे ही ज्ञानीको राग विकारसे राग नही। जैसे औषधिके रागसे राग हो तो दुष्प्रणिधान कभी मिट नही सकता ऐसे ही ससारके इन विषय साधनोसे, भोगोसे, रागसे राग हो तो उसका मिथ्यात्व मिट नही सकता। कितना निर्विकल्प होना है हमको, कि किसीका आश्रय नही रहे। मालूम पडे कि बात गलत है तो उसको छोडनेमे हिचकिचाहट नही होती। तो ये जगतके आश्रयभूत पदार्थ इनको दोष मत दें कि ये मेरेको राग कराते है। जैसे कभी लोग कह देते है ना कि यह कुटुम्ब नरक ले जाता है तो कुटुम्बको दोष न दें। अरे खुदके मोहको दोष दें। मैं इनमे मोह करता हू तो नरक जानेका काम करता हू, तो यहां ये जगतके दृश्यमान पदार्थ तो आश्रयभूत हैं और कर्मविपाक निमित्त है। तो अब यहाँ देखना कर्मविपाक कर्ममे है, मुझमे नही और जगतके ये बाहरी पदार्थ उनमे ही हैं वे, मुझमे नही। तो देखो मैं सबसे निराला हू, किन्तु जब ऐसा नही मान पाता तो इसको ससारमे भ्रमण करना पडता है। तो जैसे कर्मविपाक कर्ममे है, दृश्यमान इन विषयभूत पदार्थोंकी बात उनमे है, ऐसे ही उस प्रकारका जो विकारका अनुभव है वह अनुभव मुझमे है। देखो जैसे ठडा पानी हाथसे छुवा तो लगा कि बडा ठडा है, तो अब यह बतलावो कि ठडो बात ठड पर्याय मुझमे है क्या? वह तो पानी है, मगर उस पानीका सम्बन्ध पाकर जो उस प्रकारका ज्ञानमे अनुभव बने वह तो मुझमे है ना। अब यह अनुभव और वह ढग ये दो न्यारी न्यारी चीजें है, जो ठड है सो अनुभव नही जो अनुभव है सो ठड नही, तो ऐसे ही यह कर्मविपाकका निमित्त पाकर नोकर्ममे उपयोग जोडकर जो उस जातिका विकार अनुभव होता है वह विकार दूर होगा सम्यग्ज्ञानसे। सत्य बोध होना चाहिये।

(११५) उपचरित निमित्तोंमे ही उपयोगके जुड़नेकी संभवता—अब यहां एक विचार करें कि जो ऐसा कहा जाता है कि निमित्तमे उपयोग जोडें तो निमित्त कहलाता, न जोड़ें तो निमित्त नही कहलाता, यह बात कहां घटती है और कहां नही घटती? जो दृश्यमान पदार्थ हैं इनमे तो घटती है, क्योकि इनका मेरे विकारके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नही है। उनमे उपयोग जोड़ें तो विकार बनेगा, न जोडे तो विकार न बनेगा, मगर जो कर्मविपाक है उसको एकेन्द्रिय जीव कहां जानते है जो उनमे वे उपयोग जोडें? जितना भी उनके पास ज्ञान है और एकेन्द्रियकी बात क्या, कुछ बडे पञ्चेन्द्रिय भी क्या कर्मको जानते हैं? ये अष्ट कर्म साक्षात् कर्म वे सूक्ष्म हैं, उन्हे जाननेकी सामर्थ्य परमावधिज्ञानी, सर्वावधि ज्ञानीमे है। वैसे ही झूठ मूठ दम भरते कि हां हम जानते है। शास्त्र कहते हैं कि कर्मका ज्ञान, जैसे हम

आपको इनका ज्ञान होता, ऐसे ही जीवके साथ जो कर्म लगे उसका ज्ञान भगवानको, अवधि-ज्ञानीको, किस अवधिज्ञानीको सर्वावधि और परमावधिज्ञानीको होता है। परमावधि व सर्वा-वधि ज्ञानी तद्भव मोक्षगामी है, उनको ही कर्मका बोध हो सकता। खुदके कर्मका भी और दूसरेके कर्मका भी। तो जब हम आप कर्मको जानते नही तो उसमे उपयोग क्या जोडें ? वहाँ तो ऐसा निमित्तनैमित्तिक भाव है कि उसका निमित्त सन्निधान पाकर यहाँ यह जीव खुद अपनेमे अपने ज्ञानका तिरस्कार कर लेता है। तिरस्कार तो ज्ञातसे भी होता और अज्ञातसे भी होता मगर उपयोगका जोडना ज्ञातमे ही होता, अज्ञातमे नही। अनुभव बतायगा यह बात। तब फिर हमारा यह काम है कि हम इन ज्ञात पदार्थोमे अपना उपयोग न फसायें, इसके लिए देखो भाई सत्सग चाहिए। स्वाध्याय चाहिए तो इस बातपर हम निभ सकते हैं, नही तो दिन रात तो किए जायें अनीतिका काम और थोडा समय पर बैठकर शुद्ध बुद्ध हू, निरञ्जन हू, तो हो जायगी क्या हितकी बात ? सारा जीवन, सारा दिन अच्छा बिताओ तो क्षण एक को ऐसी पवित्रता जगेगी कि जहाँ स्वभावका दर्शन होगा। और स्वभावका दर्शन हुआ कि सम्य-ग्दर्शन हुआ। सम्यग्दर्शन और स्वभावदर्शनमे अन्तर है। एक बात नही। सम्यग्दर्शनके एवज मे स्वभावदर्शन हम नही बोल रहे, स्वभावदर्शन तो एक ज्ञानकी अनुभूतिका प्रसग है और सम्यग्दर्शन जिसे हो गया उसे जिन्दगी भर रह सकता मगर स्वभावदर्शन जिन्दगी भर नही रहता। सम्यक्त्व हो जाय तो जीवन भर रहेगा, किन्तु स्वभावका दर्शन, स्वभावकी अनुभूति यह तो कभी क्षणभरको होती होगी, उसके प्रयासकी बात है।

(११६) **व्यक्त विकारके आश्रयभूत उपचरित निमित्तोंमे उपयोग न जोड़नेकी शिक्षा**—तो अब इस प्रकरणसे हमे शिक्षा क्या मिलती ? सो देखो हमारे विकार दो प्रकारके हुए एक तो अबुद्धिपूर्वक, जिनका हमे ज्ञान नही होता, मेरे आत्मामे आत्माके भीतर हो तो जाते है पर हमारी समझमे नही आते, एक तो ऐसे विकार चलते हैं और कुछ विकार ऐसे चलते हैं कि जो हमारी समझमे आते हैं। उपयोगमे जुडते है, फसते है उन्हें कहते हैं व्यक्त विकार तो चाहे अव्यक्त विकार हो, चाहे व्यक्त विकार हो। ये विकार मेरे स्वरूप नही हैं। किस दृष्टिसे समझें ? विवक्षित शुद्धनिश्चयकी दृष्टिसे याने अपने आत्माको तो रखें सुरक्षित, शुद्ध, बेदाग, बेलाग और विकार जिनका निमित्त पाकर होता, विकारको पहुचा दें उस जगह, ऐसा प्रयास किया है कुन्दकुन्दाचार्यदेवने और अमृतचन्द्रसूरिने सभी अध्यात्मशास्त्रियोने स्वभावदर्शनके लिए विकारको हटावो, विकारको फेंको, क्या हाथसे ? अरे ज्ञानसे समझो कि ये विकार पुद्गलकर्म निष्पन्न हैं इसलिए ये वहाँ जावो, इन्हें मैं शरण न दूँगा, क्योकि ये मेरी जातिके नही हैं, मेरे स्वभावके नही हैं, मेरे कुलके दीपक नही हैं, इन विकारोको मैं

आश्रय न दूँगा, तब इस भावनासे आप अपनेमे शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी आभा लेते रहेगे। देखो जिनागममे जितने भी वचन लिखे है वे वचन सब हितके लिए प्रेरक हैं, उनमे किसी वचन को यह असत्य है ऐसा कहनेके लिए जीभ न हिलाना चाहिए। उनका उपयोग करें उस प्रकार कि जिस प्रकारमे हमको स्वभावकी दृष्टि जगे और उस प्रकारका उपयोग किया जा सके। जब इतनी कला नही प्रकट हुई, क्योकि अज्ञानभाव है तब ही कल्पित बातोको यह अज्ञानी सत्य कहता है और ब.की आचार्यकी बातोको असत्य कह देता है, क्योकि उसने उपयोग करनेकी कला ही नही प्राप्त की है। उपादान दृष्टिमे हम जिस स्वभावकी दृष्टि करने का पौरुष कर लेते उससे भी अधिक सुगम पौरुष हैं निमित्तनैमित्तिक भावकी सच्चाई समझने से। देखो जब दर्पणमे सामनेके कपडेकी फोटो आ रही है तो यह दर्पण अपनेमे शुद्ध है, स्वच्छ है, ऐसा समझना, इस तरह सुगम बन जाता ना कि अरे यह तो लाल कपडेका सम्बंध पाकर प्रतिबिम्ब हुआ है, यह दर्पणकी चीज नही है। इसे ज्ञानद्वारा हटायें, दूर करें और दर्पणके अन्त जो स्वच्छता है उसका ही दर्शन करें।

(११७) प्रत्येक आर्ष वाक्योंकी समीचीनताके दर्शनकी कलामे विवेक—आचार्य सतोके प्रत्येक वाक्यका हमे सदुपयोग करनेकी कला पानी चाहिए। बडे-बडे आचार्य संत वीरसेनाचार्य जिन्होने लाख श्लोक प्रमाण धवल-टीका रचा, और भी टीकायें रची। जब कभी तत्त्वका सूक्ष्म विवेचन करते-करते दो बातें सामने आ जाती हैं, किन्ही आचार्योंका यह मत है, किन्हीका यह मत है तो उनसे पूछते है कि फिर सत्य कौन है? तो आचार्य जवाब देते है कि गौतम गणधरसे जाकर पूछो—इसमे हमे जीभ न हिलाना चाहिए। कितने श्रद्धालु आचार्य होते थे और उनकी कला देखो, जैसे सूत्र जी की टीका यह अकलक देवने की, स्वामी विद्यानन्दने की। आचार्य समन्तभद्रने भी की, मगर आज वह प्राप्त नही है—गन्धहस्तिमहा-भाष्य, तो टीका करते-करते सूत्रमे कोई शब्द अगर अनर्थक जंच रहा तो टीकाकार आचार्यों ने अनर्थक घोषणा नही की, किन्तु उन्होने सोचा कि ये शब्द सार्थक कैसे बनें? वह बात उन्होने टीकामे लायी। जो श्रद्धाहीन है वे पार नही हो सकतें। 'ज सक्कइ तं कीरइ, ज च ण सक्केइ त च सद्दहण'। देखो जितनी शक्ति हो-सो करो और न शक्ति हो तो मत करो, मगर श्रद्धा रहेगी तो नियमसे अजर अमर पद पावोगे, और श्रद्धामे क्या सीधी श्रद्धा यही कि बस मैं केवल ज्ञानमात्र हू। इसमे क्या टोटा, क्या विवाद, और क्या सन्देह? इतना ही तो बोध होता है पशुओके जो सम्यग्दृष्टि बन जाते है। क्या वे कोई ७ तत्त्व, पदार्थोंको जानते है? ये गाय, बैल, भैंस, भेड, बकरा, बन्दर, नेवला आदिक इनमे से जो भी सम्यग्दृष्टि बन गए तो क्या उन्होने सीखा था आश्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा आदिक? वे इन्हे जानते हैं

क्या ? अरे एकके जाननेसे सब भावभासना हो जाती है। सीधा उनका अनुभव है कि मैं ज्ञानमात्र हू। तो जिसको इस दुर्लभ मानव जीवनमे यह आकांक्षा हुई हो, अपने आपपर करुणा हुई हो कि मेरेको प्रयोजन नही इन बाहरी चीजोंसे। पुत्र, मित्र, स्त्री, कुटुम्ब, धन-दौलत आदिक इनमे फसकर मैं क्या करूँ ? ये तो प्रकट असार हैं, बाहरी पदार्थ हैं। मुझे तो अपने उद्धारका काम करना चाहिए। ऐसा भाव बना हो तो उलझनकी जरा भी बात नही है। एकदम सब ख्याल छोडकर भीतर देखें कि मैं ज्ञानप्रकाश मात्र हू। मैं अन्य स्वरूप नही हू। इतनी सी दृष्टि बने तो उद्धारका रास्ता बनेगा। कभी इस बातके लिए न घबडायें कि मैंने तो व्याकरण नही पढा। अब मेरा कैसे उद्धार हो ? अरे उद्धार तो एक अन्तस्तत्त्वकी दृष्टिसे है। तो सुगम तो है यह स्वभावदर्शन, किन्तु उसके लिए पहला तपश्चरण यह है कि बाहरी पदार्थोंमे हम विश्वास मत बनायें, यह पहला नियन्त्रण है। यदि अपने स्वभावका अनुभव चाहिए तो यह पहला सयमन है कि जगतके इन बाहरी पदार्थोंमे विश्वास मत बनावें, ये रम्य नही हैं ये विश्वासके योग्य भी नही है।

(११८) असार तत्त्वोसे हटकर सार सहजभावके दर्शनमें धर्मकी वृत्ति—एकका मित्र बहुत अधिक बीमार था तो शामको देखने गया एक मित्र तो कहा—भाई कैसी तबियत है ? तो वह बहुत धीरे-धीरेसे बोला—क्या बतायें मित्र, करवट भी नही बदली जाती, बिस्तरसे नही उठा जाता। बहुत नाजुक हो गया हू। खैर कुछ बात करके अपने घर गया, फिर दूसरे दिन भी आया मित्रको देखने तो वहाँ देखा तो मित्र था नही, तो पूछता है स्त्रीसे कि वह मित्र कहाँ गया ? तो कहा कि वह तो दुनियासे चला गया (मायने गुजर गया) तो वह मित्र झुंझलाकर बोला—"अरे कल तक तो कहता था कि बिस्तरसे उठा जाता नही, और आज दुनियासे भी चल देनेकी ताकत आ गई। तो भाई यहाँ किसका विश्वास करें ? सर्वत्र धोखा है। विश्वासके योग्य है तो बस देव, शास्त्र, गुरु, बाकी और कोई विश्वास योग्य नही है, क्योकि ये आत्महितमे बाह्य साधनभूत है ना। किन्तु लोकमे यहांसे तो कोई विश्वास की बात न मिलेगी। जितना हमारे मोहका सम्बध है, रागका सबध है, जिस जिससे, कुटुम्ब से, मित्रसे, किसीसे, वहांसे धोखा है, पर उसमे भी देखो दो प्रकारके नाते होते है—एक धार्मिक नाता और एक रिस्तेदारका नाता या कुटुम्बका नाता आप समझो कि धर्म कितनी एक अनुपम विभूति है कि चाहे और नाते टूट जायें पर धार्मिक नाता सही रहता है। अपने अनुभवसे सोच लो। अभी घरमे कोई क्षोभ, उपद्रव आ जाये आपके घरमे और उसी समय मंदिरपर या देवपर या शास्त्रपर या गुरुपर कोई उपद्रव आ जाय तो आप देखते ही है कि घरकी परवाह छोडकर आप वहीं एकत्रित हो जायेंगे। धर्मका नाता बडा है या घरका। जो

विवेकी है उनकी बात कह रहे हैं। नाता धर्मका बडा होता है। धर्मकी प्रभावनाके लिए, धर्मकी परम्परा बनानेके लिए तन जाय, मन जाय, धन जाय, वचन जाय, ऐसी कुर्बानी अनेकोने की। तो आप यह बतलाओ कि धर्मका नाता बडा है या घरके बच्चोका या मित्रोका या प्रलोभनके नाते बड़े कहलाते हैं। धर्म ही एक ऐसा तत्त्व है जिसके प्रसादसे जीवोका जगतसे उद्धार हो सकता है। तो वह धर्म क्या है ? इस कर्मसे, इस नोकर्मसे, और इस विकल्पसे अपने स्वरूपको निराला समझना यह है मूलधर्म और इस धर्मकी प्राप्तिके लिए ही है हमारा व्यवहारधर्म क्योकि व्यवहारधर्म न करें और व्यसनोमे लगे रहे तो हम इस मूलधर्मके पानेके हकदार हो सकते क्या ? तो यह अन्त. आत्मधर्मको पानेके लिए हमको अपना व्यवहार सही रखना होगा और आगेके जीवोका कल्याण हो, करोड़ो सतान होगी अभी तो पंचमकाल अभी बहुत दिनो तक चलेगा। उनका अकल्याण न हो इसलिए धर्मकी शुद्ध स्वच्छ परम्परा रखनेका दृढ़ सकल्प हो ऐसा जिसका भाव है वह अपने आपके अन्तः स्वरूपके अनुभवका पात्र हो सकता है। तो यहाँ कर्म नोकर्म और तथाविधानुभव इनसे निराला अपने स्वरूपका परिचय करना अपना कर्तव्य है।

—०—

(२५)

(११६) भावकनिमित्त, विषयभूत-निमित्त तथा भाव्यका विश्लेषण—आज विषय चलेगा भावक निमित्त और विषयभूत निमित्तका। भावकका क्या अर्थ है ? यह बना है भू धातुमे और भू धातुका क्या अर्थ होता ? जैसे भू धातुके लट् लकारके प्रथम पुरुषका एक-वचन है भवति। भवतिका अर्थ होना होता है और होते हुएको जो प्रेरणा करे सो चलाने जैसे चलने चलाने वाला, होने वाला, हुआने वाला चलते हुये को जो प्रेरणा करे सो चलाने वाला, होते हुए को जो प्रेरित करे सो हुवाने वाला। तो होनेकी जो प्रेरणा दे उसे कहते है भावक। सो भावक क्या है ? कर्मविपाक। कैसा है वह भावक ? समयसारमे ही बताया है— 'फलदान सामर्थ्यतया प्रादुर्भूय, भवतं' याने फलदानमे सामर्थ्यरूपसे होकर जो हो उसे कहते हैं भावक याने जो कर्म उदयमे आते है वे फल देनेमे समर्थ हैं, और फिर वे उस प्रकारसे अपना विकरालरूप रखें इसीको कहते है भावक निमित्त। जैसे घडा हो रहा है और घड़ेका भावक निमित्त है कुम्हार। उस उस प्रकारसे निर्माणके अनुरूप अपनी चेष्टा कर रहा है, वह प्रेरणा जैसी ही तो लगती। व्यवहारमे उससे अधिक प्रेरणा वाली बात और कौन लेंगे। मिट्टीको पीला जा रहा है, चिपटाया जा रहा है, सिमटाया जा रहा है, दोनो हाथोसे उसके

भीत कोर बनाये जा रहे है तो वह कुम्हार हुआ जैसे भावक। देखिये—यद्यपि एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमे कुछ प्रवेश नही होता, न द्रव्य, न क्षेत्र, न काल, न भाव, फिर भी कैसा विषम कार्य होनेका योग है कि निमित्त सन्निधान पाकर उपादान अपनेमे प्रभाव वाला होता है। तो जो बना सो भाव्य और जो निमित्त है सो भावक। भावक और भाव्य ये समयसारके दो शब्द हैं, भावक उसे कहते हैं जो फलदान देनेमे समर्थ होकर उपाय है ऐसा कर्मविपाक। और भाव्य कहते है कर्मोदयका निमित्त पाकर होने वाले जीवकी परिणति। भाव्य है जीव और भावक है कर्म। उस समय जब कि भावक कर्मविपाक उदयागत हुआ उस समय इस जीवके ज्ञानका तिरस्कार हो गया और इन विषयभूत पदार्थोंमे उपयोग जोड डाला। यो बन गया व्यक्त विकार।

भावक निमित्त, विषयभूत निमित्त, व्यक्त विकार, अव्यक्त विकार आदिके परिचय से प्राप्त शिक्षा—यहाँ समझनेकी कई बातें हैं—एक तो यह कि भावक कर्ममे कोई उपयोग नही जोड पाता। विकार जुड सकता है कभी तो ज्ञात पदार्थोंमे। जो जाना हो नही जा रहा, उसमे उपयोग कैसे जुडे ? किन्तु ह शंका न करना कि उपयोग न जोडें तो निमित्त कैसे बनेगा ? अजीव और अजीवमे कौन उपयोग जोडता है ही नही उपयोग, फिर वहाँ कैसे निमित्तनैमित्तिक कार्य होता ? उपयोग जोडा जाता है विषयभूत पदार्थोंमे। जैनसिद्धान्तमे कोई प्रवेश कर रहा हो और उसे थोडा यह समझमे आ गया कि ये बाहरी पदार्थ इनमें उपयोग जोडे तो निमित्त होते तो उससे यह रटन न लगाना चाहिए कि समस्त निमित्त ऐसे ही होते कि उनमे उपयोग जोडे तो निमित्त है। उपयोग दो तरहके हैं—जीवविकारमे एक तो अतरग निमित्त और दूसरा बहिरग निमित्त और अन्य बातोमे निमित्त दो प्रकारके होते ही नही है एक बात। दूसरी बात समयसारके अनेक प्रकरणोमे आत्मस्वभावकी दृष्टि कराने के लिए निमित्तनैमित्तिक भाव समझाया अधिक गया है। जैसे अजीवाधिकारमे ही खूब बताया कि ये रागादिक वर्णादिक गुणस्थानपर्यन्त भाव पौद्गलिक हैं, क्योकि पुद्गल कर्मसे निष्पन्न हैं। प्रयोजन यह है कि इन परभावोसे दृष्टि हटाकर अपने स्वभावकी दृष्टि करना। घरमे या मित्रमडलीमे जो कुछ लोग हैं, जिनका परस्परमे विश्वास है कि ये मेरे अहितका काम न करेंगे तो उनके प्रति ऐसी ही दृष्टि रहती है। ऐसे ही आगमके समस्त वाक्योमे यह विश्वास बसा है ज्ञानीको कि आगमवाक्य कोई भी मिथ्या नही होता। तो जहाँ वस्तुस्वातन्त्र्यका वर्णन है वहाँ भी स्वभावदृष्टिको शिक्षा लेना और जहाँ निमित्तनैमित्तिक भावका वर्णन है वहाँ तो बहुत हो सुगम रीतिसे स्वभावदर्शनके लिए उमग बढती है। ये रागादिक भाव नैमित्तिक हैं, परभाव हैं, पौद्गलिक हैं, उनसे मेरा क्या वास्ता ? इनसे हटें, अपने स्वभावके

अभिमुख हो, जैसे एक धर्मप्रसंग या मनुष्यभव या शासन समागम धर्मप्रसंग पाया किसलिए कि अपने स्वभावकी परख कर ली जाय और स्वभावके अभिमुख होकर अपनेको कृतार्थ कर लिया जाय, और अगर चर्चा वार्ता विवाद आदिके प्रसंग रख लिए जायें तो अपने हृदयसे पूछो कि क्या कुछ कल्याणमार्गमे लग रहे हो ? अरे हितमार्ग मिलेगा तो स्वभावकी दृष्टिमे मिलेगा। उस दृष्टिको आप प्रत्येक वचनोमे पा सकते है। एक बालक भी कुछ जैनधर्मकी बात कह रहा हो, बारह भावनाओंके दोहे पढ़ रहा हो तो उसे सुनकर भी आप अपने स्व-भावदृष्टिके लिए उमग बना सकते है। तब ऐसा समाधान बनावें कि हमको आगम वचनोमे विवाद नही करना है, किन्तु समस्त वचनोसे स्वभावदृष्टिकी उमग लाना है।

(१२१) अनुयोगोमे वर्णित कथनोंसे स्वभावके दर्शनकी शिक्षाका ग्रहण—प्रथमानु-योगमे पुण्य पापके फल बताये गए ससारमे परिभ्रमण बताया गया। उस कथाको सुनकर भी यह जानकर कि ऐसा करनेमे आत्माका क्या हित है ? इससे विरक्त हो और अपने स्व-भावके अभिमुख हो। जहाँ चर्चा आये करणानुयोगकी कुछ भी, लोकका वर्णन आये तो वहाँ शिक्षा मिलती है कि अरे इस स्वभावकी दृष्टिके बिना ही तो ३४३ घनराजू प्रमाण लोकमे भ्रमण किया। जहाँ वर्णन आया कि ऐसे ऐसे जीवोके देहकी अवगाहना है मच्छ वगैरह, और वह चर्चा क्या ? रोज रोज ही तो देखते है, सडकपर सूअर फिर रहे, उनका सारा शरीर कीचड व मलसे लथपथ है, लोग उन्हे देख देखकर छि: छि: करते, कैसी उन सूअरो की दयनीय दशा है। तो उसको देखकर भी स्वभावदृष्टिकी शिक्षा लें कि एक अपने आत्माके अतस्तत्त्वके परिचय बिना ऐसी ऐसी खोटी दुर्गतियोमे इस जीवको जन्म लेना पडता है। तो अपने हितकी शिक्षा हम सब जगहसे पा सकते हैं। यहाँ अपने हितकी शिक्षा लें, अपना काम बनायें और अपनेमे तृप्त होवें। प्रसग चल रहा है भावक और भाव्यका। भावक है कर्म और भाव्य है जीव विकार अथवा विकार परिणत आत्मा। यह क्या है ? यह सब निमित्तनैमित्तिक योगका ही कथन है, उसमे स्वभावकी दृष्टि सुरक्षित है। अपने आपमे विकार रूप नहा परिणमता ऐसा शब्द दिया है समयसारमे--'जह कलिहमणी सुद्धो ण सय परिणमइ रागमादीहि। रगिज्जवि अण्णेहि सो रत्तादीहि दोसेहिं।' अब यहाँ दृष्टान्तपूर्वक समझिये—जैसे स्फटिक पाषाण स्वयको परिणमनस्वभाव वाला है मगर रागादिक रूपसे परिणमनेके स्वभाव वाला नही। अनुभवसे सोच लो, युक्तिसे सोच लो, स्फटिक पाषाण स्वय मे तो परिणमन स्वभाव रखता ही है, क्योकि द्रव्य है। द्रव्यत्व गुणका काम न हो तो द्रव्य कैसे ? पर विकार परिणमनका स्वभाव नही रखता, इस कारण वह स्वयंके द्वारा लालिमा आदिक रूप नही परिणमता, किन्तु जो स्वयं लाल हैं ऐसे पदार्थका सन्निधान पाकर यह

स्फटिक लाल पीले आदिक रूपसे परिणमता है। तो समयसारमे तो और भी कठिन शब्द दिया कि परद्रव्यके द्वारा ही रागादिक रूपसे परिणम जाता है। सब जगह मूड और दृष्टि देखना। जब किसीको ठंडका रोग बढ जाता है तो दवा कौन सी दी जाती है? गर्म, और जब किसीको गर्मीका रोग बढ जाता है तो दवा कौनसी दी जाती है? ठंडी। अगर कोई वैद्य इससे उल्टा काम करे तब तो न जाने कितने ही रोगियोको मार डाले। तो अपनी दृष्टि अपना विवेक तो सदा सही रहना चाहिए। आचार्य सतोका विवेक, बडा अद्भुत होता है। तो प्रयोजन यह है कि आपको स्वभावदृष्टिकी शिक्षा लेना है, वह लें, सर्वत्र मिल जायगी। अपने को कला चाहिए और अपने को शुद्ध भावना चाहिए। तो अब होता क्या है? इस अज्ञानी जीवमे कि भावक एक स्वतत्र पदार्थ है और स्वय अलग पदार्थ है, किंतु इन दोनो मे एकत्वका अनुभव करता है अज्ञानी, पर विवेकी नही कर पाता कि यह विकार मेरा स्वरूप नही, वह विकारोको अपना स्वरूप मानता है, और विषयभूतमे उपयोग जोड जोड कर अपने विकारोको व्यक्त करता है। तीन चीजें हैं यहाँ भावक, भाव्य और विषयभूत पदार्थ। ये तीनो ही स्वतत्र हैं। एकका किसी दूसरेमे प्रवेश नही, फिर भी यह जगत, विषम जगत दो रूपोमे निमित्त बनता है, इमे कहिये विरुद्धाविरुद्ध कार्य हेतु।

—०—

(२६)

(१२२) भावकको वास्तविक निमित्तरूपता व आश्रयभूतकी उपचरित निमित्तरूपता— यहाँ दो बातें बताई गई हैं भाव्यका भावक कर्मविपाक और उस प्रसंगमे विषयभूत पदार्थ हैं ये जगतकी सभी चीजें जो उपचरित निमित्त है, आरोपित हैं निमित्त। इन आरोपित निमित्तो मे उपयोग दें तो ये निमित्त कहलाते। तो अब इन दो का अन्तर देखो भावक निमित्त और आश्रयभूत निमित्त। भावक निमित्त तो वास्तविक निमित्त है, अन्वय व्यतिरेकी निमित्त है कि जिसके होनेपर ही विकार हो, जिसके न होनेपर विकार न हो। यहाँ उपचारकी बात नही चलती, किन्तु जो विषयभूत पदार्थ हैं वे उपचरित निमित्त हैं। उनमे उपयोग जोडें तो निमित्त हैं, उपयोग न जोडें तो कुछ नही है। सारा जगत पडा है, जिसे ज्ञानबल हो गया, उसे कुछ भी नही। कोई पुरुष मर गया तो घरके लोग रोते है, और साधुजन उसके लिए कुछ पछतावा करते है। घरके लोग क्यो रोते? उनको उस प्रकारकी कषाय है, उस प्रकार का मोह परिणाम है, और साधुजन क्यो विवेक करते? ऐसा दुर्लभ नरजीवन पाया कि वि-

षय कषायोंमें ही गवा दिया, आत्महित कुछ न कर सके। उनके उन कषायोंका क्षयोपशम है, तो अंतरंग निमित्तके भेदसे ही तो दो प्रकारके भाव हैं। कोई बहिरग निमित्तकी ओरसे निर्णय करे तो न बनेगा। पुरुष तो एक ही है यदि वह मोहका निमित्त है तो सबका मोह होना चाहिए और यदि वह विवेकका निमित्त है तो सबको विवेक होना चाहिए। तो उपचरित निमित्त, आरोपित निमित्त जिसको आश्रय हुआ जिसमे विचार बनाया, वह हो गया आरोपित निमित्त। तो भावक कर्म तो है निमित्त, और आश्रयभूत विषयभूत पदार्थ है उपचरित निमित्त। भावक निमित्त वास्तविक निमित्त है यह बात इस ध्यानसे भी समझना कि ऐसा माने बिना ये आगमके सारे शास्त्र मिथ्या हो जायेंगे। कितना वर्णन है कर्मकाण्डका। कर्मकाण्डका इतना वर्णन है आचार्योंका कि आधेसे ज्यादह आगम कर्मकाण्डमे भरा, धवल, महा धवल, जय धवल कैसी-कैसी युक्तियोसे भरे, कैसी उसमे विभक्ति बताया, अविभक्ति बताया, अब वह अध्ययन समाप्त होता जा रहा है, पर जितने विद्वान हुए ठोस विद्वान, पुराने विद्वान, अब आजकल नही दिख रहे, कितना परमागमका बोध था और साथ हो निर्मलता भी, शान्ति भी, समता भी, सब तरहका बोध, तो आप यो समझो कि देखो निमित्त नैमित्तिक भावके परिचयसे हमे शिक्षा क्या लेना है, बस यह निर्णय बना लें। हटनेकी शिक्षा लेना है। हटकर निवृत्त हो, उससे विमुख हों, उनका आश्रय मत करें, स्वभावका आश्रय करें।

(१२३) विधिनिषेधसे उपलब्ध सन्मार्गपर विधि निषेधके अवगमसे गमन—देखो भैया! निमित्त नैमित्तिक भावका परिचय है प्रतिषेधके लिए और उपादानमे स्वभावका परिचय है विधिके लिए। शब्दोका झगडा प्राय सभी सम्प्रदायोमे बनता है। अष्टसहस्री ग्रन्थमे चौथी कारिका का जो विस्तृत वर्णन है उसमे विधि नियोग और प्रेरणा वेद वाक्योके तीन-तीन अर्थ किए गए। उन तीन अर्थोंके आग्रहमे वहां ही तीन मतव्य बन गए—एक बना ब्रह्मवाद, एक बना भट्टीय और एक बना प्रभाकरीय। तो वहां तो इतनी गुंजाइस है, मगर जैनशासनमे शब्दोमे इतनी गुंजाइस नही है कि कई अर्थ किए जा सकें। यहां तो नय दृष्टिकी विविधतासे अनेक अर्थ हैं, प्राय. शब्द द्वारा अनेक अर्थ नही। तो उन नयोसे हमको अपने हित का मार्ग ढूंढना है। कही नयोकी चर्चामे नही भटक जाना है, इसमे पार होकर एक स्वभाव दृष्टिके लिए बढना है, उसमे बढ़ो। तो यहां भावक तो है निमित्त कारण और विषयभूत है उपचरित निमित्त। भावकका सन्निधान पाकर जीव जब विकार रूप होता है तो कैसे होता है व्यक्त, इन बाहरी पदार्थोमे दृष्टि देते हैं. सबसे बडी भारी विपदा है जीवपर अज्ञानकी। कैसा अज्ञान ? कैसा मन, जिसको प्रकट सभी जड़ वैभवोमे इतनी आसक्ति है कि चित्तमे वही रहता है, उसका बोध बना रहता है, और फिर पुत्र मित्र स्त्री आदिक पर जीवोमें कितनी

आसक्ति होती है। उसकी समझमे यह रहता है कि यह ही सर्वस्व है और इसीसे हम सुरक्षित है और इसीसे हम बडे कहलाते हैं, अच्छे कहलाते हैं, ऐसा बोध जिनके है उनपर कितनी बडी आपत्ति है। बाहरी बात आपत्ति नही कहलाती, किन्तु अपनेपर अज्ञान छुपा हो तो वह है आपत्ति। जहाँ स्वपरका भेद न हो सके वहाँ धैर्य कैसे बनेगा ? मैं सबसे निराला अमूर्त ज्ञानमात्र हू। मेरी कहाँ अरक्षा है ? मुझमे किसका प्रवेश है ? शस्त्रसे कटे नही, पानीसे गले नही, आगसे जले नही, हवासे उडे नही, पकडनेसे पकडा न जाय। इस ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वपर क्या आपत्ति आती है परपदार्थसे, किन्तु स्वय भीतरमे अज्ञान बसा हो तो यह ही तो विपदा है।

(१२४) सम्पर्क और उपयोगयोजनमे अन्तर—ये जो दो प्रकारके निमित्त है भावक याने पुद्गल कर्म और विषयभूत याने ससारके दिखने वाले पदार्थ। किनमे यह जीव उपयोग जोडता है विषयभूत पदार्थोंमे और यो यह अपने आपमें विकारोको व्यक्त करता है, तो यह हुआ भावक भाव्यका सकर। मिल गए, अहो—जैसे बेमेल जोड हो जाय तो जीवन भर खटखट रहती कि नही, ऐसे ही बेमेल जोड है जीवका और कर्मका। तो सदा खटखट रहेगी कि नही। कर्म है, अचेतन, जीव है चेतन। कर्म है दु खका हेतुभूत और जीव है आनन्दस्वरूप और इसकी बना दी गई जोडी, कौन ने बनाया ? अनादिसे बन रही। तो इसमे यह जीव भी नच रहा और कर्म भी मगर कर्म तो है ऐसा अचेतन कि उनको कुछ परवाह ही नही और जीव है चेतन सो बस सारी बिडम्बना जीवपर पड रही है। क्यो नही उमग आती कि अनन्त भव तो बिता डाला इन बाह्य निमित्तोके प्रसगमे अब एक भव ऐसा ही सही, किसीका ख्याल नही करना, और आत्मस्वभावको दृष्टि रखना है, उन अनन्तभवोमे अगर उनकी तरह एक भव जो न लगे तो कोई कमी पडी जाती है क्या ? उन अनन्तमे से समझो एक कम रहा तो कुछ कमी आ गई क्या ? क्यो नही उमग होती कि यह भव तो मैं धर्मसाधनामे ही लगाऊँगा। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ प्रयोजन नही। अब यहाँ देखिये इस जीव ने आलम्बन किसका लिया ? इन बाहरी पदार्थोंका। अगर कर्मोदय हुआ तब यह ज्ञान तिरस्कृत हो गया। इसको कौन बचाये ? अब उस समय यह विवेक है कि इस उपचरित निमित्तमे उपयोग न जोडें तो विजय है और इस उपचरित निमित्तमे उपयोग जोडें तो हार है। फिर भी वस्तु विधि देखिये कि कर्म अज्ञात है, उनमे उपयोग जोडनेरूप आलम्बन नही, किन्तु सम्पर्क रूप आलम्बन है। उपयोग जोडनेका आलम्बन और अर्थ रखता और प्रतिफलनका सम्पर्करूप आलम्बनका अन्य भाव है, यह बनता है अजीव अजीवमे जैसे प्राकृतिक इसी प्रकार यहाँ भी बनता है यह उपयोग जोडे बिना वस्तुविधिके अनुसार। तो वहाँ

यह अनिवारित है कर्मविपाकका प्रतिफलन है और उस प्रतिफलनमे आत्म तिरस्कार है, इस प्रकार जो अन्तः सम्पर्क है ऐसा आलम्बन है पर उपयोग जोड़नेरूप आलम्बन होगा तो इन बाहरी उपचरित निमित्तोमे ही होगा।

(१२५) **आश्रयभूत अर्थमे अर्थात् नोकर्ममें उपयोग न जोड़नेसे विजयकी संभवता**—हम इन कर्मोको क्या करेंगे ? जैसे कहते है ना 'मोह महा रिपु जोर' अच्छा इन अष्टकर्मोका जरा ध्वस करो। इन कर्मोको कैसे बिगाडोगे ? और कर्मोको कैसे जीतोगे ? कोई उपाय तो बताओ। अरे उनका जीतना यह ही है कि कर्मोदयके सहायक नोकर्म कहलाते हैं। ये विषय भूत पदार्थ हैं। ज्ञानबलसे इनमे उपयोग न जोड़ें, कर्मका पराजय होने लगेगा। तो जो करने की बात है वहां तो करें नही और केवल बातोमे ही हम अपना समय लगायें तो इसमे अनन्त भवोकी तरह यह भी भव जायगा। करें उपयोग। इस उपचार निमित्तका सहारा मत लें। इनमे उपयोग मत जोड़ें और अपने स्वभावके अभिमुख बने, यह तपश्चरण करते तो रहो, यह परिणमन होने तो दो। भव-भवके बांधे हुए कर्म निर्जीर्ण हो जायेंगे। तो अब देखो विकार दो जगह आया, जैसे लाल पीले कपडेका सामना पाकर दर्पणका प्रतिबिम्ब हुआ तो लाल पीला दो जगह आया दर्पणमे और कपड़ेमे तो कपड़ेका लाल पीला कपडेमे और दर्पणका लाल पीला दर्पणमे लेकिन दर्पणका लाल पीला दर्पणके स्वभावसे नही उठा लाल पीले, परद्रव्यका सन्निधान पाकर दर्पणमे आया, दोनो जगह बात स्वतन्त्र है। दर्पणके प्रतिबिम्बको व्याप्य व्यापक बनकर लाल पीला पदार्थने नही किया, फिर भी दर्पणके स्वभावसे वह प्रतिबिम्ब उठा नही, इन दोनोमे कोई एक बात न माने तो व्यवस्था नही बनती। स्वभाव भक्ति, अरे भला जब लोकमे भी किसीके प्रति भक्ति हो किसीके प्रति प्रीति हो तो उसके अवगुण नही दिखते, गुण ही दिखते। मां को अपने बच्चेमें गुण ही दिखते, अवगुण नही। बहुत ही ऐबी हो जाय तो उसकी बात अलग है। मगर साधारणतया मां बच्चेके गुण ही देखेगी, अवगुण नही। तो ऐसे ही जिसे आत्माके स्वभावकी, सहज परमात्मतत्त्वकी रुचि हुई है तो वह अशुद्धता नही देखना चाहता।

(१२६) **ज्ञानरुचिक संतोंकी अविकार स्वभाव देखनेकी धुन**—यदि ऐसा एकान्त है कि अपनी योग्यतासे अपने समयमे विकार कर जाता है जीव, निमित्तकी कुछ बात नही, तो यह अपने मे अवगुण देखेगा। ज्ञानी तो उसे ऐसा शुद्ध देखता जैसे समयसारमे बर्णन किया कि जीवके रागादिक भाव पौद्गलिक है, जीवके नही हैं, जैसे बच्चेको खोटी आदत लग जाय किसी लडके के संगसे और कोई शिकायत करे कि तुम्हारा बच्चा तो कुसगमे आ गया तो वह कहता है कि नही, हमारे बच्चेमे खोटी आदत नही है, वह आदत तो पड़ोसी

बच्चेकी लग गई है। तो एक मा अपने बच्चेको निर्दोष देखती है, क्योंकि वात्सल्य है ना ? यह ही प्रयोग किया है समयसारके अजीवाधिकारमे और कर्तृकर्माधिकारमे। यह जीव अकर्ता है कर्मका भी और विकारका भी, तब फिर कैसा है ? विशुद्ध चैतन्यमात्र। जब कभी ऐसा विशुद्ध ज्ञानस्वरूप ज्ञायकभाव अपने अनुभवमे आये तो समझो कि हमारा वह क्षण धन्य है और हमारा कल्याण हुआ, सम्यक्त्वका अभ्युदय हुआ, अब स्वच्छता आयी। विपरीत अभिप्रायका विच्छेद हुआ। यह है नयकी बात। तो ऐसे ज्ञानानुभूतिकी उमग रखनेकी धुन रखें तो आपको सर्वत्र हितका पथ मिलेगा। हाँ तो यहाँ क्या समझना है कि जिस समय मेरा इन बाह्य पदार्थोंमे विकार नही जुड रहा उस समय वह मुझमे अव्यक्त विकार बराबर चल रहे। क्योंकि भावक कर्मोदयके विपाककी विधि ऐसी है, लेकिन वह अव्यक्त विकार भी मेरा स्वरूप नही। और इन विषयभूत पदार्थोंमे उपयोग जोडकर जो मैं अपनेमे व्यक्त विकार करता हू यह मेरा स्वरूप नही। मैं तो समस्त विकारोसे विविक्त स्वभावत केवल ज्ञप्तिप्रतिभास मात्र हू। कभी सहज जगता। स्वयपर बीती हुई बात है। कोई घटना ऐसी हो रही है कि कुछ बरस रही है आपत्तियां अपने ऊपर और यह भीतर ही बहुत दृढ मन करके भीतर ही भीतर अपनी प्रगति भी कर रहा है। देखो स्वप्न आये ऐसा कि मेरे ऊपर रेलगाडी निकल रही है, तो स्वप्नमे ऐसा हो तो दृढ मन कर लेते कि निकल जाने दो गाडी। निकल जायगी गाडी हम सुरक्षित रहेगे। ऐसे ही बहुत अतर्बल करके यह ज्ञानी अपनेमे अनुभव करता है कि बीतने दो विकार, आ रहे हैं आने दो, जा रहे हैं जाने दो। मैं तो भीतर एक विशुद्ध चित्प्रतिभास मात्र हू, ऐसा बल, ऐसी धुन कि वह विकारसे विविक्त ही अपनेको अनुभव करता है।

—o—

(२७)

(१२७) **बन्धनोपाधि निमित्त और ममताश्रय निमित्तका विश्लेषण**—निमित्तोका प्रकार इन निबंधोमे बताया जा रहा है। मूलमे बातें दो है— (१) अन्तरग निमित्त और (२) बहिरग निमित्त। उसीके ही प्रकारान्तर कहे जा रहे है। यहाँ बताया जा रहा है कि एक तो है बधनोपाधि निमित्त और दूसरा है ममताश्रय निमित्त। याने जो कर्म बाँधे थे और उदयमे आये है वे कर्मविपाक कर्म कहलाते हैं, बधनोपाधिमे बधनोपाधिके सन्निधानसे होता क्या है यह बात निरखना है। जरा दृष्टातमे देखो—ये शब्द कहे जा रहे हैं समयसारके—बधनोपाधि निमित्तसन्निधानेन प्रधावितानामस्वभावभावाना। जैसे दर्पणके सामने कोई पदार्थ आया तो दर्पणमे प्रतिबिम्बको आनेमे कितनी देर लगती है ? ऐसा लगता है कि मानो एक-

दम दौड़कर ही ये प्रतिबिम्ब आ गए। तो ऐसे ही बंधनोपाधि सन्निधानसे एकदम प्रधावित हुए ये अस्वभावभाव है। इससे हुआ क्या कि आत्मामे जो स्वभावभाव है उसका तिरोधान हो गया। तब यह जीव अज्ञानसे मोहित हो गया। अब इसे कुछ सूझता नही। जैसे दर्पणमे प्रतिबिम्ब छा जाय तो दर्पणकी स्वच्छता तिरोभूत हो गई। अब वहाँ अन्य कुछ ज्ञेय न बन सकेगा, प्रतिभास न कर सकेगा, ऐसे अज्ञानमे जीवकी दशा विकृत हो जाती है। देखो यदि निमित्त नैमित्तिक भाव न हो और स्वय अपने आपकी ही योग्यतासे, परिणमनसे स्वप्रत्ययक होकर ही ये विकार भाव जगे तो इसकी समस्या यह होगी कि फिर ये मिटेंगे कैसे ? जो नैमित्तिक है वे मिट सकते हैं और जो स्वप्रत्ययक हैं वे मिट नही सकते। आचार्य संतोंने निमित्तनैमित्तिक भावका परिचय कराकर स्वभावकी रक्षा करायी है। समझो ज्ञानमे कि मैं चैतन्य स्वरूप अविकार हू। स्वय एक स्वच्छ प्रतिभास मात्र हू। तो जब बंधनोपाधिका सन्निधान हो और यहाँ एकदम अस्वभावभाव प्रभावित हो, ज्ञानस्वभावका तिरस्कार हो, तब अज्ञानसे मोहित होकर यह जीव कहता है कि यह मेरा है। मकान मेरा है, घर मेरा है, पुत्र मित्रादिक मेरे है, तो जिनमे मेरा है, मेरा है कह रहे वह कहलाता ममताश्रय निमित्त। उनका अन्वय व्यतिरेक नही है, और यह बधन उपाधि कर्मोदय विपाक कहलाया अन्वय व्यतिरेकी निमित्त। यहाँ यह बात समझना कि ममताके आश्रयभूत पदार्थोंमे यह जीव उपयोग जोडता है, और बन्धनोपाधि तो दृश्य भी नही हो रहा। कहाँ है वह कर्म ? उसमे उपयोग क्या जुडेगा ? वहाँ तो जैसे अजीव अजीवमे निमित्त नैमित्तिक भाव है सो यह चल रहा है। यह उपयोग जुडता है बहिरग निमित्तोंमे। जिसे कहते हैं ममताश्रय निमित्त।

(१२८) **भेदविज्ञानबलके द्वारा परभावसे हटकर स्वभावका आश्रय करनेमें कल्याण लाभ**—अब क्या करना चाहिए कल्याणके लिए कि भेदविज्ञानके बलसे अपने स्वरूपका परिचय करें तो इसका परिणाम क्या होगा कि बधनोपाधि शिथिल हो जायगी। कर्मोपर दृष्टि रखनेसे कर्म शिथिल नही होते, किन्तु अपने स्वभावका आश्रय करनेसे कर्म स्वय शिथिल हो जाते है। जैसे कर्मकी ओरसे यह निमित्त नैमित्तिक भाव है कि कर्मविपाक हो तो विकार होते जीवमे। तो जीवकी ओरसे यह निमित्त नैमित्तिक भाव है कि जीव अपने स्वभावका आश्रय करे तो कर्मबन्धन शिथिल हो जाते है, निर्जीर्ण हो जाते है, और जब ममता ही निर्मूल हो गई, ममता ही न रहगी तो फिर ये आश्रयभूत पदार्थ बहिरग पदार्थ ये फिर निमित्त कभी क्या होंगे ? तो कर्तव्य एक ही है, स्वभावका आश्रय करे। अपने आपको निरखे कि मैं ज्ञानमात्र हू। कर्मविपाक बड़ा विचित्र होता है। कुछ ज्ञानद्रस्कर, कुछ बड़ा [illegible] करके भी इसके आपके विवेकमे च्युत हो जाता है प्राणी। विवेकको खो देता है और बड़ा

उचित है, क्या अनुचित है ? इसे भी भूलकर अपनी कषायोका ही आग्रह रखते है, यह है कर्मविपाककी विचित्रता। देखो यहाँ यह ज्ञान दृढ रखना कि जीव कभी पुद्गल रूप नही होता और पुद्गल कभी जीवरूप नही होता। ऐसा स्वातत्र्य होनेपर भी यह निमित्त नैमित्तिक भाव विकारके प्रसगमे है ही, अन्यथा विकार हो नही सकता। हमको तो स्वभावके आश्रयकी शिक्षा लेनी है। वह शिक्षा मिलती है सर्व परिचयोमे। निमित्त नैमित्तिक भावके परिचयमे वह शिक्षा मिलती है कि नैमित्तिक भाव मेरे कुछ नहीं, उनसे हटें और लगें अपने आपके सहज स्वभावके अवलोकनमे। तो हर विधियोमे हम स्वभावाश्रयकी शिक्षा प्राप्त करें।

—०—

(२८)

(१२६) **अन्तरङ्ग निमित्त व उपचरित निमित्तके वर्णनका उपसंहार**—अब यहाँ इस विषयका उपसहार किया जा रहा है, इसके बाद फिर नये नये विषय आयेंगे। जिस प्रकारसे इन निमित्तोका द्विविधपना बताया है उस सबका सारांश यह है कि वे है दो प्रकार के अतरगनिमित्त याने वास्तविक निमित्त और उपचरित निमित्त। देखो जब अजीव अजीव का प्रसग हुआ तो वहाँ तो वास्तविक निमित्त और उपादान ये दो ही रहते हैं, पर चूँकि जीव उपयोग स्वरूप है, ज्ञानवान है तो जीवमे विकार होनेके प्रसंगमे एक निमित्त और निकल बैठता है। उसे कहते है उपचरित निमित्त याने जिन-जिन पदार्थोंका आश्रय करें तो विकार व्यक्त हो ऐसे इन पदार्थोंका आश्रय करना यह है उपचरित निमित्तका सम्बन्ध। तो वास्तविक निमित्त तो है कर्मका उदय और उपचरित निमित्त है ५ इन्द्रियाँ और मनके विषयभूत पदार्थ। इतना तो होता ही है कि जब पूर्वबद्ध कर्म उदयमे आते हैं और वहाँ कर्म मे एक भयकर विड्रूप स्थिति बनती है तो वहाँ इस जीवके ज्ञानस्वभावका तिरस्कार तो हो ही जाता है। अब उस तिरस्कारके समय जीव क्या करं ? भीतरमे तो कुछ विवेक कर पाता नही, भीतर तो उसकी बुद्धि चलती नही, तो उस बुद्धिका परिपाक बाहरी पदार्थोंकी ओर होने लगता है। क्या करे यह उपयोग ? कहावत है कि गधासे न जीते तो कुम्हारीके कान मरोड दिये। घर घरमे भी ऐसा होता पतिसे न जीते तो लडकेके चार थप्पड मार दिये। होता ही है प्राय. दुर्बुद्धिमे ऐसा। अरे जिस कर्मोदयका सन्निधान पाकर सारी विडम्बना बनी कि ज्ञानस्वभाव तिरस्कृत हो गया, भीतरमे अब कुछ बुद्धि बल नही चल रहा, ऐसी जब स्थिति होती है तब क्या करे यह जीव ? बाहरके इन विषयभूत उपचरित निमित्तो

मे यह अपना उपयोग जोडता है। शिक्षा हमको यहाँ क्या मिली कि देखो तुम उपादान पूर्वक उपयोग क्या कर सकते हो ? बस दो प्रकारके पुरुषार्थ एक तो वस्तु स्वभावको निरख करके आत्मस्वभावकी भक्ति करना और दूसरे इन कषायोके आश्रयभूत बाहरी पदार्थोंका आलबन छोडकर अपनेको शान्त, कृतार्थ करना। जो कुछ भी उपाय है वह है मोक्षमार्गमे प्रवेश करने का तो यही कि विभावोंका तो सहयोग छोड दें और आत्मस्वरूप का आलम्बन बनायें। तो यहा यह बात आयी ना कि निमित्तपने का उपचार कर्मविपाकपर नही होता, किन्तु मन और इन्द्रियके विषयभूत पदार्थोंपर निमित्तपनेका उपचार होता है। जिनपर उपचार होता उनका बल नही समझा जाता। यहा तो हम अपनी कल्पनासे उनमे उपयोग जोडते है और अपने आपमे वेदना उत्पन्न करते हैं। भैया ! अन्तरंग निमित्त और उपचरित निमित्तमे अन्तर तो समझना होगा अन्यथा कर्म और नोकर्म ऐसे दो शब्द क्यो दिये आचार्योंने ? तो कला है, माद्दा है, कुशलता है तो अपने आपमे अपने सहज स्वभावके परखने की।

(१३०) **पराश्रय त्याग कर स्वाश्रय करनेमें ही आत्मलाभ**—सहज स्वभावके परखने की विधियाँ क्या हैं। तो किया तो प्रयत्न सभी दार्शनिकोने कि हम उस परमब्रह्म चित्स्वभाव का परिचय करें और उसमे मग्न हो, लेकिन जो बीत रही है उसे तो सुलझावो। बीत रही क्या हमपर बात ? बीत रही है बाह्य पदार्थोंका विषय बनाकर उनमे उलझनेकी बात। धर्म कहाँ है ? धर्म है—समता रखो, अपने ज्ञानस्वरूपका आदर करो, समता यहाँ है समता बाह्य विडम्बनामें नही, बाहरी पक्षमे नही, कषायके दुराग्रहमे नही। धर्म मिलेगा तो आत्मा के सहज स्वभावके आलम्बनमे मिलेगा। पक्ष दुराग्रह, अधर्म, अन्याय, व्यसन इनकी ओर दृढ श्रद्धान होनेमे कही धर्म रखा है ? धर्म है एक आत्मस्वरूप, आत्मस्वभाव। वह कैसे प्रकट होगा ? बस वह दि० जैन आचार्य संतोकी देनके उपयोगसे प्रकट होगा। हम सतो का आभार क्या मान सकते है, हम उनकी की हुई कृपाका क्या बदला चुका सकते हैं ? कुछ समर्थ नही। इन आचार्य संतोने निश्चय व्यवहार यथापद चरणानुयोग सब प्रकारका निर्देशन करके जगतके प्राणियोको शान्तिका मार्ग दिखा दिया। देखो बात क्या गुजर रही है आत्मा मे ? कठिन कुछ नही है, भीतर ध्यान देकर सुना जाय तो सब समझमे आयगा, क्योकि कही तो अपनी ही बात जा रही है। पहले बांधे हुए कर्मका उदय आया कि देखो तत्काल कितनी भ्रान्ति विभ्रान्ति मच जाती है। कर्मोदय आया, ज्ञानस्वच्छताका तिरस्कार हुआ यह ज्ञानमे विमुग्ध हो गया, क्या करे ? जब इसे कुछ सूझ नही तो इसने बाह्य पदार्थोंमे उपयोग जोडा, उपयोग जोड़कर व्यक्त विकार किया। अब इस व्यक्त विकारका निमित्त पाकर उदयमे आये

हुए कर्मोंको ऐसा बल मिला कि वे नवीन कर्मोंके आश्रवके निमित्त बन जाते हैं। और, इस तरह फिर उनका उदय आयगा और यह ससार परम्परा चलती रहती है। कब तक? जब तक कि आत्मा और परभावोंमे विवेक न बन जाय। तो ऐसे परके उपयोगकी बात छोडकर एक आत्माके ही इस चैतन्यस्वभावके उपयोगमे सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए। देखो श्रावक जनोंका धर्म कब तक रहेगा जब तक देव, शास्त्र, गुरुके प्रति अनन्य भक्ति होगी और विनम्रताका भाव रहेगा। अपनेको सबसे बडा न मानकर सबको अपने ही समान स्वरूप वाला समझा जायगा तो वहाँ श्रावकोकी तरक्की होगी। विरुद्ध परिणतिमे जीवके उद्धारका अवसर नही होता। इस मनुष्यको केवल दो ही तो काम पडे हैं। 'कला बहत्तर पुरुषकी तामे दो सरदार। एक जीवकी जीविका, दूजी जीवोद्धार'। दो काम करनेको पडे हैं—(१) आजीविका करें और (२) आत्मोद्धारका काम करें। यह गृहस्थोकी बात कह रहे हैं, और जिस दिन ख्याति, पूजा, कुल, जाति आदि किसीका भी आश्रय करके एक विकार जगेगा वहाँ आत्महित न होगा। विकार मत जगो। ऐसी एक निर्विकार स्थिति बनानेके लिए आवश्यकता है कषायोंके त्यागनेकी, मोहको हटानेकी। जो ज्ञानी है उसका एक ही काम है— निज सहज शुद्ध ज्ञानका आलम्बन लेना, इसके अतिरिक्त दूसरा काम नही होता ज्ञानीका। अगर ज्ञानी बाह्य विषयोंको ले, पक्षमे रहे, मोहमे रहे, दुराग्रहमे रहे, कषायोकी हठमे रहे तो उसने आत्मस्वभाव जना कहाँ? वह तो अज्ञानी है। अपने आपको दीर्घ संसारमे डुबाने वाला है। देखो अपनेमे एक विशुद्ध आत्मस्वरूप। देखो जगतमे दूसरेका विशुद्ध आत्मस्वरूप। ऐसी दो बातें करनेकी हैं। मायने ख्याल ही तो है, जैसे पुत्र मित्रका ख्याल गुरुवोंका यह कुछ नही है, ख्याल है, नोकर्म शुद्धात्म भक्ति और पचगुरु भक्ति। कोई गुरुजनका, पच करके ममता जग गई ऐसे ही केवल ख्याल है, कुछ नही है। मैं ही सर्वस्व हू, शुद्ध हू, सिद्ध हो गया। ऐसी भीतरमे उद्दण्डता रखे तो वह भी गर्तमें है और उसका सत्सग करके जो अपना ऐसा विपरीत भाव बनावे वह भी गर्तमे है। देखो परखो, अपनेमे कितनी गल्तियाँ हैं, उनको दूर करें। अपनेमे कैसा अनन्त ज्ञानानन्दकी निधि बसी है उसका ध्यान करें। बढते चलें मुक्तिमार्गमे, यही एक पावन कार्य है।

—०—

(२६)

(१३१) जीवविकारकी नैमित्तिकता व मात्र जीवयोग्यताजन्यताकी जिज्ञासाका समाधान—जीव विकारके सम्बंधमें दो प्रश्न उपस्थित होते हैं कि यह जीव विकार नैमित्तिक है

या मात्र जीव योग्यता जन्य है ? दोनो प्रश्नोका भाव क्या है ? याने जीवमे जो क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय, विकार उत्पन्न होते है वे क्या इस तरह होते है कि कोई कर्म निमित्त उदय विपाक सन्निधानमे होता है तब रागद्वेष क्रोधादिक विकार होते है क्या ? एक प्रश्न तो यह है और एक वह तो जीवकी योग्यतासे होता है, जब जीवके जो भाव आनेको हो, योग्यता हो उस तरहके भाव आते जाते है, एक यह प्रश्न । इन दो प्रश्नोका सामाधान इस निबधमे है। अब यहां फिर भी खुलासा समझो । जीव योग्यताजन्य है, इसका अर्थ यह है कि मात्र जीवकी योग्यतासे पर्यायें होती चली जा रही है, क्या यह बात किसी दृष्टिसे ठीक हो सकती है ? हां हो सकती है । जब केवल जीव द्रव्यको ही देखा जा रहा है, निमित्तपर दृष्टि नही, न निमित्त का विधि निषेध है, न वहांका कोई ख्याल किया जा रहा है, केवल जीवको देखा जा रहा है तो वहां उसकी पर्याय समझमे आती है और ऐसा विविक्त होता है कि जीवकी योग्यतासे ये विकार आते चले जा रहे है, क्या ये विकार किसी परपदार्थकी योग्यतासे आये है ? नही नही, उपादानकी योग्यतासे आये हैं, तो यह बात झूठ नही है । अगर इसका एकान्त हो जाय कि बात ऐसी ही है कि विकार जीवकी योग्यतासे ही होता है, निमित्तकी वहा कुछ बात नही कहे, यह बिल्कुल झूठ हो जाता है । सत्य होकर भी असत्य कब होता है जब कि एकान्तका आग्रह हो । तो उस दृष्टिमे सत्य होकर भी असत्य बन जाता है । क्या हानि हुई ? यदि एक यह ही आग्रह रहे तो वह तो जीवकी योग्यता होते चले जा रहे हैं निमित्तकी वहा क्या बात है ? सन्निधान माननेकी भी जरूरत क्या है ? अगर तुम हमको हैरान करते हो तो हम कह देंगे कि उस समय जो हाजिर हो जाता है, सो निमित्त है । सो भैया ! ऐसी बात नही है, बात दोनों हैं । यहां देखो तो यह देखना है कि जीवकी परिणतिया है, जीवकी योग्यतायें है, योग्यतासे ये सब परिणमन चलते चले जा रहे है । मगर वहां एकान्त हो जानेपर एक समस्या आती है, तो फिर ऐसी योग्यता सदा क्यो नही रहती ? क्यो बदलती रहती है योग्यता ? कभी शान्त हो गया, अशान्त हो गया, क्रोध हो गया, ये योग्यतायें बदलती क्यो रहती है ? अगर कहो कि उनमे तो ऐसी ही योग्यता है कि वह ध्यान रहे तो यह तो सब एक लाज खोकर उत्तर देनेकी बात है, युक्ति नही जोडी । दार्शनिक शास्त्रमे युक्तिकी मुख्यता है । अगर कोई बसती है योग्यता तो यह योग्यता सदा क्यो नही रहती जीवमे ? जब परपदार्थका सन्निधान ही कुछ नही है तो पदार्थके विषयकी योग्यता सदा रहनी चाहिए, तब एकान्तकी बात ठीक न बैठेगी । ठीक रहकर भी ठीक नही रही यह ध्यानमे लाना है ।

(१३२) **दृष्टान्तपूर्वक विकारकी नैमित्तिकताका समर्थन**—जैसे कोई प्राणी केवल दर्पणको यहां देख रहा है और सड़कपर बहुतसे आदमी जा रहे हैं, गधा, घोड़ा, सूअर, पुरुष

आदिक और सामने दुकानपर बडा ऐना लगा है तो उसमे सारे प्रतिबिम्ब हो रहे हैं। अब निमित्तको न देखें, भले ही दर्पणको देख रहे तो समझमे आ रहा कि दर्पणमे दर्पणकी परिणतिसे यह प्रतिबिम्ब बदलता चला जा रहा है। कोई अन्य द्रव्य नही है, लेकिन इसीका ही कोई एकान्त कर ले कि वह तो उसकी योग्यतासे ही ऐसा हो रहा तो क्यो नही एकसे रहते, क्यो नही सदा रहते ? इसका कारण क्या ? कोई उत्तर न बनेगा। तो दूसरी बात माननी होगी अब कि परनिमित्त उपाधिका सन्निधान पाकर जीव अपनी परिणतिसे ऐसा विकार करता चला जा रहा है। देखो जैनशासन स्याद्वाद कितना विवाद रहित है। कही विसम्वाद नही, कही झगडा नही, कही असत्य नही, मगर प्रतिपक्षनयका विरोध करे तो वह असत्य हो जाता है। हाँ अब देखिये कोई ऐसा ही कहे कि जीवमे विकारको तो निमित्तने ही किया। जीव क्या करे ? तो यह भी बात ठीक है। निमित्त न हो तो जीवमे विकार नही आ सकता इसलिए निमित्तसे यह विकार निष्पन्न हुआ है, जिन बातोको समयसारमे इतना कहा— 'पुद्गल कम्मणिप्पण्णा' मगर कोई इसका ही एकान्त करके रह जाय अजी जीवके विकारको तो निमित्त ही करता है जीवका वहा कुछ वश नही चलता तो इसमे क्या आपत्ति आयगी ? जैसे और लोग कहते हैं कि ईश्वर सबको सुख दुःख देता है, पुण्य पाप कराता है ऐसा जो मान लेता हैं वह कायर हो जाता है। हम क्या करें, उसीकी ही भक्ति करें, वही हमे सुख देगा, तो यो यह निमित्त ही कर्ता है, यही सब कुछ है, तो इसमे तो वही पराधीनता आयगी कि मैं तो कुछ करनेमे समर्थ नही। निमित्त जैसा कहेगा, जैसा करेगा सो होगा, तो इसमे मार्ग नही मिला, इसलिए यह भी बात सत्य होकर भी एकान्तमे आ जाय तो असत्य हो जाती है।

(१३३) **आत्महितार्थीको निष्पक्षताके आदरका महत्त्व**—देखो आत्महित चाहिए है तो निष्पक्षताका आदर करो। निष्पक्षताके आदरके मायने प्रमाणसे सोच लो सब दृष्टियोसे संभाल लो, और अपना प्रयोजन निकाल लो। भला जब किसी झगड़ेमें फस जाते हैं, जैसे मानो स्टेशन पर ही पुलिसने रोक लिया कहा कि साहब अपना सामान दिखाओ, तो वहाँ सोचते हैं ना कि कहाँ झंझटमे फस गए, अब कैसे उपाय मिले कि इससे निवृत्त हो, जब उपाय मिलता तो वह निवृत्त हो जाता है। तो जहाँ इतनी बडी विडम्बना विपत्ति लग रही है, कितना फसाव है, यह नही सोचते कि हमको तो सर्व कुशलताओसे इन झंझटोसे निकलने की बात करना है। तो देखो शिक्षा सब नयोसे मिलती है। कोई नय बेकार नही है और यह उन्मत्तोकी चेष्टा है कि कभी पर्यायार्थिकनयकी मुख्यता करके अध्यात्म बनाया और कभी द्रव्यार्थिकनयकी मुख्यता करके अध्यात्म बनाया। जब एकान्तका आग्रह हो जाता है तब उसे

कुछ सूझता नही है। तो जब जैसे कहनेमे आ गया तो कह देता है, कभी माँ को माँ कह देता और कभी मांको स्त्री कह देता, कभी स्त्रीको माँ कह देता, ऐसी कोई एक समुचित व्यवस्था नही रहती है जब तक कि हृदयशुद्ध निष्पक्ष न हो। तो अब देखो यहाँ जो दो प्रश्न किए गए कि जीव जीवके विकार नैमित्तिक है या मात्र जीव योग्यता जन्य है ? उत्तर दोनो हैं, परपरस्पर सापेक्ष हो तो दोनो सही, निरपेक्ष हो तो दोनो गलत। हम वहाँसे शिक्षा क्या लें ? जहाँ हमने जाना कि मेरी योग्यतासे ये होते जाते है वहा यह ध्यान होना चाहिए कि हम अपनी योग्यता बतलाते, कुछ बनाते, यह ध्यान कब जगे जब हम नैमित्तिक भावकी आस्था बनायें, मगर जीवमे जीवकी योग्यता इतना ही सारा काम है तो हम उस योग्यताको मिटानेका भाव ही नही कर सकते और जब यहा जाना कि जीव नैमित्तिक है, निमित्त पाकर हुआ है तो हमको यह शिक्षा मिलती है कि यह मेरी चीज नही है। यह तो निमित्त पाकर हो गया है। मैं तो विशुद्ध चैतन्यमात्र हू। जैसे जो गुणग्राही पुरुष है वह बच्चेके वचनोसे भी शिक्षा ले लेते है, ऐसा घमड न करें कि मैं बूढा हो गया हू, मैं इस छोरेकी बात क्यो मानूं ? यह कलका छोकरा हमे क्या ज्ञान सिखाता, ऐसा गर्व न करें। वृद्ध कहे, जवान कहे, बालक कहे, अगर उसके वचनोमे गुण है तो उसे ग्रहण करें। एक ऐसी घटना है कि एक शास्त्रसभामे तीन आदमी रोज आते थे। और शास्त्र पढते थे—उनमे एक था छोटा बालक, एक था जवान और एक था बूढा। तो उन तीनोमे यह बात तय हुई कि अपन तीनो मे से जो भी पहले विरक्त हो वह दूसरेको भी समझावे (सम्बोधे) ताकि वे दो भी विरक्त हो जायें। तो सबसे पहले बूढे व्यक्तिने सोचा कि अब हम को घर द्वार सब कुछ छोडकर आत्मसाधना करना चाहिए सो एक दो सालमे उसने सब प्रकारका ठीक ठीक इन्तजाम कर दिया, अपने लडका लडकी वगैरहको जिसे जो देना था सो दे दिया। सब कुछ समझा बुझा कर वह विरक्त होकर घरसे निकला। उस समय दोपहरका समय था। आगे वह अपने उस नवयुवक मित्रसे मिला जिसकी दुकान रास्ते पर पडती थी— बोला हम तो अब विरक्त होकर जा रहे हैं गुरुचरणोमे, वहाँ आत्मसाधना करेंगे तो वह नवयुवक बोला—रुको हम भी तुम्हारे साथ चलते है। अरे ऐसा न करो, पहले सब व्यवस्था तो कर दो। अरे जिसे छोडना ही है उसकी क्या व्यवस्था करना ? चल दिया। आगे वह बालक खेलता हुआ मिला। वे दोनों बोले—हम दोनो तो विरक्त होकर जा रहे गुरु चरणोमे तो इतना सुनकर ही उस बालकने गुल्ली डडा फेंका और उनके साथ चल दिया। उन दोनो ने बहुत समझाया कि अरे तुम्हारी अभी सगाई हुई है, विवाह कर लो, कुछ वर्ष गृहस्थीमें रह लो फिर साथ चलना। तो वह बालक बोला—अरे जिस कीचडको छोडना ही है उसे लपेटने

की क्या जरूरत ? बस साथ चल दिया।

(१३४) शान्तिके उपायका पूरक व्यवहार— भाई अगर शान्ति चाहते हो, एक आदर्श बनना चाहते हो, अपने जीवनको बडा सतुष्ट रखना चाहते हो तो देखो गुणग्राही बनो और अन्यायको तजनेका सकल्प बनाओ। अन्याय क्या ? कोई घर पर अन्याय करते हैं उसे न करें, जो समाजमे अन्याय करते उसे न करें। न्यायके प्रेमी बने। अन्यायके साथी मत बनो। एक गुण तो यह होना चाहिए जीवनमे अगर जीवनमे सुखमे रहना चाहते हो तो। भाव तो होना ही चाहिए। जितना कर सकें करें, मगर परिणाम यह होना चाहिए कि हम अनीतिकी बात पाप की बात, देव, शास्त्र, गुरुके द्रोहकी बात यह हम पसद न करें, इस तरहसे एक शुद्ध मन बनाकर चलो और गुणग्राही बनो। कोई पडित जन आयें, त्यागीजन आयें, कोई पुरुष आये उनमे क्या गुण है। सबमें कोई न कोई गुण मिलेगा भिखारियोको जो इधर उधर फिरते देखते हैं उनको भी तुच्छ मानना योग्य नही, अरे उनमे भी कही कोई गुण ऐसा मिल जाय कि जो हम आपके भी न हो। तो यहा इस प्रसंगमे जीवकी योग्यतासे विकार होता है यह वाक्य है निश्चयनयका और निमित्त पाकर उनके विकार होता है यह वचन है व्यवहारनयका। यह व्यवहारनय उपचरित वाला नही है, जिसे कि झूठ कहते, झूठ इसमे एक भी नही है। उपचरित वाला व्यवहार झूठ होता है जो एक द्रव्यकी बात दूसरे द्रव्यमे मिलाकर कहता है। यहां एक द्रव्यकी बात दूसरे द्रव्यमे मिलाकर नही कही जा रही व्यवहारनयमें। साफ स्पष्ट बताया जा रहा है कि कर्मविपाकका सन्निधान पाकर जीव अपनी परिणतिसे विकारभावको प्राप्त होता है। घटना बताया कि एक द्रव्यकी बात दूसरे द्रव्यमे नही मिलाई गई इसलिए उपचार नही है। यह प्रम णाशरूप व्यवहार है। तो ये दो वचन हैं निश्चय वचन और व्यवहार वचन। अगर निश्चय निरपेक्ष व्यवहार कहो तो झूठ, व्यवहार निरपेक्ष निश्चय कहो तो झूठ। बात दोनो ही समझना होगा, तब दोनो ही सत्य है। फिर करना क्या है ? करना यह है कि भाई व्यवहार जरा बहुमुखी होता है, बहुमुखीमे निवृत्त हुए, निश्चयनयपर आये। निश्चयनय भी विकल्पात्मक होता है, फिर निश्चयनयसे भी हटे, स्वके अनुभवमे आये यह है पद्धति अपने मोक्षमार्गमे प्रगति करनेकी। अब क्या प्रयोग करना चाहिए ? यह बात है सबकी अपनी अपनी योग्यताकी।

(१३५) आचार्य संतोंकी वाणीकी सर्वहितरूपता— आचार्य सतोंने सब जीवोपर करुणा भाव दिखाया है। चांडाल जो मासके बिना रह नही सकता तो उसको आचार्योंने यह नहीं कहा कि शुद्ध ब्रह्म हो, कथा समाप्त। बस धीरे धीरे उसे छुडाया। तू मांसका परित्याग कर। ...महाराज हमसे न बनेगा। अच्छा तो तुझे कौन सा मांस अधिक अच्छा लगता ? ...

कोवाका। ...अच्छा तो तू उसीको छोड़ दे। वह उसपर दृढ़ रहा। प्रत्येक व्यक्तिको उसकी योग्यताके अनुसार उपदेश भरे पडे हुए हैं और इसी तरह वे बढते है, चलते है तो निश्चयनय की बातसे वे समझते हैं। निश्चयनयका वचन ठीक है, लाभदायक है, हितकारी है, और उस के बाद स्वानुभवका नम्बर आता है। इतना सब होनेपर भी जैसे कुत्तोको कोई लाइलोनकी साड़ी पहिना दे, चटाईका लहँगा, रेशमकी साडी, तो वह कुछ निश्चयनय है तो उत्तम मगर निश्चयनयको पचानेका, निश्चयनयका ग्रास्य करनेका अधिकार भी तो होना चाहिये। अन्यथा बनारसीदासका ही एक पद है—करनीका रस मिट गया, भयो नहि आतम स्वाद भई बनारसिकी दशा यथा ऊँटका पाद। याने करनी तो छोड दी और आत्माका स्वाद मिल नही पाया, इसमे बनारसीदास कहते कि इस तरह मैं रहा ऊँटका पाद। ऊँटके ५ पाद (पैर) होते हैं। ४ तो बडे पैर होते हैं और एक छोटा सा पैर छातीमे होता है जो कि ऊपर टँगा रहता है, जो कि किसी मतलबका नही। तो मतलब यह है कि बात सब ठीक है, समझ लें, आस्था करें मगर जब प्रयोगमे चलते है तब पता पडता है। जैसे एक रोटी बनाने की ही बात ले लो, बात तो सब लोग कर लेंगे, इस तरहसे आटा गूमो, इस तरहसे बेलो, इस तरहसे बेलो, इस तरहसे परथन बनाओ, इस तरहसे बेल बेलकर तवामे डाल दो, फिर उसे आगपर सेंक लो, यो कहनेमे क्या है, शब्दोंसे तो जो चाहे बोल दे पर जरा करके तो दिखाओ, रोटी बनानेमे आफत पड जायगी। ऐसे ही हारमोनियम बजाने वालेको देखकर लोग सोचते है कि यह तो मामूली काम है, जरा अंगुलियोको इधर उधर घुमाते रहो बन जायगा लेकिन जरा ऐसा कहने वाले लोग बजाकर तो दिखाये। तो जो प्रयोगसाध्य बात है वह केवल बातोसे नही पूरी होती, उसे तो जब प्रयोगात्मकरूपसे करो तब उसका सही पता पडता है कि उसमे कितनी बाधायें आती हैं।

(१३६) **यथोचित व्यवहारसाधनमे गुजरते हुए निश्चयकी आराधना कर्तव्य**—अब हमें क्या करना चाहिए, किस तरह रहना चाहिए ? तो भाई निश्चयनय, व्यवहारनय दोनो का त्याग मत करें। समयसारमे बताया है 'जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छये मुयए। एक्केण विणा छिज्जइ तित्थ अण्णेण पुण तित्थ'। अगर जैन सिद्धान्तकी बात समझना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चयनयको मत छोडो। व्यवहार छोड दोगे तो तीर्थ मिट जायगा। तीर्थ मिटनेका भी पाप लगता है। जैसे मानो कोई भावुकतामे आकर दिगम्बर परम्पराको मिटा दे तो आगे जो करोड़ो अरबोकी संख्यामे संतान होगे उन सबके अकल्याणका पाप लगता है। यह है उसका फल, और अगर निश्चयको छोड देंगे तो तत्त्व मिट जायगा। अगर निश्चयनयकी बात चित्तमे न ला सकें तो फिर हमने किया क्या ? तो दोनो ही बातें देखना है।

हाँ तो नैमित्तिक है विकार और यह कहना उसका सत्य है जिसके निश्चयको यह समझ रखा हो कि जीवकी परिणति है यह और जीवकी परिणतिसे ही हो रहा है विकार। अच्छा, और जीवकी परिणतिसे योग्यतासे ही होता है विकार। कहना उसका सत्य है जिसने यह परखा कि कर्म विपाकका सन्निधान पाकर जीवकी योग्यतासे होता है यह विकार। देखो एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका तीनकालमें भी कर्ता नही होता। तो दूसरेकी परिणतिसे परिणम नही सकना, सभी पदार्थ अपनी परिणतिसे अपने ही स्वरूपमे परिणमते हैं, ऐसा जो जानता है वह समझता है कि केवल अपनी ही योग्यतासे होते हुए तो स्वप्रत्ययक कहलाया ना। परका तो नाम भी नही है, तो जानते हैं कि आपके जो स्वप्रत्यय परिणमन होता है वह कहलाता है स्वभाव परिणमन। तो क्या योग्यता मात्रसे हुए विकार स्वभाव परिणमन हैं ? नही हैं। विभाव है। क्यो विभाव है कि पर उपाधिका सग पाकर हुए। कैसा परस्पर मैत्रीभाव रहता है दोनोका कि एकको छोडकर एक जाय तो उसका नाश हो। दोनोको छोडकर निश्चय चले तो निश्चयका नाश हो, निश्चयको छोडकर व्यवहार चले तो व्यवहारका नाश हो, ऐसी परस्पर मैत्री है। जिसे अमृतचन्द्र सूरिने पुरुषार्थसिद्धि उपायमे बताया है कि जो स्वपर प्रत्ययक परिणमन होगा वह शुद्ध ही होगा, किन्तु उसके विपरीतमे अगर कोई विकार परिणमन है तो यह निश्चित है कि वह स्वपर प्रत्ययक होता है। जैन सिद्धान्तमे सर्वत्र ये शब्द आयेंगे तो इसमे निमित्त परसग ही है। इस कारण जीवविकार नैमित्तिक है। जीवविकार योग्यता जन्य है। दोनों ही अपने अपने ठीक चल रहे हैं।

—•—

(३०)

(१३७) **निमित्तनैमित्तिकभाव व विषयविषयिभावका विश्लेषणमें विकारभावकी घटनामे वस्तुस्वातन्त्र्य व निमित्तनैमित्तिकभावके अविरोधका दर्शन**—इसमे बतला रहे हैं निमित्त नैमित्तिक भाव व विषयविषयी भाव। दो प्रकरण हैं इसके अन्दर। अर्थ क्या हुआ ? विषय विषयीभाव तो होता है ज्ञायकके प्रसगमे और निमित्तनैमित्तिक भाव होता है कारकके प्रसगमे। अभी बतलाते हैं, जैसे जीवमे कषाय हुई इसका विधान है निमित्तनैमित्तिक भाव और हमने यह सब जान लिया यह कहलाया विषयविषयी भाव। इसे विषयविषयी भावको जाननेमे कार्यकारणपना नही होता और निमित्तनैमित्तिक भावमे कार्यकारणपना होता है। अष्टसहस्री ग्रन्थमे समन्तभद्राचार्यने, आप्तमीमांसामे इसका दार्शनिक विधिसे बड़ा विस्तार

दिया है। तो अशुद्ध उपादान अनुकूल निमित्तके सन्निधानमे अनुरूप विकार परिणमन करता है यह तो हुआ निमित्तनैमित्तिक भावका अर्थ। इसी विधानसे कर सकते आये और इसी विधानसे कर सकते रहेगे। यह है निमित्तनैमित्तिक भावकी बात। जो परिणमन जिस विधानसे होता वह परिणमन उसी विधानपूर्वक होता है। यह कभी न होगा कि कल तो रोटी आगपर सिकी और आज पानी पर सिक जाय। जैसा जो निमित्त नैमित्तिक भाव है वैसा उसी ढगसे होगा, फिर भी वहाँ यह निरखते रहना चाहिए कि निमित्तका कोई अश उपादान मे नही गया। किन्तु उपादानमे ही ऐसी योग्यता है कि ऐसे निमित्तका सान्निध्य पाकर वह इस प्रकार परिणम जायगा। एक मोटा दृष्टान्त लो। हम तखत पर इस तरह बैठ गए तो यहाँ क्या कहेगे ? क्या यह कहेंगे कि तखतने बैठा दिया या यह कहेगे कि हम अपने आप आकर बैठ गए ? बात क्या हुई कि इस तखतका आश्रय कर हम ही अपनी परिणतिसे अपने ही पुरुषार्थसे अपने आपमे इस तरह बैठ गए। एक मोटा दृष्टान्त कह रहे। निमित्तका कुछ अश उपादानमे नही गया, फिर भी निमित्तके सन्निधान बिना उपादानमे यह विकार नही होता। तो दोनो बातोका यथार्थ निरखें तो कहलाता है ज्ञानबल और जो पक्षपात रखता हो किसी प्रकारका। दोनोकी ही बात कह रहे है, भाई कही निमित्तनैमित्तिकभाव मिट न जाय इसलिए टंकेकी चोटमे बोलो कि वस्तुस्वातत्र्य कुछ नही है, जैसा निमित्त हुआ वैसा काम होना है तो यह है उसके ज्ञानकी कमजोरी। और कोई यो कह बैठे इस डरसे कि वस्तुस्वातत्र्य कही मिट न जाय इसलिए यह कह देते कि निमित्त नैमित्तिक कुछ नही होता। यह भी उसके ज्ञानकी कमजोरी है। विशिष्ट ज्ञानबल उसका है जिससे दोनो बातें साफ साफ नजर आयें कि इस जगतके सारे परिणमनोमे निमित्त नैमित्तिक भाव है और वस्तुस्वातंत्र्य भी अमिट है। तो जो निमित्त नैमित्तिक भावका वर्णन किया यह है विकार परिणमनकी बात।

(१३८) ज्ञान और ज्ञेयमे मात्र विषयविषयिसम्बन्ध—अब देखिये ज्ञानपरिणमन, शुद्धपरिणमन जो ज्ञान निरावरण हो गया वह अपनी सहज जाननवृत्तिसे अपना जानन परिणमन कर रहा है, जाननेमे तीन काल तीन लोकवर्ती सर्वपदार्थ आ गए। जैसा था, जैसा है जैसा होगा प्रतिबिम्बित होता है। यह विषय विषयी भाव है। यहाँ यह बात न सोचना कि जैसा जाना सो हो गया, जो होगा सो जाना। यहाँ पर विधान, अर्थात् जो जिस विधिसे होता था, हुआ है, होवेगा वह ज्ञानमें आ गया। ज्ञानमे आया। जब कि वह सत् है। तो यहाँ ज्ञान और ज्ञेयका मात्र विषय विषयी सम्बन्ध है अत. जो होगा वह ज्ञात हो, यह कह तो सकते मगर यह यौगिक नियम नही है। यहा कार्य-कारण-विधान बता सकने वाला नही है। यह है फलित अर्थ। जो जाना सो होगा। यह फलित अर्थ है, फलित नियम है, यौगिक

नही, यह बात एक खास समझनेकी है, जो ज्ञात हो सो होगा, ऐसा फलित होने पर भी यह यौगिक नियम नही बन जाता कि बस जैसा जान लिया सो हो गया। वहा तो जिस विधि से प्रतिक्षण निमित्त सन्निधान पाकर होनेकी बात होती जायगी उस होते हुएको जान लिया। क्या जान लिया? वह तो ज्ञानकी स्वच्छताका फल है। तो जो ग्रात्मार्थी पुरुष है उसको ग्रात्मतत्त्वके ग्राश्रयका पौरुष करना चाहिए, इस विवादमे क्यो पडते? देखो बौद्ध लोगोने ग्रप्रयोजक बातोको ग्रव्याकृत कह डाला याने जो ग्रप्रयोजक बातें हैं, उनको बद करें, ग्रपना काम करें। ग्रपना काम क्या है? हर सूरतमे ग्राखिर ग्रंतस्तत्त्वका ग्राश्रय करके ग्रपने ग्राप का जो स्वभाव है उसकी दृष्टि करें, तन्मात्र ग्रपना ग्रनुभव करें। सब काम बनेगा। कैसे बनेगा यह काम? एक बार जमकर रह जावो कि मुझे तो सहज ज्ञानस्वभावमे रहना है, ग्रन्य किसी भी प्रकारका बाहरी विकल्प नही करना है।

—o—

(३१)

(१३९) वस्तुस्वातंत्र्यके परिचयका व निमित्तनैमित्तिकभावके परिचयका ग्रात्मार्थी पर प्रभाव—ऊपर वाले निबधमे यह बताया था कि जीव विकार नैमित्तिक है, तिसपर भी उपादान ग्रौर निमित्त दोनो पदार्थोकी स्वतत्रता है, याने निमित्त नैमित्तिक भाव ग्रौर वस्तु स्वातंत्र्य इन दोनोका वस्तुमे ग्रविरोध है। ग्रच्छा तो उनके माननेसे हमको क्या शिक्षा मिलती है तो सुनो, जहाँ यह समझा कि जीव विकार यद्यपि नैमित्तिक है, लेकिन जीव-विकार रूप परिणमता तो जीव ही है। निमित्तभूत कर्म जीव विकार रूप नही परिणमता। याने वस्तु स्वातत्र्य परखा जा रहा है, तो ऐसा वस्तु स्वातत्र्य निरखनेपरप जीव विकारसे हटनेकी शूरता प्रकट होती है। मैंने ही तो किया। मैं ही इसे मिटा दूगा। खुदने किया, खुद ही मिटायगा। जैसे जब बच्चे लोग रेतीली जमीनपर ग्रपने पैरोमे रेत बिछा देते है ग्रौर उसे थपथपाकर धीरे से पैर निकालकर एक घरबूला बना देते हैं ग्रौर थोडी देरमे ग्रपना दिल भर कर वही खुशी खुशीसे मिटाकर ग्रपने ग्रपने घर चले जाते हैं, ठीक ऐसे ही हमने ही तो यह विकार रूप परिणमन किया ग्रौर खुद विकार परिणमन कर करके हमने ग्रपनेको बरबाद किया। ग्रब हम ही ग्रपने ज्ञानबलसे इन विकारोको समाप्त कर देगे, ऐसा एक शौर्य प्रकट होता है। ग्रच्छा, ग्रौर निमित्त नैमित्तिक भाव माननेसे क्या ग्रसर होता है? जाना कि ये जीव विकार नैमित्तिक है, मेरे गाठकी चीज नही है, मेरे स्वरूप नही तो बात वही है कि यहाँ फिर कायरता

नही ठहरती, शौर्य ही प्रकट होता है, तो ऐसा मान लीजिए कि ये कर्म ही जीव विकारको करते है। मेरा वश क्या रहा। इनकी जब तक दम है तब तक होगे, मेरे वहाँ क्या कायरता प्रकट हो जाती कि हम किसी लायक नही, हम कुछ नही कर सकते। तो वस्तु स्वतत्र है, ऐसा जानकर शूरता प्रकट होती है और निमित्त नैमित्तिक भाव है, ऐसा जानकर विश्वास बनता है कि इस जीव विकारसे मैं हट सकता हू। इस प्रकार निमित्तनैमित्तिक भाव और वस्तु स्वातत्र्य इनको अविरोधरूपसे समझनेमे एक डबल काम बनता है। विकारसे उपेक्षा होना, जब यह समझमे आता कि जीव विकार नैमित्तिक है तो इस निर्णयके प्रसादसे आत्महित चाहने वाले जीव इन विकारोसे उपेक्षा सुगमतया कर लेते है और आत्मस्वभावकी अवस्थामे रहने लगते है, ये नैमित्तिक हैं, मेरे स्वरूप नही है। मेरा स्वरूप तो यह चैतन्यमात्र है। तो विकारको दूर करनेका वह ज्ञान परिणमन करता है ऐसी क्रूरता प्रकट करता है। दोनो बातें सही समझ लेनेमे सन्मार्गका लाभ है। विकारसे हटना है और स्वभावका आश्रय करना है, ये दोनो बातें चाहिए। तो ये दोनो बातें इन दोनोकी समझसे प्राप्त हो जाती हैं।

—o—

(३२)

(१४०) **पांच विभावतत्रोंका निर्देश**—विभाव कैसे उत्पन्न होते है? क्या हुआ, फिर क्या हुआ कि एक विकट विकारका रूप बन जाता है। इस बातको समझनेके लिए ५ बातें जाननी हैं। इन ५ को समझ लीजिए विभावतंत्र याने विभाव होनेका उपाय। वे ५ बातें कौन हैं? कर्मविपाक याने जो पहले बांधे हुए कर्म है उन कर्मोंका विपाक उदय होना, दूसरा है कर्मविपाक प्रतिपादन। जब कर्मविपाक होता है तो इस उपयोगमे उसका प्रतिफलन होता ही है। जो हुआ उसकी झांकी प्रतिफलन। उसके द्वारा ज्ञानस्वभावका तिरस्कार, ये बातें बनती है, और जहां कर्मविपाकका प्रतिफलन हुआ कि इस उपयोगकी कुछ गहराई बन जाती है। इसीको कहते है कर्मविपाक प्रतिफलनसे सम्पर्क होना। यह ही सम्पर्क तो है इस बहिरंग निमित्तमे उपयोग जोडनेका कारण। यद्यपि यह सम्पर्क बुद्धिपूर्वक नही है याने उनका आश्रय करके नही है पर जैसे अजीव अजीव निमित्त उपादानमे सम्पर्क होता है, चिपकाव होता है ऐसे ही प्रतिफलनके होते ही यह सम्पर्क बना और जैसे ही वह विपाक प्रतिफलनका सम्पर्क बना तो इन बाहरी पदार्थोंमे जीवका उपयोग जुडने लगा। नोकर्ममे जीवका उपयोग जुड़ा तब इसने उपयोगमे विकारको आत्मसात किया। यह मैं हू और उस विकारके अनुसार यह

जीव चलने लगा तो इन ५ विभावतत्रोका यो प्रयोग हुआ।

(१४१) पाच विभावतंत्रोंके प्रक्षयकी रीति—अब उक्त तत्रोको लौटा लीजिए। देखो उत्तर उत्तरके नष्ट होनेपर पूर्व पूर्व नष्ट हो ही जाता है। जीव ज्ञानबलसे जैसे विकारको आत्मसात नही करता तो जब विकारको अपनाया नही, आत्मसात् किया नही तो फिर नो कर्म मे, बहिरंग निमित्तमे उपयोग जोडनेकी बात कब तक निभेगी? वह भी दूर होगी। और जैसे ही नोकर्ममे उपयोगका जोडना समाप्त हो गया तो कर्मोदयके प्रतिफलनका सम्पर्क नही बनेगा। सम्पर्क मिटा कि प्रतिफलन मिटा प्रतिफलन मिटा तो कर्मविपाक मिटा। इस मे कुछ बिलम्ब लगा इस तरहके मिटनेमे, पर जहाँ जड ही खो दिया वहाँ वृक्ष फिर कैसे हरा भरा रहेगा। जड थी मोह ममता। जब मोह ममताको ही मिटा दिया तो फिर उसका अन्यसे सम्बन्ध ही क्या? तो यो जब यह उदय विपाक दूर हो जाता है तो वहाँ एक आत्मा मे विकट शौर्य प्रकट होता है। जिस शौर्यका निमित्त पाकर समस्त घातिया व अन्य प्रकृतियाँ नष्ट हो जाती हैं। भला होनेका साधन है स्वभावका आश्रय करना। पश्चात् जब ये कर्म प्रकृतियाँ क्षीण हो जाती हैं तो बाकी बची हुई कर्मप्रकृतियोमे भी अब अनुभाग न रहा। हीन हो गया। तब यह कहलाता है क्षीणमोह और इस तरह यह कर्मविपाक स्वय अपने आप समाप्त हो जाता है। चर्चा क्या चल रही है अपनी कि हम दुख कैसे पाते हैं? कर्म करते है खोटे और उसके फलमे दुःख पाते हैं। अगर दुःखसे दूर होना है तो हमे कर्म या खोटे कर्म न करना चाहिए। वे खोटे कर्म क्या हैं? तो उनको ५ विभागोमे रख लो। मोह मिथ्यात्व एक ही बात और क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह न रहे, कषायें न रहे उसको ही तो भगवान कहते हैं। यदि सुख शान्ति चाहिये हो तो कषायोसे बचो। ममतासे हटो, और न्यायप्रिय बनो। इन कषाय भावोसे दु:ख सबको होता है, सब पर बीतते हैं, दुःखी होते जाते हैं, पर मोह ऐसा साथ लगा है कि जिन बातोसे दुःखी होते हैं उन ही बातोकी हठ बनी रहती है। तब फिर ज्ञान कहाँ रहा? ज्ञान केवल बोलनेमे ही रहा। कर्तव्यमे या प्रयोगमे नही रह पाता। तो प्रथम कर्तव्य है कि मोह दूर करें। जगतके सभी जीवोका स्वरूप अपने स्वरूपके समान मानें। यदि ऐसी दृष्टि बन जायगी तो मोह दूर हो जायगा और मोह दूर हुआ कि कषायोमे फर्क आ जायगा। कषायोको प्रबल बनाने वाला है कौन? मोह भाव। तो मोहभाव समाप्त हुआ कि कषाय बल न रहेगा। कषायबल दूर हो गया तो शान्ति बढेगी। इसका मूल उपाय है कि मोह मत करो, ज्ञाता दृष्टा रहो। सबके जाननहार रहो। जो कुछ जहाँ है उसको समझते रहो।

भैया! मोहसे बरबादी है। मोह है क्या? पहला मोह तो पर्यायका है। यह

शरीर मैं नही हू, शरीरमे ममता नही है ऐसा कहना तो भट बन जायगा, किन्तु जब शरीर पर कुछ बात गुजरेगी तब पता पडेगा कि इस शरीरसे मोह है कि नही। शरीरमे मोह है तो सारे दुःख हैं। अपने को मानते हैं कि मेरा सम्मान हो। यह तो अपमान हुआ। शरीरमे आत्मबुद्धि रखनेसे ये सारे दुःख बढने लगते हैं। जितने भी क्लेश है वे सब शरीरके साथ बनते है। दुःखी होते तो विकल्पके क्लेशसे होते हैं। शरीरके क्लेशसे नही होते, पर विकल्प रूप क्लेशोके होनेमे शरीरका सम्पर्क कितना सहयोगी है सो ध्यानमें लाइयेगा। शरीरकी ममता पहले छोडो। शरीरकी ममता छूटेगी तो ज्ञानबल बढेगा। शरीर, शरीर है, मैं आत्मा ज्ञानमय हू, ऐसा जब तक दृढ निर्णय न होगा तब तक शरीरकी ममता नही छूट सकती। और यह ममता ही सर्व दुःखोकी जड है। तभी मिथ्यात्वके स्वरूपमे यह ही लिखा है कि "देह जीवको एक गिने बहिरामतत्त्व मुधा है।" जो शरीर और जीवको एक मानता है वह मूढ है, अज्ञानी है। इससे शरीरमे ममता न रहे, इज्जतकी, प्रतिष्ठाकी, नामवरीकी। तो क्या करना? अपने स्वरूपका अभ्यास करना। स्वरूपका अभ्यास करनेके लिए क्या करना? जो मगल-तत्रमे तीन वाक्य बोलते हैं उन्हीका मनन करना। तो सर्व दुःखोकी जड़ शरीर है। जिसपर लोगोको गर्व रहा करता है। मेरी बात न बनी, ऐसा आग्रह किसके हैं? जिसके शरीरमे आत्मबुद्धि है। तो देहमे आत्मबुद्धि न करें तो मिथ्यात्व हटे। मिथ्यात्व हटे तो ये कषायें दूर हो। हाँ तो पहला पौरुष क्या करना? विकारोको मत मानें कि ये मेरे है, मैं हू। मोह आये तो उसे बुरा मानें, रागद्वेष आये तो उसे बुरा समझें, उससे हटें। तो जैसे ही हटे वैसे ही उत्तरोत्तर काम बनकर यह अवस्था हो जायगी कि उसके साथ कर्मविपाक भी न रहेगा। इससे ज्ञानबलसे अपने आत्माकी आराधना करो। मैं ज्ञानमात्र हू, ज्ञानघन हूं, सहज आनन्दमय हू।

(१४२) **अपने स्वरूपकी संभालसे सर्व आधि व्याधि उपाधियोंका विनाश**—भैया! क्या काम करना कर्मोंका विध्वंस करने के लिए? पहला काम यह है कि यह भेदविज्ञान बनावें कि जो मुझमे विकार आते हैं खोटे परिणाम आते हैं वे मेरी चीज नही हैं, वे कर्मकी छाया हैं। मैं इनमे लगाव न रखूँगा। पहला पौरुष यह करना है, इस पुरुषार्थके प्रतापसे क्या होगा कि उत्तरोत्तर जो जो काम होते थे कर्मविध्वस हो जायेंगे। बुद्धिपूर्वक हम क्या कर सकते? यह ही कि अपने आपको सुरक्षित और निर्मल समझते रहे। जो प्रयोग कर सकता है समझो वह ज्ञानी है और जो केवल बात करता है, प्रयोग नही कर सकता उसे अतिशय कहाँसे प्रकट हो? एक लकडहारा था तो वह ऐसे ही पहुच गया शास्त्रसभामे, कोई जैन विद्वान शास्त्रप्रवचन कर रहा था। चर्चा आयी ५ पापोंके त्यागकी। तो उस लकड़हारे

के मनमे आया कि मुझे ये पाँचो पाप छोड देने चाहियें। तो क्या सोचता है वह कि देखो मैं और कोई हिंसा तो करता नही, हाँ कभी कभी ये हरे भरे पेड़ काट डालता हू तो चलो अब मैं यह हिंसा भी कभी न करूँगा। अब मैं सूखी लकड़ियाँ ही तोड़कर लाऊँगा और उन्हे बेचकर अपना काम चलाऊँगा, और मैं झूठ क्या बोलता कि लाता तो हू ८ आनेकी लकडियाँ और बोल देता हू १२ आने। तो अब मैं यह झूठ भी न बोलूगा ८ आनेकी लकड़ियाँ लाऊँगा और ८ आने ही कहूगा। और, चोरी मैं क्या करता कि रास्तेमे चुगी पडती है तो उसमे मैं टैक्सके २ पैसे बचा लिया करता हू तो यह चोरी भी मैं अब न करूँगा। और कुशीलके बारेमे सोचा कि मै कुशील तो कुछ करता नही, स्वदार संतोष वृत्तिसे रहता हू, लेकिन अब मैं यह नियम करता हू कि अपनी स्त्रीसे भी ब्रह्मचर्य रखूंगा। और परिग्रह परिमाणकी भी बात सोच ली—अब मैं जो कुछ भी कमाई करूँगा उसका एक हिस्सा धर्ममे, एक हिस्सा काम काज अवसरके लिए, दो हिस्सा पालन-पोषणके लिए रखूंगा। अब वह लकड़हारा ८ आनेकी लकड़ियाँ सिरपर लादे चला जा रहा था कि एक बडे सेठ की ४ खण्डकी हवेलीके नीचेसे गुजरा, वहाँ लकड़ियाँ न थी चूल्हेके लिए, तो रसोइयेने आकर पुकारा—ऐ लकड़ी वाले, लकडी बेचोगे''''हाँ हाँ बेचेंगे। '' कितनेमे दोगे ? '''८ आनेमे। '''क्या ५ आने लोगे ? ''' नही। '''६ आने लोगे ? '''नही। फिर कितने लोगे ? '''८ आने ही लेंगे। ''' अच्छा ७ आने लोगे ? '' नही, यह कहकर चल दिया। ''' अच्छा भाई लौट आवो। तो भैया इसका अर्थ यही हुआ ना कि ८ आनेकी ही लेंगे। लेकिन रसोइया फिर बोला—अच्छा साढ़े सात आने लोगे ? तो लकडहारा झुझलाकर बोला—अरे तू किस बेईमानका नौकर है ? अब यह बात सुन ली ऊपर खडे हुए सेठने। सेठने लकडहारेको बुलाया और पूछा कि तुम इस तरहसे क्यो कहते—तू किस बेईमान का नौकर है ? तो वह लकड़हारा बोला कि देखो जब हम ८ आने ही कह रहे थे, इसने ७ आने लगाया और हम चल दिए, और फिर यह बोला कि अच्छा भाई लौट आवो तो इसका अर्थ यही हुआ ना कि हमें ८ आनेकी मंजूर है, पर यह वहाँ कहता कि क्या साढ़े सात आने लोगे ? और, सुनो सेठ जी—हमने नियम लिया है एक शास्त्रसभामे, जिसमे आप रोज जाते और इस तरहसे ५ पापोका त्याग किया, तो यह कथा जब सेठने सुनी तो उस लकडहारेका सेठने बडा सत्कार किया और, माफी माँगी, और कहा कि तुम सचमुचमे होनहार हो। इसमे अमीरी और गरीबोका कुछ हिसाब नही है। स्वयं अपने आपके परिणामोको सम्हालकर रखे कोई तो उसको संसारमे आपत्ति नही, और वह ससारमे रुलेगा भी नही। तो सर्वप्रथम पुरुषार्थ क्या करना कि जो विकार होते हैं उनको पहलेसे ही हटा दें। तुम मेरे स्वरूप नही हो। ऐसे स्वरूपकी भक्तिके प्रसादसे जन्म-जन्मके बाँधे हुए कर्म दूर हो जाते हैं।

(३३)

(१४३) स्वपरैकत्वाध्यास, अध्यवसान, आस्रवभाव, कर्म, शरीर व संसरण इनकी उत्तरोत्तर हेतुभूतता—यह जगत क्या है ? जो कुछ समझमें आ रहा वह क्या है ? जो बीत रही वह क्या है ? यह सब कहलाता है संसरण। संसरणका अर्थ परिभ्रमण और भटकना। यह सब भटकना है चारों गतियोमे ससरण हो रहा, कषायोमे संसरण हो रहा। इसका कारण क्या है ? शरीर। यों लगाव, शरीरके माध्यमसे ही तो संसरण चलता है, नही तो कषायोको कौन जाने ? शरीरके साथ सम्पर्क है, शरीरमे आत्मबुद्धि है, तो कषायोमें भी बुद्धि चल रही है। ससारमे ससरण होता है, इसका हेतु है शरीर। और शरीर मिलता है इसका हेतु है कर्म। कर्ममे चार घातिया हैं, चार अघातिया है। घातिया न हो तो अघातिया क्या करें। घातिया करते है आत्मगुणोंका घात और अघातिया करते है आत्मगुणोंका घात होनेमें सहायक सामग्रीका सहयोग। जैसे एक लडकेको दूसरा लडका पीट रहा है, अब पिटने वाले का मित्र एक बालक आया तो उसने पीटने वालेका हाथ पकड लिया तो बताओ पीटा किसने एकने और दूसरेने उसको पिटानेमे मदद दी। घातिया कर्म तो साक्षात् गुणका घात करते है और अघातिया गुणोके घात होते जायें इसके लिए बाह्य सहायक बातें बनती हैं। घातिया कर्म तो गुणका घात करता हैं और शरीर निर्माण आदिका हेतु है अघातिया कर्म। लेकिन केवल अघातिया यह कार्य न कर पायेंगे। जहाँ घातियाका सम्बन्ध है वहाँ ही अघातिया अपना बल दिखाते हैं, तो शरीरका कारण हुआ कर्म, और कर्मका कारण है आस्रवभाव। रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभादिक जो विकार है वे कहलाते है आस्रवभाव। और आस्रवभाव हेतु है कर्मबन्धका और आस्रवभावका कारण क्या है ? अध्यवसान। एक गलत बुद्धि की जो प्रवृत्ति है उसका नाम है अध्यवसान। इसे कषाय कहे, मिथ्यात्व कहें। बुद्धिकी जो प्रवृत्ति है उसका नाम है अध्यवसान, और जो बुद्धि है, कुबुद्धि है, जिसे कहते हैं स्व और परमे एकत्वका अध्यास है, वह कहलाता है स्वपरैकत्वाध्यास। तो आस्रवभावका हेतु हुआ अध्यवसान और अध्यवसानका हेतु है स्व परमे एकत्वका अध्यास। तो देखो यह सिलसिला लगा है—सबका मूल क्या ? स्वपर एकत्वका अध्यास। यह नीचेसे हटे तो बाकी ऊपरके सब धीरे धीरे ढुलक जायेंगे। इसीलिए पुरुषार्थ बताया है स्व और परमें भेदविज्ञान करें, एकत्वका अध्यास मत करें। अब स्वपर एकत्वका अध्यास कैसे मिटेगा ? भेदविज्ञानसे। जैसे अधकार और प्रकाश एक जगह नही ठहर पाते ऐसे ही भेदविज्ञान और स्वपर एकत्वाध्यास ये दोनो भी एक भावमे ठहर नहीं पाते।

(१४४) स्वपरभेदविज्ञानबलसे स्वपरैकत्वाध्यासके दूर होते ही अध्यवसान, आस्रव

भाव, कर्म, शरीर व संसरण इनका उत्तरोत्तर प्रक्षय—स्वपर एकत्वका अध्यास मिटता है स्वपर भेदविज्ञानसे। कैसा भेदविज्ञान कि यह जो सहज ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूं। जहां स्व तो है चैतन्यशक्ति मात्र सहज आत्मस्वरूप। जानने वाला क्या है? आत्मा। परभाव याने चैतन्यशक्तिसे अतिरिक्त जितने भी भाव हैं वे सब परभाव हैं। उन परभावोमे और इस सहज आत्मस्वरूपमे जो अन्तर जाना जाता है वह कहलाता है स्वपर भेदविज्ञान। जहां यह अन्तर्ज्ञान चल रहा है वहां स्वपर एकत्वका अध्यास नही चल रहा। तो स्वपरभेदविज्ञानसे मिटता है स्वपरैकत्वाध्यास। उसके मिटनेसे मिटता है अध्यवसान। उसके मिटनेसे मिटता है आस्रवभाव। आस्रवभाव न हो तो कर्म बधते। कर्म न हो तो शरीर नही होता, शरीर न हो तो संसरण नही होता। तो मूलकी बात पकडो ना। स्व और परमे भेदविज्ञान जगाओ। देखो जिन्दगीमे सारे काम तो कर रहे हैं गृहस्थ जन, करें, आजीविका है, दुकान भी है, सब कुछ है। सब कुछ होते हुए भी बीच-बीचमे बस भेदविज्ञानकी भावना णमोकार मन्त्रका स्मरण और जो भी समय पर आया—नम्रता करना, देव, शास्त्र, गुरुकी भक्ति रखना यह सब होते रहना चाहिए। श्रावककी शोभा इसमे है। जहां निर्ग्रन्थता है, निरारम्भता है, सर्व आकुलताके साधनोसे हटे हुए हैं, ऐसे योगी संतोको केवल एक चैतन्यस्वरूपकी उपासनाकी ही बात कही जाती है, और जिसके घर है, दौलत है, परिवार, दुकान, फर्म आदिक सब लगे हुए है ऐसे राग वाले जीवको देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान, ऐसी सद्वृत्तियो से उसे अपना मार्ग बढाना चाहिए। हां तो मूलमे बात क्या आयी कि स्वपर भेदविज्ञान करे तो सारे सकट दूर हो जायेंगे। स्वपर एकत्वका विनाश होता है स्वपर भेदविज्ञानसे। अब यह परखें कि स्वपर भेदविज्ञान हो गया है क्या मुझे, इसका प्रमाण क्या है? तो इसका प्रमाण है शुद्ध चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मतत्त्वकी दृष्टि। और इस आत्मतत्त्वकी धुन बनना इस ही आत्मस्वरूपकी दृष्टि होना, ये हैं स्वपर भेदविज्ञान हो जानेके चिन्ह। अपने अन्तरात्मासे सारी गवाही ले लो। दूसरेसे पूछनेकी जरूरत नही। तो इस प्रकार सिद्धान्त आया कि कल्याणका मूल है, प्रारम्भ बनता है स्वपर भेदविज्ञानसे। देखो ज्ञान सही रहेगा तो संसार से निपटारा बन जायगा और ज्ञान ही बिगड़ कर रहे, वस्तुस्वातन्त्र्यके विपरीत विकल्प करते रहे तो उससे आत्महितका मार्ग नही मिलता। कही न कही अटक बन जायगी। किसी न किसी विषयका आग्रह बन जायगा। जो शुद्ध आत्महितका अर्थी है उसे ऐसी बाधायें न होनी चाहिएँ।

—•—

(३४)

(१४५) **अखण्डके आत्मपदार्थमे विडम्बनाके प्रारंभका विवरण**—यह जो संसारकी विडम्बना लग गई सो कैसे लग गई ? जब अन्तरमे अपने स्वरूपको निहारा कि यह तो है एक अखण्ड निर्विकल्प ज्ञानस्वभाव और इसपर इतनी अधिक विडम्बना हो क्यो गई ? इसका आधार क्या ? तो देखो जिसको कहा गया यह आत्मतत्त्व अखण्ड है ज्ञायक स्वभाव, यह सर्व प्रपचोसे निराला है सहज स्वभाव । तो उसका काम क्या ? बस ऐसे ही रहा आये । लेकिन क्या कोई ऐसा ही रहा आयगा ? उसमे जानना न हो, कोई परिणतियाँ न उठे, कोई व्यापार न जगे, याने जानना न हो, क्या कोई ज्ञायक भाव ऐसा रहेगा ? न रहेगा । कुछ जानना तो होगा । अब देखो जानना बुराईके लिए नही होता, किन्तु यहाँ जानना बुराईके लिए हो गया । बात तो वह एक है जो एक साथ हो रहा है ससारमे, पर उसका विश्लेषण करें-यह मै आत्मा अखण्ड एक ज्ञानस्वभावी हू, सो पर्याय बिना तो नही रहता और पर्याय है उसका जानन तो जाना इसने, जहाँ जाननेकी बात आयी वहां दो बातें बन गईं कि नही—ज्ञाता और ज्ञेय । यद्यपि ज्ञाता ज्ञेय दो बात बननेसे बिगाड क्या ? लेकिन यही तक रहने वालेके लिए बिगाड तो नही, किन्तु जो आगे बहुत भटकनायें है, रुलना है उनके लिए एक यही ज्ञान ज्ञाता ज्ञेयका भेद होना ही आफत बन गई । हुआ क्या कि ज्ञाता ज्ञेयका द्वैतभाव यह जानने वाला व यह जाननेमे आया, ये दो बातें जगी । देखिये—मलिनता यहाँसे ही साथ चल रही है, नही तो बिगाड क्यो चल रहा कि यह ज्ञेय मैं ज्ञात । अब इसके बाद आगेकी आफत देखो—जो ज्ञेय बना था समग्र वस्तु उस ज्ञेयमे अब स्वपरका आभास करने लगा । ज्ञेयमे यह स्व यह पर । स्व आभास, पर आभास, कितने ही आभास लगा लो । किसी न किसी रूपमे यह आभास बने कि यह मैं, यह दूसरा, यह मेरा, यह पराया, ऐसा स्वपर द्वैतका आभास हो और जैसे इन ज्ञेयोमे स्वपरकी छांट हुई कि इष्ट अनिष्ट बुद्धि आ गई । जिसे माना स्व उसमे इष्ट बुद्धि हुई और जिसे माना पर उसमे हुई अनिष्ट बुद्धि । और यह बुद्धि जगी क्योकि रागद्वेषका परिग्रह कर लिया । देखो ज्ञेयोमे स्व और परका समझना ही विडम्बनाका मूल बन गया । निज स्व की बात नही कह रहे, ज्ञेय ज्ञेयोमे यह स्व है, यह पर है इस प्रकारके आभाससे तो हुआ रागद्वेषका परिग्रह और जहाँ रागद्वेषका परिग्रह हुआ वहा हुआ इष्ट अनिष्टका अभिप्राय ।

(१४६) **ज्ञेयमें इष्टानिष्ट बुद्धि होते ही क्रियाकारक कल्पनासे प्रारंभ होकर ससार भ्रमण तककी विडम्बना**—जहाँ रागद्वेष इष्ट अनिष्ट की बात जगी कि इस जीवकी क्रिया कारककी कल्पना होने लगी । मैं करूँ, मैं कर दूगा, मैंने किया । अब ये क्रियापर उतरे । अब तक यह भाव आया था । रागद्वेष का परिग्रह हुआ, इष्ट अनिष्ट का आश्रय हुआ, अब

यह मैदानमे उतर आया। मायने क्रिया कारककी कल्पना हो बैठी—मैं करने वाला, मैंने इसे किया, वहाँ क्रियाफल भोगनेका भाव साथ रहता है, नही तो करना करना क्यो मचाता उसमे कुछ रस आ रहा। उस क्रियाका फल भोगनेका मौज समझ रहा, तो क्रिया कारककी कल्पना होनेपर होता है क्रियाफल भोगनेका भाव। और जहाँ क्रियाफल भोगनेका भाव रहा वहाँ द्रव्य प्रत्ययमे नवीन कर्मबन्धका हेतुपना आ गया। देखो—प्रसिद्धि तो यह है कि नये कर्म बँधते है तो जीवके रागद्वेष भावका निमित्त पाकर बँधते हैं, पर सिद्धान्त असल मे यह है कि कर्म जो बँधते हैं वे उदयमे आये हुए कर्मका निमित्त पाकर बँधते हैं, और उदयमे आये हुए कर्मका निमित्त पाकर कर्म और उदयमे आये हुए कर्ममे ऐसा निमित्त बँधे यो उदयागत द्रव्यप्रत्यय रूप कर्ममे ऐसा निमित्तपना आ जाय, उसका निमित्त होता है रागद्वेषभाव। तो बात तो रागद्वेषपर ही डट रही ना, इसलिए ग्रन्थोमे सीधा बता दिया कि कर्मबन्धका हेतु है रागद्वेष मोहभाव। तो द्रव्यप्रत्ययमे कर्मबन्धका हेतुपना आया और फिर उससे कमबन्ध होने लगा। कर्मबन्ध हो तो कर्मविपाक भी होता। पहले बाँधा, अब उदयमे आ रहा। इस समय कितने ही जन्मोके बाँधे हुए कर्म हम आप भोग रहे हैं। क्या एक इस ही भवका ? अरे पता नही कितने अनगिनते भवोके बाँधे हुए कर्म हम आप आज भोग रहे। तो आज जो हम कर्म बाँधते हैं स्वतत्र स्वच्छन्द होकर, तो वे यो ही न निपटेंगे। आगामी कालमे जब उसका उदय काल होगा उस वक्त इस जीवपर विडम्बना छा जायगी। हा कर्मविपाक होनेपर होता है कर्मविपाकका प्रतिफलन। जैसे इस जीवमे उपयोगमे उसकी छाया प्रतिफलन कुछ बात हुई जिससे कि ज्ञानका तिरस्कार हुआ तो कर्मविपाक प्रतिफलन होनेसे हुआ कर्मविपाकका सपर्क। फलन और सम्पर्कमे कितना अन्तर ? जैसे काँचमे प्रतिबिम्ब आया, और दर्पणमे प्रतिबिम्ब आया, जिसमे मसाला नही लगा, ऐसा शुद्ध काँच जैसा कि रेलके डिब्बोकी खिडकियोमे होता है, उस पारका खूब दिखता, मगर देखने वालेका चेहरा भी उसमे रहता कि नही ? वह रहता है और लगे हुए लाल रगका जहाँ जैसे उसी डिब्बेमे जब सडासको जाते तो पहले मूल काँच लगा हुआ वहाँ हो गया सम्पर्क। तो जब कर्मविपाकके प्रतिफलनका सम्पर्क हुआ कि बस शुद्ध स्वभावसे च्युत हो गया और शुद्ध स्वभावसे च्युत होनेका फल हुआ कि ससारके इन बहिरग नोकर्म, उपचरित निमित्त इनमे उपयोग जुड़ने लगा। इन बाह्य निमित्तोमे उपयोग जुडानेका फल हुआ कि विकारको हमने अपना डाला, आत्मसात् किया। उससे हुई पर्यायबुद्धि, उससे बना रागद्वेषका विस्तार। अब यह सामने आ गया, और उससे फिर ससार परिभ्रमण चला।

(१४७) **बहिर्मुखतामे विडम्बना व अन्तर्मुखतामे विडम्बनाकी समाप्ति**—यहाँ तक

बातें बतायी है सत्रह। यह सप्तदशयी संसारी जीवके सहज आनन्दका सहार करने वाली है। भेदविज्ञानके बलसे जो अन्तस्तत्त्वका लाभ लिया उस अतस्तत्त्वकी दृष्टि करके जब यह जीव ज्ञानघन निज अतस्तत्त्वमे मग्न होता है तब फिर ये सत्रह बातें, ये विडम्बनायें, ये विपत्तियां फिर कुछ नही ठहरती। शिक्षा क्या लेनी है ? विडम्बनाकी मूल खत्म कर दें। विडम्बनाका मूल क्या है ? स्वपरमे एकत्वका अध्यास। वह खत्म होगा स्वपर भेदविज्ञान से। और अधिकाधिक मनन करें, मै ज्ञानमात्र हू– 'एकै साधे सब सधे सब साधे सब जाय।' कोई कहे कि ससार परिभ्रमण हमारा समाप्त हो, इसके लिए एक-एक चीजको हम दिलसे हटायेंगे और बहुत-बहुत प्रयत्न करेंगे, ऐसे क्रिया प्रयत्नो द्वारा यह हित साध्य नही है। जब जाना कि मै चैतन्यशक्ति मात्र हू, मैं विशुद्ध ज्ञानमात्र हू, जानन जानन ही मेरा काम है, तो इस प्रकार यह सप्तदशयी जो १७ बातें कही ये १७ बातें ही जीवको ससारमे रुलाने वाली चीज है उसे मेटना है तो अपनी तरफ आयें। बाह्य पदार्थोंकी ओर मत झुकें, और एक बस निज तत्त्वके ज्ञाता बनकर रहना यह ही है पुरुषार्थ। काम हो रहे है विधिनिषेध अनुसार। यह मैं नही, यह मैं हू, यह मेरा काम नही, यह मेरा काम है निषेध और विधि दोनो साथ चलते है तो हितमे प्रगति होती है और एकान्त करे कोई तो बस यह बन जाता है विपरीत आशय। जैसे अन्य दर्शनमे कहा विधिनियोग प्रेरणा। अब वह विधि क्या जिसका कोई परिणमन न माना जाय। और देखो वस्तुस्वभाव किसीका गला घोटनेसे स्वभाव नही छूटता। वस्तुका स्वभाव वस्तुमे है। जो उल्टा समझें तो उसकी समझका एक फल मिला, पर समझ लेनेसे वस्तु ऐसी बन जाय सो नही। तो वस्तुस्वभावको जानें, अपने इस सामर्थ्य को पहिचानें और अपनेमे तृप्त हो, सतुष्ट हो, ऐसी अपनी प्रकृति बने तो इसमे अपना लाभ है।

—o—

(३५)

(१४८) **तत्त्वविज्ञानकी आठ पद्धतियोमे प्रथम भूतार्थ व भेदप्रतिपादक अभूतार्थका परिचय**—तत्त्व समझनेकी ८ पद्धतियां होती है। कुछ भी बात जानना हो उसकी रीतियां ८ है। उन आठोके पहले नाम सुनो, और उनका क्रम भी ध्यानसे सुनो—भूतार्थ, भेदप्रतिपादक अभूतार्थ, गुणप्रतिपादक अभूतार्थ, पर्यायप्रतिपादक अभूतार्थ, सम्बन्धप्रतिपादक अभूतार्थ, पर्यायात्मकपरिचायक अभूतार्थ, पर्यायबुद्धि अभूतार्थ और ८वां उपचार। इनका पहले सामान्य-

तया अर्थ समझ लो और उससे यह भान होगा कि कौनसा कथन किस पद्धति पर किया गया है। भूतार्थ मायने सहज स्वभावमय अखण्ड अवक्तव्य तत्त्व। बस भूतार्थ एक ही है जिसका वर्णन भूतार्थ नही कर सकता। वह तो केवल लक्ष्यमे ही ले जानेकी बात है। जितना भी वर्णन है वह सब अभूतार्थसे वर्णन होता है तो इतनेसे पहली बात तो यह जानें कि अभूतार्थ अगर असत्य हो तो सब ग्रन्थ, सब प्रतिपादन, सब वर्णन असत्य हो जायगा। इसलिए सब अभूतार्थ असत्य नही कहलाते। कैसे असत्य है सो बतायेंगे ? पहली चीज है भूतार्थ परमार्थ अखण्ड सहज स्वभावमय अनादि अनन्त ध्रुव स्वभाव, वह लक्ष्यमे होता है, वह है भूतार्थ। भूतार्थका शब्दार्थ क्या है ? जो स्वय निरपेक्षतया अपने ही सत्वके कारण होने वाली बात है उसे कहते हैं भूतार्थ। अब उसका वर्णन चलेगा। वर्णनमे है अभूतार्थ। ७ अभूतार्थकी रीति हैं और भूतार्थ एक ही है। प्रतिपादन अभूतार्थसे होता है। अब देखो भूतार्थके बादका नम्बर है भेद प्रतिपादक अभूतार्थ, जैसे भूतार्थमे जाना एक अखण्ड ज्ञायकस्वभाव आत्मतत्त्व। जाना और समझमे नही आया अभी। समझाओ जरा। देखो गुण और गुणी, गुण तो है सहजस्वभाव और वह जिसमे पाया जाय वह है गुणी। भूतार्थमे गुण गुणी का भेद न था, वह तो है एक अखण्ड तत्त्व। अब देखो भेद करके जाना कि यह चैतन्यगुण है और चैतन्य गुणी है तो इतना ही भेद करे उसे कहते हैं भेदप्रतिपादक अभूतार्थ।

(१४९) गुणप्रतिपादक अभूतार्थ, पर्यायप्रतिपादक अभूतार्थ सम्बन्धप्रतिपादक अभूतार्थ व पर्यायात्मपरिचायक अभूतार्थ पर्यायबुद्ध अभूतार्थ व उपचार—अब इसके बाद और समझना है। इतने से भी हम नही समझे, ऐसी समस्या आयी तो आगे चले गुणप्रतिपादक अभूतार्थ। जो गुणोका प्रतिपादन करे, आत्मामे ज्ञानगुण है, दर्शनगुण है, चारित्रगुण है, ऐसे गुणका प्रतिपादन करे उसे कहते हैं गुणप्रतिपादक अभूतार्थ। यहां तक सारी बातें एक अवक्तव्य जैसी हैं। सामने बात आ नही पायी कि क्या बात हमे कहना है, किससे समझाना है तो व्यक्त बात जब जब कहने चलेंगे तो कुछ पद्धति काम देगी। पर्याय प्रतिपादक अभूतार्थ। जैसे ७ तत्त्व ९ पदार्थ इनका वर्णन है ना जिसका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहा—तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शन। और अध्यात्मशास्त्रमे कहा है—भूतार्थसे जाने गए ९ तत्व सम्यक्त्वके कारण हैं। तो वे ९ पदार्थ ७ तत्त्व यह है पर्याय प्रतिपादक अभूतार्थसे ज्ञात। अब समझलो ७ तत्त्व ९ पदार्थ किसका विषय है ? कितने अभूतार्थ निकल गए ? उसके बादका नम्बर है भेदप्रतिपादक अभूतार्थ, गुणप्रतिपादक अभूतार्थ उससे नीचेके क्रमका है पर्यायप्रतिपादक अभूतार्थ उससे जाना गया विस्तार। और देखो ७ तत्त्व ९ पदार्थ जानकर उनमे रहने वाले एकत्वको जानना सम्यक्त्वका कारण है। ७ तत्त्व ९ पदार्थ आये पर्यायप्रतिपादक अभूतार्थमे

अब उसका विस्तार बन जाता है। जैसे आस्रव आया तो क्रोध, मान, माया, लोभादिक वे सब है पर्यायप्रतिपादक अभूतार्थसे विज्ञात। इसके बाद समझना है सम्बन्ध प्रतिपादक अभूतार्थ। अभी तक एक-एक धारासे बात चल रही है। अब यहाँ समझना है सम्बन्धका प्रतिपादन करने वाला भूतार्थ। जैसे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध जाना, कुछ भी सम्बन्ध समझा उसे समझने वाला जो अभूतार्थ है उसका नाम है सम्बन्धप्रतिपादक अभूतार्थ। इसके बाद नम्बर है पर्यायात्मपरिचायकका। पर्यायमे जीवका परिचय करने वाला अभूतार्थ। जैसे यह स्थावर जीव है, त्रस जीव है, अमुक गतिका है और मार्गणाओंका वर्णन है, और वहां जो जीवका परिचय बनता है वह पद्धति है सब पर्यायात्मपरिचायक अभूतार्थ। अब देखो अब तकके अभूतार्थमे अशुद्धता, गडबडी ये बाह्य बातें नही आई अब इसके बाद है पर्यायबुद्ध अभूतार्थ, यह है एक मिथ्यात्व वाला भाव। पर्यायमे अपने आपका श्रद्धान करना यह मैं हू, अपने आपके लिए बात है यह। पर्यायमे अहका अनुभव करना पर्यायबुद्ध अभूतार्थ है। फिर उसके बाद है उपचार। एक द्रव्यको दूसरेका कर्ता कहना, भोक्ता कहना, स्वामी कहना सो उपचार है। उपचार भी मिथ्या है।

(१५०) **पर्यायबुद्ध अभूतार्थके वर्णनका लाभ**— अब समझो उल्टे क्रममे आकर। समझना है भूतार्थको। भूतार्थको कुछ अधिक नही समझाना है। वह तो एक लक्ष्यभूत चीज है। उस भूतार्थका ही ज्ञान करनेके लिए सर्व वर्णन हुआ करता है। अब उल्टी रीतिसे देखो—८वां क्या कहा था ? उपचार। तो उपचारका वर्णन अब अगले निबंधमे स्वतन्त्रतया होगा। अब ७वां देखो— पर्यायबुद्ध अभूतार्थ याने पर्यायको यह मै हू इस प्रकार माननेकी बात है पर्यायबुद्ध अभूतार्थ। मिथ्यात्व—इसका वर्णन ग्रन्थमे है, किसलिए कि यह हेय तत्त्व है और ससारका कारण है। हेयको भी तो बताना चाहिए। पर्यायबुद्ध अभूतार्थका परिचय तो सही है, पूज्य है, सिद्धान्तकी चीज है, मगर पर्यायबुद्धता न होनी चाहिए। जैसे एक बार कहा था कि नरकोका वर्णन है तीसरे अध्यायके पहले सूत्रमे, तो बताओ पहला सूत्र पूज्य है कि नही ? उसे अर्घ चढाना चाहिये कि नही ? चढाना चाहिए। पूज्य है, तत्त्वार्थ सूत्रका सूत्र है। अर्घ चढाओ तो प्रत्येक सूत्रका चढाओ, अर्घ चढानेमे दोष नही है, क्योकि वह जो वाणी है, वे जो नरकोका प्रतिपादन करने वाले वचन हैं वे बुरे नही हैं, पर नरकोमे जाना बुरा है। पापके स्वरूपका जो वर्णन है वे वचन गदे है कि अच्छे ? पाप बुरे हैं। अगर पापके स्वरूपका वर्णन न होता ग्रन्थोमे तो पापोसे हटाव कैसे होता ? तो पर्यायबुद्ध अभूतार्थमे जो पर्याय बुद्धता है वह तो त्याज्य है, पर पर्यायबुद्ध अभूतार्थ से मिथ्यात्वका ही तो स्वरूप समझा गया है। हां पर्यायमे आत्मबुद्धि होना यह है हेय, यह है संसारका कारण।

जैसे पापका वर्णन बुरा नही है, पाप बुरे हैं वर्णन तो जिनवाणी है। एक शास्त्रका कथन है। नो वर्णन घृणाकी चीज नही किन्तु पाप घृणाकी चीज हैं। ऐसे ही पर्यायबुद्ध अभूतार्थ ने मिथ्यात्वका स्वरूप बताया।

(१५१) **पर्यायात्मप्रतिपादक अभूतार्थ व उसकी उपयोगिता**— अब छठा क्या है ? पर्यायात्मस्वपरिचायक अभूतार्थ। पर्यायमे यह आत्मा है, यह जीव है ऐसा परिचय कराने वाला वर्णन है। देखो कितना लाभकारी है यह। यह त्रस है, यह स्थावर है, यह कीडा है, यह मक्खी है यह मच्छर हैं। ऐसा इन पर्यायोमे जो जीवका ज्ञान किया इमसे लाभ क्या ? इससे लाभ तब है जब कि दयाकी प्रवृत्ति बने। ग्रन्थोमे दयाको भी धर्म कहते है, रत्नत्रयको भी धर्म कहते हैं। धर्मादिक भावोको भी धर्म कहते है। एकान्त न करना। ये अपने अपने पदके अनुसार चलने वाले वर्णन हैं आचार्योंके। आचार्य सत सारे विश्वपर कृपा करने वाले थे इसलिए उनके सब वचन ऐसे निकले कि जिससे सब जीव सुखी हो, किमी जीवमे विसम्वाद न हो, अशान्ति न हो, ऐसा यह समान वर्णन है। जैसे दयाका वर्णन किया तो दया करने वाला भी सुखी जिसकी दया की जा रही वह भी सुखी। एकेन्द्रियको भी लाभ मिला भगवानके वचनसे कि एकेन्द्रियका घात नही करो ऐसे उपदेशसे भव्य जीवकी दयारूप प्रवृत्ति हुई तो उससे एकेन्द्रिय जीवकी भी रक्षा हो गई। जिनेन्द्रदेवका उपदेश यह सब विश्वके उपकारके लिए है। विवाद नही है, सब सुखी हो, शान्त हो, प्रेमसे रहे, वात्सल्यसे रहे। क्या प्रयोजन है ? कितना निर्विवाद स्याद्वादका दर्शन जो ऋषभदेवकी परम्परासे चला आया वैसा बतला रहा है यह पर्यायात्मक परिचायक अभूतार्थ— पर्यायमे जीव कहना। अब देखो निश्चय नयसे परमार्थदृष्टिसे तो पर्याय जीव नही, पर्यायका तो निषेध है कि पर्याय सब अजीव हैं। जीव तो चैतन्यशक्ति मात्र है। पर ऐसा ही कोई बोले कि बिजलीमे पतिगे आ रहे तो आने दो, मर रहे तो मरने दो, छिपकलियाँ खा रही तो खाने दो। अजीवमे अजीव ही तो पिट रहे। जैसे एक तेरापथी स्थानकवासी होते है उनमे यह कहा है कि बिल्ली अगर चूहाको पकडती है तो रोको मत। उन स्थानकवासियोका कुछ ऐसा ही सिद्धान्त है कि अगर श्रावक जीवदयाका विचार करता है तो वह अपने पदसे गिर जाता है, खाता है तो खाने दो। इस तरहसे अगर सब जगह मान लिया जाय, अव्रतियोमे भी एक इसी एकान्तकी बात की जाय तो दयाकी बात उठ जायगी। फिर हृदयमे करुणा ही न रहेगी। क्रूरता जग जायगी। तो यह भी बात तो कामकी है, और बात जहाँ जितनी कामकी है वह बात वहाँ उतनी समझनी तो चाहिए। पर्यायमे जीवका परिचय कराने वाला है अभूतार्थ। इससे यह लाभ है। अब आप समझते जायेंगे कि पूर्व पूर्वके अभूतार्थ कैसे-कैसे भीतरी बनते गए और यो प्रगति कर

कैसे भूतार्थ तक पहुच गए है ? तो समझना चाहिए।

(१५२) **आन्तरिक दृष्टि द्वारा भूतार्थकी ओर पहुंचनेका पौरुष**—अब इससे पहले क्या है ? सम्बंध, प्रतिपादक, अभूतार्थ, याने क्रोध प्रकृतिके उदयका निमित्त पाकर जीवमे क्रोध परिणमन हुआ, यह हुआ सम्बध प्रतिपादक अभूतार्थ । वर्णन असत्य नही है पर आगे जैसी अन्तर्दृष्टि मिलती जायगी वैसे ही वैसे यह अभूतार्थ छूटेगा, और अन्तरमे प्रवेश होता जायगा। इससे बहुत आगे हुआ अब पर्यायात्म प्रतिपादक अभूतार्थ । देख लिया ७ तत्त्व ९ पदार्थ, इनका श्रद्धान करना यह कर्तव्य बताया है शास्त्रमे । कई जगह वर्णन आया है, तो करना चाहिए वर्णन मगर आत्मोद्धारकी दृष्टि मिल जाय, इससे अतिरिक्त प्रयोजन नही । जैसे—चारित्रमे सीढी है। जैन सिद्धान्तमे पहली प्रतिमा, दूसरी, तीसरी बढते जावो, विशुद्धि बढती जाय और क्षुल्लक ऐलक और फिर मुनि जैसे चारित्रकी सीढी है ऐसे ही तत्त्वके परिचयकी भी सीढी है और उस सीढीको उत्तरकी ओरसे प्रथम प्रथमकी ओर जा जा कर सब बताये जा रहे है । यहाँ तक आये इतनी सीढियोको पार करके पर्यायके समझनेमे । जिसमे तत्त्व पदार्थ सब समझे गए। इससे और अन्तर्दृष्टि बने गुणप्रतिपादन अभूतार्थसे जानें । पुदगलमे रूप, रस, गध, स्पर्श गुण हैं । यहाँ तक चर्चामे आये । अब उन उन अभूतार्थोसे हटकर याने और ऊपर अन्तरमे आकर अब यहाँ आये । गुण देखो, आत्मामे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, शक्ति ये गुण देखे गए । इससे और अन्तरमे जो उतरे तो आया भेद प्रतिपादक अभूतार्थ । यहाँसे शुरू हुआ सब वर्णन । भूतार्थ तो है एक लक्ष्यभूत । अब बतावो तो कुछ । तो गुण गुणीका भेद पहले बताया । तब उसके आधारपर आगे और विस्तार बनता जायगा । और ये सब अभूतार्थ आते जायेंगे । तो यह है भेदप्रतिपादक अभूतार्थ । इससे और अन्तरमे गए तो गुण गुणीका भी भेद समाप्त हो जाय, केवल एक अखण्ड वस्तु चित्तमे हो, सहज स्वरूप हो वह कहलाया भूतार्थ तो कैसा इस अभूतार्थका सदुपयोग करके आगे बढ बढ करके हम भूतार्थमे पहुचे है । देखो सभी उपयोगी हुए ना हर बातमे । जैसे भगवानकी भक्ति करते, पूजन करते तो सबका निराला-निराला काम है। कही फल भी चढाते है, कही अचित्त द्रव्य सूखे भी चढाते है कही केवल धूप खेते है, कही केवल भावसे पूजा करते है, और कही केवल एक उपासना ध्यानसे ही पूजा जाता है। तो जो लोग जिस श्रेणीके हैं, जिनकी जितनी पात्रता है, जैसी व्यवहार चारित्रकी विविधतायें है, जैसे पूजन विधिमे विविधता है, ऐसे ही पदार्थके परिचयमे भी विविधता है । उनको पार करके चलना है भूतार्थ पदार्थ तक। सबके लिये देखो उपयोग है कि जो जितना जहाँ समझ सके वह वहा समझ ले, और अन्तमे यह आया भूतार्थ तत्त्वपर

(१५३) **तत्त्वपरिचयके प्रसंगमे आठो पद्धतियोका विलोम वर्णन**—अब पुनः उप-

सहारमे सुनो, उपचारसे वर्णन किया यह तो मिथ्या है। कैसे मिथ्या है और उसमे भी कुछ मर्म है कि नही ? यह सब आगेके निबधमे बतायेंगे। फिर है पर्यायबुद्ध अभूतार्थ। इससे जानें कि पर्यायबुद्ध रहना हेय है। ससारका कारण है। वह मिथ्यात्वभाव भाव जीवके उपकारके लिए नही है। फिर समझा पर्यायात्म परिचायक अभूतार्थ। यह त्रस है, स्थावर है, वादर है। यह सब किस लिए बताया कि हिंसादिक पाप न हो। हिंसादिक पापोको टालनेके लिए यह जीवोका परिचय है अन्यथा कोई समझे कि जल अजीव हैं, अरे वह तो पर्याय है। उसे तो जीव ही नही कहते, छानना खत्म। हर जगह सर्व हिंसा हिंसाका ही साम्राज्य बन जायगा यदि इन पर्यायोमे जीवका परिचय करनेकी बातको असत्य कह दिया जायगा। आगे बढो, पर किसी भी नयकी बातको असत्य नही कहा जा सकता। उससे और अन्तरनयमे बढना चाहिए। तो सम्बन्ध प्रतिपादक अभूतार्थका क्यो वर्णन किया जाता ? यह बतानेके लिए कि जितने विभाव, विकार परिणाम हैं वे सब अस्वभाव हैं, मेरे स्वरूप नही हैं। देखो सम्बन्ध प्रतिपादक अभूतार्थसे भी हमको क्या शिक्षा मिलती है ? ये क्रोध, मान, माया, लोभादिक मेरे स्वभाव नही हैं, क्यो नही हैं भाई ? ये निमित्त सन्निधानमे होते हैं कर्मविपाकका सम्बन्ध पाकर होते हैं, मेरे स्वभाव नही हैं, मेरे स्वभाव नही हैं। तो सम्बन्ध प्रतिपादक अभूतार्थने विकारसे हटा लेनेकी उमग दिलाया। फिर है पर्याय प्रतिपादक अभूतार्थ। ७ तत्त्व ६ पदार्थ अनेक पर्याय, इनका व्यपदेश करनेके लिए है। फिर है गुणप्रतिपादक अभूतार्थ। वह स्वभावका परिचय करनेके लिए है। क्या गुण प्रतिपादक अभूतार्थ ? जैसे कहा आत्माका स्वभाव चैतन्य है। हम नही समझे भाई ? अरे जिसमे ज्ञान गुण है, दर्शन गुण है, चारित्र गुण है ऐसा समझना तो समझमे आता। यह है गुण प्रतिपादक अभूतार्थ और भेद प्रतिपादक अभूतार्थ। एक अखण्ड वस्तुको सबसे पहले समझें जिसके द्वारा बनता वह है भेद प्रतिपादक अभूतार्थ। भूतार्थ लक्ष्य है।

—•—

(३६)

(१५४) **उपचारभाषामे मिथ्यापन व गुप्त तथ्यका दर्शन**— तत्त्वपरिचय करनेकी पद्धतिया ८ कही गई थी, जिनमे एक तो भूतार्थ और ६ अभूतार्थ और ८ वा है उपचार। ७ का वर्णन हो चुका था, अब आज उपचारका वर्णन किया जा रहा है। उपचारका शब्दार्थ है 'उप समीपे चरण उपचार' अर्थात् वास्तविक तथ्यके निकट निकट फिरना सो उपचार है। उपचारका सीधारूपक जो शब्दो द्वारा जाहिर होता है वह है एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यका कर्ता

स्वामी, भोक्ता बताना। एक द्रव्यके द्वारा दूसरे द्रव्यका निर्माण बताना, अब आप सब घटित कर लीजिए। मेरा घर है, मैं मकानका मालिक हूं, यह घी का घड़ा है आदिक जो जो कुछ भी प्रयोग होता है तो जैसा उन शब्दोमे कहा वैसा क्या वहां अर्थ है ? घी से बना घडा है क्या, मेरा मकान है क्या अर्थात् मुझसे रच पच गया हो ऐसा है क्या ? तो उपचार भाषा जिन शब्दोमे कहती है उन शब्दोमे ही तथ्य समझ लेना सो मिथ्या है, लेकिन एक बात यहां यह समझें कि दुनियाके सभी लोग एक ही तरहका उपचार क्यो बोलते है भिन्न-भिन्न प्रसंगो मे ? घरमे घीका डिब्बा है तो उसे बालक, जवान, बूढा, स्त्री, पुरुष सभी यही कहते हैं कि वह घीका डिब्बा लावो। और और लोग भी यही बात कहते है। अरे कोई भी तो कुछ और नही बोल रहा। जैसे धूलका डिब्बा, कागजका डिब्बा आदि। तो एक ही तरहसे क्यो उपचार भाषा बोलते हैं ? अटपट क्यो नही बोल डालते ? यहा उस तथ्यका अन्वेषण किया जा रहा कि जिसमे उपचारमे भी कोई तथ्यकी बात मिलती है। कुम्हारने घड़ा बनाया। वस्तुस्वरूपसे देखें तो यह बात मिथ्या है। कुम्हारने तो अपना हाथ चलाया, मिट्टीमे क्या किया कुम्हारने ? लेकिन सभी लोग ऐसा क्यो बोलते है ? यदि इसमे कोई तथ्य नही है तो फिर दुनियाके सब लोग यो ही बोलते—कुम्हारने घडा बनाया, तो उसमे कोई तथ्य है। क्या तथ्य है ? कुम्हारके व्यापारका निमित्त पाकर मिट्टीमे घड़ेकी परिणति बनी। यह घटना तो सत्य है ना ? सम्बन्ध प्रतिपादक अभूतार्थकी बात वहा पड़ी है ना ? उसीको समझानेके लिए उपचार भाषा एक संक्षिप्त शब्द है।

(१५५) उदाहरणपूर्वक उपचारसे गुप्त तथ्यका दिग्दर्शन—कुम्हारने घडा बनाया। लम्बी रचनामे जो घटना जानी जा सकती थी उसको संक्षिप्त थोड़े शब्दोंमे बतानेका व्यवहार लौकिकी रूढिमे हो गया है। अभी सिर दर्द करता हो तो आप यह ही तो कहते कि मेरा सिर दर्द कर रहा, तो यह बात क्या सच है ? मेरा सिर ही नही है, सिर पौद्गलिक है। मैं चेतन हू सो पहले तो यह झूठ रहा कि मेरा सिर। फिर आगेकी बात तो कहें क्या ? तो फिर सत्य क्या है सो तो बताओ। मेरा सिर दर्द कर रहा, यह बात तो झूठ हो गई उपचार हो गई। सिर सिर है मैं मै हूं, मेरा सिर नही और फिर भी बोल रहा तो उपचार बन गया ना। तो उपचार तो बन गया मगर मरे तो जा रहे हैं। तकलीफ हो रही है। वेदना हो रही है तो उस बातको बताओ तो सही कि किन शब्दोंमे कहोगे ? अब उन शब्दो को लावो। मेरा सम्पर्क पाकर आहार वर्गणाओंकी रचना शरीररूप हुई और उन शरीरमे ये नसें तन रही हैं, उनका निमित्त पाकर मेरेमे वेदना हो रही है, क्या कोई इतनी बात बोलेगा ? अरे इतनी बात बोलनेका होश किसे है ? तो उपचारमे भी तथ्य तो कोई है ना। उन शब्दोंमें ही कोई वैसा ही अर्थ समझ ले सो झूठा है, मगर कोई तथ्य तो है ना ? तो

अटपट व्यवहार अटपट उपचार क्यो नही होता उसमे भी तथ्य है। देखो बोली, वाणी, व्यवहार, प्रमाण, तौल, नाप सब कुछ यो ही कह देना कि सर्वथा असत्य है सो बात नही। उसमे भेद बनाना, विवेक बनाना कि इस पद्धतिमे यह बात असत्य है और इस दृष्टिमे देखो तो यह सत्य है। अच्छा तो उपचारका वर्णन आगममे किया क्यो जाता ? क्यो लिखा जाता उसका यह मतलब है कि उस उपचार कथनमे हम प्रयोजनकी बात पकड लें और जिन शब्द मे कहा उन शब्दोमे मत अटक जावें और प्रयोजनको जान लें तो उससे हमे फिर स्वभाव दर्शनमे मदद मिलेगी। एक पर्यायबुद्ध अभूतार्थको छोडकर जितने भी शेषके अभूतार्थ हैं उन सबका प्रयोजन है स्वभावदर्शनकी शिक्षा। सभी तो यही बात कह रहे हैं कि जो उपचार कथन होता है उसमे भी कोई तथ्य छिपा हुआ है। उस तथ्यको पकड लें और उपचार भाषाकी बात छोड दें सो नही। तो पहले निबंधमे जो ६ बातें कही थी उसमे पूर्व पूर्वकी बातें अतरग अतरग होती जाती हैं और अन्तमे पहुचना कहां ? उस भूतार्थपर। मैं अखण्ड एक ज्ञायकभावरूप हू। जगतके समस्त पदार्थोसे निराला हू। मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञान मात्र हू। मेरा किसीसे कुछ सम्बन्ध ही नही है। शरीरसे भी न्यारा, कषायोसे भी न्यारा केवल एक ज्ञान ज्योतिमात्र यहां जिसकी श्रद्धा बनी कि यह ही मैं सर्वस्व हू। इसकी वृत्ति को ही मैं करता हू, इसकी वृत्तिको ही मैं भोगता हू इसके अतिरिक्त मेरा और कुछ सम्बन्ध नही। ऐसा जिसने सत्यका परिचय पाया है और सारे विकल्पोको छोडकर इस ज्ञानस्वभावमे ही रहता है उस जीवको शाश्वत आनन्दके लाभका मार्ग मिलता है।

—०—

(३७)

(१५६) द्रव्यकी उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकता—इसमे एक समस्याका समाधान दिया कि बोलो द्रव्य उत्पाद व्यय सहित है या उत्पाद व्यय रहित है। देखो कथन दोनो तरहके मिलते है। द्रव्य तो उत्पाद-व्यय ध्रौव्य वाला है। द्रव्यका लक्षण ही यह है। जो चीज है वह बनती है, बिगडती है और बनी रहती है। ऐसी दुनियामे कोई चीज नही जो बने और बिगडे, पर बनी न रहे, या बने और बनी रहे, बिगडे नही, या बिगडे, बनी रह और बने नही, या बनी रहे, बिगडे और बने नही। कोशिश तो खूब की अन्य दार्शनिकोने, कोई ब्रह्म है जो बना ही रहता है, बनता, बिगडता नही। अच्छा तो एक चीज हम और बता दें—होवा है। (हंसी)। उसमे कुछ भी लगा लो, बना रहता है, उसमे बिगड़ना और बनना

नही। तो यह तो एक कल्पनाकी बात है। दुनियामे कोई पदार्थ ऐसा नहीं जिसमे उत्पाद-व्यय ध्रौव्य ये तीनों चीजें न पायी जायें। प्रत्येक सत् बनता है, बिगडता है और बना रहता है। अगर एक बात कोई पूछे कि बताओ सिद्ध भगवानमे क्या ये तीनो चीजे पायी जाती है? तो उसके उत्तरमे मोटे रूपसे यह जानो कि जब सिद्ध प्रभु बनते हैं तो ससार तो बिगड गया और प्रभुता बन गई और आत्मा वहीका वही रहा। अच्छा कोई यह पूछे कि जिसको प्रभु बने अनेक वर्ष हो गए उसमे बताओ क्या बनता, क्या बिगडता और क्या बना रहता? अच्छा वहाँ भी देखो सिद्ध भगवान शुद्धज्ञान ज्ञान ही पाते रहते है ना? केवलज्ञान, ज्ञान ही ज्ञान सदा चलता रहता है। अशुद्धपर्याय नही होती। ज्ञान ज्ञान ही चलता रहता है। तो चलता रहता है ज्ञान ही ज्ञान मगर पहले समयमें जो ज्ञान चल रहा और दूसरे समयमे ज्ञान चल रहा तो है तो एक समान सा मगर वह पर्याय न्यारी-न्यारी है। सो द्वितीय समय का ज्ञान परिणमन बना, पहले समयका ज्ञान परिणमन मिटा और आत्मा वहीका वही रहता है। यही आनन्दकी बात है। जैसे बिजलीका यह लट्टू जल रहा तो एक सा जल रहा और १५–२० मिनटमे जल रहा तो कोई कहे कि यह नया काम क्या कर रहा? जो १५-२० मिनट पहले काम किया था वही काम अब है, परतु वहाँ वही मात्र काम नही है। प्रतिक्षण मे नया-नया प्रकाश, नयी नयी शक्ति आती है। उसमे यूनिट भी तो खर्च हो रही ना? नई नई ताकत हर क्षणमे लग रही। कोई एक आदमी २० सेरका बोझ सिर पर रखे खडा है आधा घटासे, अब कोई कहे कि यह तो कोई नया काम नही कर रहा, एक ही काम कर रहा तो बताओ क्या सचमुच वह एक ही काम ज्योका त्यो कर रहा? अरे वह क्षण-क्षणमे नया नया काम कर रहा। कैसे? अरे भाई २० सेरका बोझ जो आधा घटा पहले लिया था, पहले मिनटमे लिया था तो दूसरे मिनटमे क्या वह ताकत लगाकर काम नही कर रहा अरे ताकत न लगाता तो बोझ गिर जाता। और पहले मिनटमे तो पसीना न आया था और अब पसीनासे लथपथ हो रहा तो नई-नई शक्तियोसे नया-नया काम कर रहा ना। तो यहां यह बात सिद्ध होती। सिद्ध भगवानमे भी यही बात सिद्ध होती। तो बात यह कह रहे हैं कि दुनियामे जो पदार्थ हैं वे बनते हैं, बिगडते है और बने रहते है। सभी पदार्थोंकी यही पद्धति है। और सब पदार्थ न्यारे हैं। जो बने बिगडे और बना रहे, ऐसा रहे, वह अपनेमे रहे। मेरा उनसे क्या सम्बन्ध? मेरा तो बस मेरेमे ही मेरा परिणमन है।

(१५७) तत्त्वविज्ञानार्थीको गुरुचरण सेवा प्रसादका महत्त्व—हाँ प्रकृतमे बात क्या कह रहे थे? दो समस्यायें हैं—द्रव्य उत्पादव्यय सहित है या उत्पाद व्यय-रहित है? तो द्रव्य उत्पाद-व्यय वाला है; यह तो प्रसिद्ध बात है मगर एक यह भी तो कथन आता है

कि द्रव्यदृष्टिसे द्रव्य शुद्ध है, उसमे बध मोक्ष नही उत्पाद-व्यय नही, विकार नही, कल्पना नही। वह तो एक सहज स्वभावरूप है। ऐसा भी है ना ? तो अब उनकी दृष्टियां समझिये द्रव्य तो साधारण रूपसे यही है--'सत् द्रव्य लक्षणं, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत्।' द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है। अब उस ही एक द्रव्य वस्तुमे दो दृष्टियां लगती है। देखो जगत मे जितने पदार्थ हैं वे पदार्थ अपनेमे कोई नई अवस्था लाते हैं, पुरानी अवस्था मिटाते हैं और चीज बनी रहती है। सभी पदार्थ ऐसे हैं। जीव हो, पुद्गल हो, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जो ऐसा नही वह है ही नही। अब ऐसा मैं आत्मा भी हू। सुबह कुछ और दोपहर कुछ और शामको कुछ। भाव बदलते रहते हैं ना, परिणाम नये नये आते रहते हैं ना ? तो नई दशा बनती है, पुरानी दशा बिगडती है और खुद बना ही रहता हैं। ऐसे इस आत्मवस्तुको अब जरा दो दृष्टियोंसे परखो ध्रौव्यांशग्राहक द्रव्यार्थिकनय व उत्पादव्ययग्राहक पर्यायार्थिक नय। ध्रौव्यांशग्राहक द्रव्यार्थिकनय—अभी बहुतसे भाई पढ तो लेते है बहुत जल्दी, महीना १५ दिन क्लास लगाकर थोड़े दिनोमे पडित हो गए। अब जैनागमका कितना रहस्य है, कितना मर्म है ? तो बीसो वर्ष गुरुके चरणरजको अपने मस्तकमे रखकर बडी भक्तिसे उनकी सेवा करके पाये तो पा सकते है, ऐसे अनेक विद्वान हुए। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवके टीकाकार अमृत चन्द्र सूरिने खुद लिखा है। जहां चौथी गाथामे कुन्दकुन्दाचार्यने कहा कि मैं समस्त वैभवको लगाकर आत्मद्रव्यको दिखाऊँगा। 'त एयत्तविहत्त दाएह अप्पणो सविहवेण। जदि दाएज्ज पमाण चुक्किज्ज छल ण घेत्तव्व'। इसकी टीकामे बताया है कि चार वैभव कौनसे हैं। पहला तो यह कि वे समस्त आगमके ज्ञाता है, दूसरा यह कि बडी युक्ति और दर्शन शास्त्रके प्रकाण्ड विद्वान है। तीसरा यह कि निर्मल निर्मल ज्ञानघनमे डूबे हुए परगुरु और अपर गुरुकी कितनी सेवाकी। उसके प्रसादसे एक प्रसाद प्राप्त हुआ। और चौथा यह कि निरन्तर झरने वाले अपने आनन्दानुभवसे निर्णय कर लिया। इन चार वैभवोंसे जो युक्त है वह पुरुष सत्य प्रतिपादन करनेमे समर्थ होता है। देखो यहांके परगुरु और अपरगुरुकी शुद्ध उपासनाका कितना महत्त्व कुन्दकुन्दाचार्यके चित्तमे था। सारी जिन्दगी पढते हैं, सारी जिन्दगी सुनते है, सारी जिन्दगी मनन करत है तब जाकर आनन्दानुभव करनेकी पात्रता बनती है।

(१५८) तत्त्वविज्ञानके लिये अनुरोध—भैया! अपना ध्यान बदलो—केवल गज नापने का ही उद्देश्य न रखो, केवल कांटा तोलनेका ही उद्देश्य न रखो या जो जो कुछ किया जा रहा हो व्यापार सर्विस वगैरह, यही मात्र जीवनका उद्देश्य नही है। ये क्या साथ रहेगे ? ये क्या छूटेंगे नही ? अरे ये यही पडे रह जायेंगे। इस आत्माको अकेला जाना पड़ेगा। जिसको अकेले जाना पडेगा उसकी कुछ जिम्मेदारी तो महसूस करो। इन बाहरी पदार्थोंको ही सर्वस्व

मत समझो, इन्हे न्योछावर करो। जरा अपने आपपर भी तो दया करो। आत्मज्ञान पाये बिना उद्धार न होगा। और उस आत्माका ज्ञान बनाओ। अगर स्याद्वादकी रीतिसे आत्माका ज्ञान बनेगा तो जीवन सफल हो जायगा, नही तो एकान्तकी रीतिसे आत्माका ज्ञान करनेसे लाभ कुछ न मिलेगा। पक्ष, आग्रह, अज्ञान, कषाय, भ्रम, इनमे ही जीवन जायगा। हाँ तो वस्तुका ज्ञान दो पद्धतियोसे होता है— एक है—द्रव्य वस्तुका ध्रौव्यांशग्राहक द्रव्यार्थिकनय याने उस द्रव्यमें एक ध्रौव्यस्वरूपको ग्रहण करने वाली दृष्टि। उससे जाना तो यह जाननेमे आ रहा कि मैं आत्मा ध्रुव हू। मेरेमे उत्पाद व्यय नही। एक स्वरूप हू। यह एक दृष्टिकी बात है। दूसरी दृष्टि है उत्पादव्ययाशग्राहक पर्यायार्थिकनय याने उस वस्तुमे उत्पाद व्ययको ग्रहण करने वाला नय। तीन चीजें हैं—एक दृष्टिसे ध्रौव्य ग्रहण किया, याने चीज सदा रहती यह अंश ग्रहण किया, और एक दृष्टिने अदल बदल ग्रहण किया। तो उत्पादव्ययाशग्राहक पर्यायार्थिक-दृष्टिसे वस्तु उत्पाद व्यय सहित है। उसमे बध है, मोक्ष है। तो एक पदार्थमे ये दो बातें जुदी जुदी सिद्ध हो गईं। देखो कही विवाद है क्या ? सच जानें और प्रेमसे रहें। और जितना बन सके धर्मकी उन्नति करें। प्रभावना करें। ज्ञान प्रभावना बनावें। आनन्द ही आनन्द है, और जहाँ स्याद्वादसे गिरे, एकान्त बन गया वहाँ सारा जीवन विषमय हो जाता है। यही हाल तो हुआ अनेक दार्शनिकोका। अच्छा तो दो दृष्टियोसे दो बातें बताया ना, उत्पाद व्यय सहित है यह आत्मा और उत्पादव्ययरहित है यह आत्मा।

(१५६) **ध्रौव्यांशग्राहक द्रव्यार्थिकनय व उत्पादव्ययांशग्राहक पर्यायार्थिकनयसे प्राप्तव्य शिक्षरण**—उक्त दोनो दृष्टियोसे हमे शिक्षा क्या मिली सो सुनो–ध्रौव्यांशग्राहक द्रव्यार्थिकनयसे हमे यह परिचय बनता कि देखो उत्पाद व्यय वाले तत्त्वपर उपयोग लगायेंगे तो उपयोग स्थिर न रहेगा, इसलिए उस दृष्टिको गौण कर ध्रौव्यको देखें। हमारी दृष्टि एक सदा रहने वाले मेरे स्वरूपपर रहेगी तो एक ओरसे तो हम बेफिक्र हो गए, याने उपयोग हमारा चचल है, मगर उपयोगका विषय जो ध्रौव्य तत्त्व है वह तो स्थिर है। उपयोग भी चचल और पर्यायको विपय करें तो दोनो ओरसे गए। तो विषय तो स्थिर रहा, अब स्थिर विषयका हम उपयोग करते रहेंगे तो हमारा उपयोग निर्मल होकर सम स्थिर हो जायगा। अच्छा तो उत्पाद व्ययग्राहक पर्यायार्थिकनयसे क्या शिक्षा मिली ? उससे यह शिक्षा मिली कि डरो मत, दुःखी मत हो। आज हम अज्ञानी है, आज हम रोगी हैं, आज हम बुरे है तो वह तो पर्याय है। ज्ञानबल बनायें तो इस पर्यायको मिटा देंगे और एक अनुकूल पर्यायको पा लेंगे। तो जिन दृष्टियोसे हमे शिक्षा मिलती है बस वही दृष्टि तो हमारे अलौकिक हितकी चीज है। तो यहाँ हम इस द्रव्य वस्तुको जब ध्रौव्यरूपसे तकते हैं तो हमको शिक्षा मिलती है इस ध्रौव्यका उप-

योग करें तो पार हो जायेंगे । जब उत्पाद व्ययको देखते हैं तो हमको बल मिलता जाता है। पापी हैं, अज्ञानी हैं तो घबडावो नही, यह पर्याय है, नैमित्तिक है । परभाव हैं, मिट जायेंगे । जैसे जब कभी किसीपर दुःख पडता है तो लोग समझाते हैं—अरे आ गया दुःख तो मिट जायगा, धीरज धरो । अशुद्ध पर्याय है तो धीरज धरो, ज्ञान वढाओ, मिट जायगा और शुद्ध परिणाम मे पहुच जायगा । तो आगमके प्रत्येक वाक्यसे हमको कल्याणकी शिक्षा मिलती है । श्रद्धा बनाये रहो, किसी ग्रन्थको असत्य मत कहो, सब ग्रन्थोसे सार मिलेगा । अगर ग्रन्थ असत्य है तो फिर आचार्यने बनाया ही क्यो ? वहाँ तत्त्व निकालनेकी कला पावो और उससे एक आनन्द पावो, कल्याण पावो । तो वात बस सक्षेपमे यह जानो कि जरा अब ज्ञानाभ्यासकी ओर बढो, कुछ स्वाध्यायमे लगो, कुछ मनन करो । अगर ससारके इन बाहरी बाहरी कामोमे ही रात दिन गुजारते रहे तो फिर अन्तमे पछताना पडेगा, इसलिए धर्म, ज्ञान, आत्मप्रतीति करो धन वैभवसे प्रीति मत रखो, इनमे आस्था मत रखो, ये तो परिस्थितिमे आकर करने पड रहे है, उमंग होनी चाहिए धर्म और आत्मज्ञानकी वृद्धि करनेकी ।

—०—

(३८)

(१६०) आश्रेय अन्तस्तत्त्वका प्रस्तावन—इस लोकमे ऐसा कौन सा पदार्थ है कि जिसका सहारा लें तो आत्माको शान्ति मिले । बाहरमे ऐसा कुछ भी पदार्थ नहीं कि जिसका सहारा लेनेसे जीवका कल्याण हो, इसे शान्ति मिले । जगतमे सम्पर्कमे आ सकने वाले दो ही तो पदार्थ है—जीव और पुद्गल, सो कोई भी जीवके साथ सम्बध नही बना पाता । कोई भी किसीके साथ सम्बन्ध बना सकता है तो यहाँ कल्पनामे पुद्गलसे बनायगा बाहरमे देखकर बोलता है, व्यवहार करता है तो पुद्गलको निरखकर करता है । हाँ इतना अवश्य है कि खाली पुद्गलसे कोई वार्तालाप नही कर सकता तो वह एक पर्याय है । पर्यायसे ही लोगोका सम्पर्क चलता है । एक जीव, शुद्ध जीव, चेतनामात्र उससे किसका नाता, किसका रिस्ता, किस का सम्बध ? जिससे भी सम्बध बन रहा वह बाहरके जीव पुद्गलसे बन रहा अपनी कल्पनामे । तो बतलावो कौनसा ऐसा सार है कि जिसका आश्रय करें तो जीवको कल्याण मिले ? सब खोटी कल्पनायें हैं, मेरा बेटा, मेरा मित्र मेरा पिता, मेरी पत्नी, मेरा अमुक, सब एक कल्पनाका जाल है । वास्तवमे इस आत्माका बाहरमे कुछ नही है । और यह जीव बाहरी चीजोमे राग बनाकर अपने आप दुःखी होता रहता है । खूब निर्णय करलो, अनुभव भी बन

गया होगा कि बाहरके किसी पदार्थका आश्रय लेनेसे सुख शान्ति नही मिलती। हाँ इतना जरूर हो जाता कि कोई धर्मात्मा पुरुष हो, ज्ञानी हो, साधु हो और उसका सत्सग करे, उसकी वाणी सुने, स्वाध्याय करे तो जो विकल्प जाल चल रहे थे उपयोग बदलनेसे उन विकल्प जालोका क्लेश नही रहता, ऐसे अवसरमे यदि बाहरी ध्यान छोडकर एक निज स्वरूपमे ध्यान बने तो इसको शान्ति मिलती है। तो बाहरमे कोई भी पदार्थ ऐसा नही जिसका आश्रय करनेसे शान्ति हो। तब फिर किसका आश्रय ढूंढना चाहिए ? खुदका ही आश्रय ढूंढ़ो, खुदमे क्या ? यह जो मूर्ति मुद्रा बनी है यह भव मूर्ति जो एक पर्याय है, आकार है, इसका सहारा लेनेकी बात नही कह रहे। यह तो परद्रव्यमें ही अन्तर्गत है। अपने आत्माके स्वरूपमे जो एक सहजस्वभाव है उसके आश्रयकी बात कही जा रही है, इसका नाम है अतस्तत्त्व। अन्तस्तत्त्वका आश्रय लेने से क्या लाभ मिलता है यह बात इस प्रकरणमें सुनो——

(१६१) निस्तरग अन्तस्तत्त्वके आश्रयसे उपयोगमें निस्तरंगताकी संभवता—यहाँ दो बातें खूब समझ लीजिए—अतस्तत्त्व और बहिस्तत्त्व। बाहरी क्षेत्रमे रहने वाले पदार्थ सब बहिस्तत्त्व है, बाहरी बातें हैं, और यह शरीर, यह बाहरी बात है, कर्म यह भी बाहरी बात है। कर्मके उदयका निमित्त पाकर होने वाला उपयोगमय विकार यह भी बाहरी बात है, विचार तर्क तरंग यह भी बाहरी बात है। और, जो कुछ बाहरी पदार्थ जाननेमे आ रहा है, जो जाना जा रहा है ऐसा यह जानना यह भी है तो पर्याय, ध्रुव नही। मिट जाता है, सदा नही रहता, इसलिए इससे भी हटकर उस सहज ज्ञानस्वभावरूप अतस्तत्त्वमे आइये। कैसा है अतस्तत्त्व ? ज्ञानस्वभाव, निस्तरंग, जिसमे कोई तरग नही, चंचलता नही, क्योकि अपने ही सत्त्वके कारण अपने ही स्वरूपमे अनादि अनन्त अविचल रह रहा है ना ? ऐसा स्वभाव निस्त-रग है। अच्छा तो ऐसे निस्तरग सहज ज्ञानस्वभावका आश्रय लेनेसे उपयोग निस्तरग हो जाता है, याने हम किसपर अपना ज्ञान जमाये हुए है ? जो ज्ञानका जमाना है, दिल लगाना है, उपयोग लगाना है तो निस्तरग ज्ञानस्वभावमे उपयोग लगायेंगे तो उपयोग निस्तरंग होगा। एक मोटी ही बात परखलो, दर्पणके सामने जैसा होगा दर्पणमे भी वैसा झलक जायगा। एक ऐसी रीतिके अनुसार देखो जो हमारा ज्ञान, हमारा उपयोग रागद्वेष सुख दुःख तरगोसे रहित ज्ञानस्वभावको देखेगा तो उपयोग भी निस्तरग बन जायगा। देखो तरग मायने है लहर। अपने आपमे एक लहर उठती है। देखो लहर है या स्थिर तत्त्व है। सुख दुःख रागद्वेष, सोच विचार, तर्क आदिक ये सब लहर है, तो इस लहरका ज्ञान करेंगे तो ज्ञानमे भी लहर उठेगी और इन सुख दुःखादिक तरगोसे विविक्त सहज ज्ञायक स्वभावका ज्ञान करेंगे तो ज्ञानमे यह निस्तरग ज्ञान ही तो आयगा। तो देखो भीतरी चीज अतस्तत्त्व निस्तरग है, उसका आश्रय

लेनेमे उपयोग भी निस्तरग हो जाता है। अच्छा बतलावो। लहरें उठनेमे आप शान्ति पायेंगे क्या? लहर उठती रहे यह आपको पसद है क्या? मुखसे तो कह ही दोगे कि हां पसद नही, मगर भीतरमे लहरें ही पसंद आ रही। मदिरमे आये, स्वाध्यायमे बैठे, प्रवचनमे सुन रहे, अपने ही ज्ञानकी बात सुन रहे, पर चित्त ऊधम मचा रहा—अभी कितनी देर स्वाध्याय चलेगा, चित्त चाह रहा कि घरकी ओर भागना है, दूकान खोलना है या जिससे प्रीति है उससे बात करना है, तरग ही पसद हो रही है जीवको और जब तक यह सुख दु'ख रागद्वेषकी लहर पसद होती रहेगी तब तक जीवको कल्याणका मार्ग न मिलेगा। एक बार पक्का निर्णय तो करलो कि जगनके बाहरी पदार्थ न तो ये मेरे हितरूप है और इन पदार्थोंका विचार कर करके जो भीतरी तरग उठती है न वह मेरा हितरूप है। एक निस्तरग ज्ञानस्वरूप ज्ञान ज्योति उसमे ही अनुभव बने कि यह हू मैं, बस यह ही जीवको भला कर सकने वाला भाव है। हां तो अन्तस्तत्त्वके आश्रयकी बात कही जा रही है।

(१६२) **अनाकुल अन्तस्तत्त्वके आश्रयसे उपयोगकी अनाकुलता**—देखो यह अतस्तत्त्व सहज भाव है क्योकि नैमित्तिक नही। जो नैमित्तिक होता है उसका सहारा लेनेसे काम न चलेगा। रागद्वेष मुख दु ख आदि भाव नैमित्तिक भाव हैं। होते है अपने ही उपादानमे, अपनी ही परिणतिसे मगर निमित्तनैमित्तिकताका बोध न हो तो उसका हटाव करना कठिन है। मेरे मे हुए, मेरेसे हुए, मेरी परिणति हैं, इतना ही इतना ध्यान रखा जाय विकार भावके लिए तो इसको हटानेका साहस और झुझलाहट कहांसे पैदा करेगा? ये परतत्त्व है, परभाव है, नैमित्तिक है, ऐसा बोध होनेपर उनको हटानेका पौरुष जगता है, तो सहजभावका तो आश्रय करना है, उसके प्रति यह भाव होना चाहिए कि यह मेरा अनादि अनन्त अतस्तत्त्व स्वरूप है। यह ही मैं हू। लोग सोचते है ना कि मैं क्या हू, हर एकके मनमे ज्ञानमे अपना अपना निर्णय पडा हुआ है। मैं हू, मैं अमुक कुलका हू, अमुक नामका हू, व्यापार करने वाला हू, सर्विस करने वाला हू, गृहस्थ हू, श्रावक, त्यागी हू, साधु हू, कुछ न कुछ रहता है ना। तो देखो ऐसी बाहरी बाहरी दशाओंरूप अपनेको मानना यह ही कष्टोंकी जड़ है, जो अपनेको समझना है कि मैं सहज चैतन्यस्वरूप मात्र हू, ऐसी भीतर दृष्टि रह जाय और अपने वास्तविक सत्त्वका परिचय करले तो उस जीवको कष्टका कोई काम नही। तो किसका आश्रय लें जो कष्ट मिटे? एक अपने आपके स्वभावका आश्रय लें, स्वरूपका आश्रय लें, तो कष्ट मिटेगा। बाहरमे किसीका भी आश्रय लेते रहे, अदल-बदल करते रहे, उपयोग भ्रमाते रहे तो उसमे सिवाय कष्टके और कुछ भी लाभ नही। तो इस ही अतस्तत्त्वके आश्रयकी बात कही जा रही है। हां फिर बाहरसे उपयोग हटाकर भीतर अतस्तत्त्वकी दृष्टिमे आवो। केवल सुननेसे लाभ नही है। जिस तैयारीके लिए बात

कही जा रही है अपने भीतरमे तैयारी बनाते हुए सुनो। सबसे निराला यह भीतरी ज्ञानस्वरूप, इसकी सस्कृति क्या है। यह है अनाकुल केवल ज्ञान ज्योति जहाँ प्रतिभास मात्र स्वरूप है वह है निराकुल। आकुलताका वहाँ काम नही है। जैसे दर्पणमे निजी स्वच्छता है वहाँ मलिनताका काम नही है। भले ही परउपाधिका सन्निधान पाकर दर्पणमे मलिनता आती है, प्रतिबिम्ब आता है मगर हम तो यहाँ देख रहे है दर्पणकी निजी स्वच्छताका गुण, वहाँ मलीमसता नही है, ऐसे ही भले हो इस उपयोगमे कर्मप्रकृति विपाकका निमित्त पाकर याने खुद अनुभागसे खिली हुई कर्मदशावोके प्रतिफलनके निमित्तसे इस जीवमे मलिनता तो आयी, पर उस मलिनताको देखनेकी बात नही कही जा रही, उसे मत देखो और देखो अपने आत्माके सहज स्वभावको। यह अतस्तत्त्व अनाकुल है। यहाँ आकुलताका काम नही। तो ऐसे अनाकुल ज्ञानस्वरूपको मानना कि मैं यह हू, फिर आकुलता क्यो लगेगी? अनाकुल स्वरूप निज ज्ञानभावको नही अनुभव पाते तो बाहरमे दृष्टि गडाते और ये कल्पनायें जगती और उनको मानता कि यह मैं हू, बस यह सारी विडम्बनाओका कारण है।

(१६३) स्थिर आत्मस्वरूपके आश्रयसे उपयोगकी स्थिरता—अच्छा अभी चलते रहो अपने आपमे। देखो उपयोगमे अगर कोई बाहरकी बात याद आ जाय तब इस बात को भली भाँति सुननेकी, विचारनेकी पात्रता न रहेगी, न उसका लाभ ले सकेंगे। छोडो ख्याल कि घडीमे कितने बजे हैं, और यह भी ख्याल न रहे कि कहाँ बैठे हैं, यहाँ तक कि शरीर तकका भी भान न रहे, केवल एक ज्ञानस्वरूप ही उपयोगमे हो और परखिये उस स्वभावको, वह ज्ञान ज्योति वह सहज ज्ञानस्वभाव स्थिर है कि अस्थिर? अस्थिर तो नैमित्तिक परभाव हुआ करते हैं। निजका स्वभाव तो स्थिर ही होता है। तो अब तक जीवने अस्थिर पदार्थोंपर ही उपयोग लगाया और इस कारण उपयोग अस्थिर बनता ही रहा तो अस्थिरका उपयोग न लेकर अब जरा स्थिर अतस्तत्त्वका उपयोग कीजिए। स्थिर ज्ञानस्वरूपका उपयोग करनेसे उपयोग स्थिर बन जायगा। उपयोग कह रहे उसका मतलब समझे ना? ज्ञानका लगाना, उपयोगका जोडना, किसी तरफ जानकारीका करना। इसका नाम है उपयोग। उस उपयोगको इन बाहरी अस्थिर पदार्थोंमे मत जोडो, किन्तु स्थिर जो निज अतस्तत्त्व है उसमे उपयोग जोडो तो स्थिर अंतस्तत्त्वमे उपयोग लगानेसे उपयोग भी स्थिर हो जायगा, अस्थिर होकर उपयोग जो भटकता रहता है यह ही तो एक क्लेश है। तो अपने अतस्तत्त्वको देखो स्थिर है। उस स्थिर अंतस्तत्त्वका यदि सहारा लें याने ज्ञानमे ऐसा ही ज्ञान बनाये रहे कि यह स्वरूप है, स्वभाव है, यह मैं हू ऐसा उपयोग रहेगा तो वह कष्ट न मिलेगा।

(१६४) निर्विकल्प अन्तस्तत्त्वके आश्रयसे उपयोगकी निर्विकल्पता—अच्छा और

भी अंतस्तत्वकी विशेषतायें देखिये— हमारा जो सहज स्वरूप है, याने पर पदार्थोंका आश्रय किए बिना, सम्बन्ध बनाये बिना अपने आप जो मेरे आत्माका स्वरूप है वह स्वरूप निर्विकल्प है, ज्ञानज्योति मे सामान्य प्रतिभासमे चैतन्यस्वरूपमे विकल्प नही है। जैसे कि दर्पण मे खुदमें किसी प्रकारकी कलुषता नही है खण्ड नही है, पर बाहरमे कोई चीज रखी हो तो दर्पणमे भी खण्ड हो जाता है। देखो ना। जैसे दर्पणको सामने करें और आपका मुख उसमे दिखेगा तो पूरा दर्पण तो मुखसे नही भिड गया। थोडी जगहमे ही तो मुखका प्रतिबिम्ब दिख रहा और उससे मुखमे दर्पणके बाहरमे टुकडे बन गए। फोटो बन गई। दर्पण अगर कही स्वच्छ है, कही नाकका प्रतिबिम्ब है। कही कानका, नीचे भी स्वच्छ, अगल बगल भी स्वच्छ, तो जैसे उसके खण्ड हो गए ऐसे ही बाहरी पदार्थ उपयोगमे आते हैं तो हमारे उपयोगके खण्ड बन जाते हैं। अपने आपका जो सहज स्वभाव है, शाश्वत् अन्त प्रकाशमान है उस स्वच्छ ज्ञान ज्योतिका उपयोग रहे तो उपयोगमे खण्ड नही बनता। निर्विकल्प ज्ञानस्वभावका आश्रय करनेसे उपयोग भी निर्विकल्प बनता है।

(१६५) **अविकार ज्ञानस्वभावके आश्रयसे उपयोगकी अविकाररूपता**—अभी बहुत सी जगह जो देहातियोंको, अनपढ़ लोगोको भूत प्रेत व्यन्तर आदि आ जाते है। कोई चबूतरे पर उछलने लगे, कुछ बोलते हुए कूदने लगे तो वह क्या विडम्बना हो गई ? उस पुरुषने अपनेमे यह ही भावना भरा कि मैं भूत हू, प्रेत हू, अमुक हू, तो जिसकी भावना भरी जाय उस रूप उसकी चेष्टा बन जाती है। तो जैसी भावना तैसी कृति होती है। तो जिसकी भावनामे अविकार विकार रहित स्वच्छ अंतस्तत्व बना हुआ हो उसका उपयोग तो अविकार बन जाता है। इसीलिए तो उपदेश है कि भगवानका ध्यान करो, भगवानकी भक्ति करो, क्योकि भगवान है अविकार स्वरूप। विशुद्ध ज्ञानानन्द व्यक्त हो, वहाँ रागद्वेषकी कालिमा नही है। सिद्ध प्रभु केवल आत्मा ही आत्मा हैं, ऐसे अविकार परमात्मप्रभुका ध्यान धरियेगा तो उपयोगमे वह अविकार स्वरूप ही तो आयगा। और चूँकि यह अविकार स्वरूप स्वभाव के अनुरूप है सो व्यक्तिकी भी कल्पना टूट कर एक स्वभावमात्र ज्ञानमे रहेगा। आचार्यसतो ने जो जो कर्तव्य बताया है वे वे कर्तव्य इस जीवके भलेके लिए है। भले कर्तव्यको हम गाली दें तो वह भला कर्तव्य हम कर सकें, यह सम्भव है क्या ? भगवानकी पूजा हेय है, बध करेगी, ससारका कारण है। यह आत्माका पतन करता है, ऐसी तो हम धारणा बनायें और फिर चाहे कि भगवानकी भक्ति हम कर सकें तो नही कर सकते। जब तक गुण ही गुण न दिखें तब तक भक्ति नही बनती। आप ध्यानमे दीजिए भगवानकी भक्ति हम कर न सकें तो फिर हम और क्या करने चलेंगे ? प्रभुकी अवस्था ही उत्कृष्ट अवस्था है और

मेरेको एक यह ही उत्कृष्ट अवस्था पाने योग्य है। अन्य कुछ मुझे न चाहिए। बस जो अर-हंतका परिणमन है, सिद्धकी पर्याय है। अवस्था है, बस यह ही अवस्था मेरी बने और मैं कुछ नही चाहता। ऐसी मनमे धारणा कब बनेगी? भगवानके गुणोमे अनुराग बनेगा तो बनेगा। जब हम यहां किसी व्यक्तिको गाली दे देकर मित्र नही बना सकते तो हम प्रभुताको गाली दे देकर प्रभुकी भक्ति कैसे कर लेंगे? तत्त्वनिर्णय होता है कि तत्त्व निर्णयके लिए है। उस तत्त्व निर्णयमे सभी बातें बधी हुई हैं। जो भगवानका स्वरूप है वही एक बननेमे मेरा भला है। उपादेयता आयी कि नही आयी, पर भगवानका जो व्यक्त स्वरूप है, परि-णति है उस परिणतिका ही ध्यान रखें और सहज स्वभाव पर उपयोग न जा सके तो वहाँ अटक बनती है लेकिन सही ज्ञानमे यह अटक नही रहती। वह मै विकास अनन्तज्ञान, अनन्त आनन्द विकासका ऐसा स्वरूप तकता है कि स्वभावमे उसका मेल बैठ जाता है और फिर पर्याय हटकर एक स्वभाव ही दृष्टिमे रहता है। तो भगवानकी भक्तिमे अपने ही स्वरूपका अपने ही स्वभावका सहारा आ जाता है।

(१६६) सदामुक्त अन्तस्तत्त्वके आश्रयसे उपयोगकी कष्ट विमुक्तता—देखो सब जीव चाहते हैं कि मेरी मुक्ति हो। ससारके सकटोसे हम छूट जायें तो सकट हीन हीन हो गए तो क्या हालत होगी? जैसे प्रभुकी स्थिति। प्रभु केवल एक आत्मा आत्मा है, वहां कोई भी विकार नही, कर्म नही। शरीर नही, केवल एक विशुद्ध आत्मविकास है, ऐसा बनता है क्या? हां याने उसको छोडकर बाकी जितनी विडम्बनायें है, उन विडम्बनाओसे छुटकारा उसके ही हो सकता है जो विडम्बनाओसे छूटा हुआ अपना स्वभाव रखता हो। पुद्गलमे से आप रूपको हटा सकेंगे? नही हटा सकते। क्यो नही हटा सकते कि पुद्गल रूपसे छूटे हुए स्वभावको रखते ही नहीं। सदा शाश्वत रूप शक्तिमय रहते है। अच्छा इस चौकीपर कूडा जम गया तो इसे हटा सकते हो क्या? हां हटा सकते। कैसे हटा दोगे? हम समझते है कि यह कूडा करकट बाहरी चीज है, जीवकी निजकी चीज नही, यह बात ज्ञानमे है तभी तो आप उसे हटा सकते, ऐसे ही मेरा स्वरूप तो परमैश्वर्यमय है और प्रभुका विकास है। ये विषयकषाय आदिक विकार प्रभुसे अत्यन्त दूर है, वे अपने आपमे गुप्त है, तो यह कहलाया सदा मुक्त अतस्तत्त्व। मेरा स्वरूप, मेरा स्वभाव समस्त उपाधियोसे, परभावोसे सदा निराला है। तो ऐसे निराले अन्तस्तत्त्वकी उपासना करेंगे तो उस रूपसे प्रकट निराले हो जायेंगे। तो सदा मुक्त अन्तस्तत्त्वका आश्रय करनेसे यह उपयोग भी सकटोसे, उपाधियोसे मुक्त हो जाता है। तो प्रकरण यह चल रहा है कि बाहरके पदार्थोंका सहारा न लें, खुदमे ही अन्तः प्रकाश-मान शाश्वत ज्ञानस्वरूपका सहारा लें। वहाँ ही अनुभव करें कि मै तो ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान-

सिवाय मैं अन्य कुछ नही हूँ ।

(१६७) आनन्दस्वरूप अन्तस्तत्त्वके आश्रयसे उपयोगकी आनन्दरूपता—प्राणियोकी आदत है कि वे किसीका सहारा लें, सहारा समझें और उसके प्रति ही अपनेको समर्पितसा कर दें, जिसको जिसके प्रति विश्वास है वह उसे ही अपना समर्पण करता है । सभी जीवोमे यह आदत देखियेगा, चाहे वे पशु-पक्षी हो अथवा मनुष्य हो, सभीमे यह आदत है कि किसी न किसीकासहारा मानना । कोई बूढा पुत्रका ही सहारा मानता है, पति पत्नीका सहारा मानता, पत्नी पतिका सहारा मानती । सहारा लेनेकी सबमे आदत है । तो अब जरा यहाँ यह ही विचार करें कि यह आदत तो है ना कि किसीका सहारा लें, पर किसका सहारा लें जो आत्मा का कल्याण हो, सकटोसे सदाके लिए छुटकारा हो ? वह सहारा बाहर न मिलेगा । वह सहारा है अपने आपके आत्माके अदर । जिसे कहते है अंतस्तत्त्व, आत्माका सहज स्वरूप । तो इसका सहारा लेनेसे कैसे कल्याण होता, इस विषयमे बहुत कुछ कहा है । अब यहाँ यह समझिये कि कल्याण है सबका आनन्दमे । इस जीवसे कहो कि तुम आनन्दकी बात तो मत करो, आनदका ध्येय न बनाओ, आनन्दका निहाल क्यो कर रहे और होने दो सारे गुणोके विकास । अनन्त ज्ञान हो जाने दो, केवल ज्ञान, बस एक आनन्दको मना कर दो, हमे न चाहिए आनन्द या आनन्द न मिलेगा, इतनी भर बात मना कर दो और फिर तुम्हे देंगे केवल ज्ञान, अनन्त ज्ञान अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति पर अनन्तमे हाथ मत लगाओ, तो ऐसा बनना किसीको मंजूर होगा क्या ? सर्व दशाओमे इस जीवको आनन्द ही प्रिय है । जो कुछ भी जीव काम करता है वह आनन्दके लिए ही करता है, तो आनन्द है इस जीवके लिए एक खास लक्ष्य तो आनन्द कैसे प्राप्त हो ? तो यहाँ दो बातें समझना है, जिसका सहारा लें, और कैसे आनन्द मिलता ? आनन्द नाम है उस भावका जिस भावमे यह आत्मा सर्व ओरसे समृद्धिशाली बन जाता है, सासारिक सुखोका नाम आनन्द नही । सुख तो दु:ख है । दु:खसे भी बुरा है । जो सुखमे रहता है वही दु:खको कभी कभी बडा बना लेता है । जो दुखमे रहता है वह उसका आदी है, वह घबडाता नही । नारकियोपर कितना सकट है, उन्हें घबडाहट क्या होगी ? वहाँ तो सब काम यही है, और देखो कैसा पापका उदय है कि उनके शरीरके तिल-तिल बराबर भी खण्ड हो जायें तो भी वे सब खण्ड परस्परमें ऐसा जुड जाते कि जैसे रस हो जाता । वह मरना चाहता पर मरता नही, ऐसा पापका उदय है । तो देखो आनन्दका मार्ग न पाये कोई तो ससारमे ऐसा ही रुलना पडता है । आनन्द क्या ? बस किसी प्रकारकी आकुलता न रहना । अपने आप मे अपनेको समृद्धिमे रहना यह ही है आनन्द स्वभावी अतस्तत्त्वका आश्रय किया जाय । ज्ञानामृत सहज ज्योति यह ही मैं हू, ऐसी दृढतासे अपनी ओर ही प्रकाश रहता है, तो उसने पाया

आनन्द तो अपना जो आनन्द स्वभाव है, भीतर जो अन्तः प्रभु है उसका आश्रय करनेसे यह उपयोग भी आनन्दमय हो जाता है ।

(१६८) कल्याणार्थी जीवको अन्तस्तत्त्व के आश्रयका महत्त्व—देखो भीतरका लें सहारा तो सब काम सिद्ध हो गया । बाहरका सहारा लें तो आकुलता ही हाथ लगेगी । दो टूक निर्णय तो है । अन्तस्तत्त्वका आश्रय लें तो आनन्द मिलेगा । बहिस्तत्त्वका आश्रय लें तो कष्ट मिलेगा । तब देखो जगतमे मेरा सेठ कौन ? अपनी-अपनी बात सोच लो । मेरा सेठ है मेरा स्वरूप, मेरा स्वभाव, जिसका आश्रय करनेमे नियमसे सकट दूर होते है और शान्तिका लाभ होता है । यह है अतस्तत्त्व एक सहज निधि, उसका जो आश्रय करेगा वह भी सम्पन्न होगा । तो सेठपना क्या है ? बस अपने सहज अतस्तत्त्वकी दृष्टि रहे यही है सेठपना । ऐसी अमीरी चाहते हो तो देहसे भी निराला ज्ञानमात्र अपने अत: स्वरूपको देखो, अपने भीतर बसे हुए भगवान परमात्मतत्त्वके आश्रयसे ही हम शान्ति पा सकते है । सब जगह देखे, सब जगह ढूंढा, सब जगह घूमा, सबका सहारा लिया, बहुतोका शरण लिया, लेकिन अपने आपके अंतस्तत्त्वका सहारा न लिया जाय । तो फिर ससारमे भटकते हैं, बाहरी पदार्थोंमे रमते हैं । दुःख भी पाते और रमते । जैसे कोई शराबी किसी शराबीकी दूकानपर गया और दूकानदार से बोला—अजी बढिया शराब देना । तो दूकानदार बोला—भाई हमारे यहाँ बढिया विदेशी शराब ही है, रद्दी नही ।··· अजी बहुत ही बढिया होनी चाहिए ।···· हाँ हाँ बहुत ही बढिया है । यदि आपको विश्वास न हो तो ये जो दूकानके पीछे तुम्हारे चाचा, मौसा आदि नालियोमे पडे है, जिनके मुखपर कुत्ते मूत रहे है उन्हें ही देखकर अन्दाज कर लो कि हमारी शराब बढिया है कि नही ?···अच्छा बढिया शराब है तो लावो । बस यही हालत है जगतके जीवोकी । राग मिलना चाहिए, मोह होना चाहिए । उसीसे पीड़ा हो रही और उसीकी ओर बह रहे । तो इसमे न मिलेगा आनन्द । आनन्द प्राप्त होगा तो आनन्दस्वरूप अंतस्तत्त्वके आश्रयसे ही आनन्द प्राप्त हो सकेगा । इसके विपरीत कुछ भी प्रयास करें, उसमे शान्ति नही मिल सकती । खूब खिलावो बच्चेको या और और किसी भी तरहसे मोह राग बढाओ तो उससे कुछ भी भला नही होनेका । तब अकिञ्चन, मेरा कही कुछ नही, मैं केवल ज्ञानमात्र हू, सहज ज्ञानज्योति स्वरूप हू, बस एक इस ही ज्ञानज्योतिका अनुभव बनाये रहे, मैं यह ही हू, अन्य कुछ नही हू, स्वय आनन्द मिलेगा । आनन्द भीख माँगनेमे नही मिलता । स्वयके पुरुषार्थसे स्वयके स्वरूपका आश्रय बनायें तो आनन्द मिलेगा । आनन्द भी क्या है ? एक शुद्ध ज्ञानका भोगना । ज्ञान बन रहा है, जानना शुद्ध जानना, जिसके साथ रागद्वेष नही, कष्ट आकुलता नही, उस ज्ञानभावका ज्ञानमे ज्ञान

होना यह ही भोगना होता है और बाकीके भोगनेकी बात तो अज्ञानवश होती है।

•ooo•••

(३९)

(१६९) जीवविकारका निमित्तके साथ व उपादानके साथ सम्बन्ध जोड़नेमे हितान्वेषणकी जिज्ञासा—जीवमे जो रागद्वेष सुख दुःख आदिक विकार होते हैं वे विकार होते तो जीवमे है, जीवके परिणमन है, किन्तु प्रकृतिका, कर्मविपाकका निमित्त हुए बिना जीवके रागद्वेषादिक होने लगें तो ये स्वभाव बन जायेंगे। और सदाके लिए जीवमे हावी होने लगेंगे। और यदि जीवके परिणमन नही हैं ये कर्मके ही परिणमन हैं, रागद्वेषादिक जीवकी बात नही है, तब फिर जीव बेचारा क्या करेगा ? कर्म जब राग करे तो राग होगा, न करे तो न होगा। सो यहाँ दोनो बातोपर दृष्टि देना है कि कर्मोदयका निमित्त पाकर जीवके उपयोगके विकार परिणमनरूप ये रागभाव हुए है। तो अब ऐसी स्थितिमे एक यह प्रश्न होता है कि हम उस विकारका सम्बध जीव के साथ सोचें तो हमको लाभ मिलेगा या कर्मनिमित्तके साथ सोचें तो हमे लाभ मिलेगा। ये दो बातें एक प्रश्नमे रखी गई हैं, क्योकि बात तो दोनो ही है। कर्मोदयका निमित्त हुए बिना विकार नही होता। ऐसा सभी कहते हैं, ग्रन्थ कहते हैं। इसमे किसीको विवाद भी नही है और यह भी बात है कि जो रागद्वेष परिणाम है, जो उपयोग रूप है वह जीव उपादानका परिणमन है। तो जब ये दोनो बातें है तो अब हमको अपने आत्महितके लिए कैसा सोचना चाहिए याने इस विकारका सम्बध हम जीवके साथ देखें, बनायें, मानें तो हमको अधिक लाभ होगा। ऐसे ये दो प्रश्न सामने रखे है। यह प्रश्न खडा क्यो हुआ ? इसमें चूकि दोनो बातें मिलीं, अत. प्रश्न खडा हुआ। क्या वे दोनो बातें है ? कि जीव विकार विकारके कालमे जीवका ही परिणमन है। ऐसा होनेपर भी वह जीवविकार नैमित्तिक हैं याने जो वास्तविक निमित्त कर्मोदय अन्वयव्यतिरेकी निमित्त है, उस कर्मोदयके होनेपर ही ये विकार हुए तब यहाँ ये दो बातें अब प्रश्नमे आयी। उत्तर तो सामान्यतया यही है कि दोनोमे प्रत्येकके साथ सम्बन्ध सोचनेमे लाभ होता है, सो देखिये।

(१७०) जीवविकारका जीव उपादानके साथ सम्बन्ध सोचनेमे लाभका कथन—जब हम उस विकारका जीवके साथ सम्बध सोचते हैं कि यह जीवका परिणमन है, जीवके गुणका विपरिणमन है तो उसमे हम अत्यत विवश और कायर नही हो पाते। जब हम यह जानते है कि विकार मेरा परिणमन है तो अब हम अत्यन्त विवश न बनेंगे, कायर भी न बनेंगे। यह साहस जगायेंगे कि यह तो मेरा विपरिणमन है, मेरी गल्तीसे मैंने ही किया, मैं

ही अपने ज्ञानबलसे इसे हटा सकता हू, किन्तु यदि एकान्ततः ऐसा मान लिया जाय कि इस रागविकारको कर्मने किया, कर्मकी परिणति है, कर्मकी सारी करतूत है। जीवसे कुछ सम्बध नही। यह कर्म ही ऐसा तैयार होकर अपनी सारी परिणति जीवपर लाद रहे है। यदि ऐसा एकान्त मान लिया जाय तो यह जीव अत्यन्त विवश हो जायगा। अब मैं क्या करू ? कर्म लद गए, कर्मकी सारी बात है, कर्मकी परिणति है, कर्मका पूरा साम्राज्य है, ऐश्वर्य है। सर्व कुछ कर्मका है। तो अब मैं क्या करू, विवश बन जाऊँगा। और कायर हो जाऊँगा, सो जीवविकारका जीवके साथ सम्बध सोचनेमे यह लाभ है कि आत्माकी अत्यन्त विवशता दूर हो और कायरता दूर हो, इसके लिए जीवविकारका जीवके साथ सम्बंध सोचनेमे लाभ है। वहाँ यह उमग जगेगी कि यह खोटा परिणमन, यह विकार मैंने किया। मै ही इसे मेटकर स्वच्छ हो जाऊँगा। तो देखो यह लाभ तो है जीवविकारका जीवके साथ सम्बध सोचनेमे।

(१७१) जीवविकारका निमित्तके साथ सम्बन्ध सोचनेमें लाभका वर्णन—अब दूसरी बात देखिये कि जीव विकारका निमित्तके साथ सम्बध सोचनेमे कितना लाभ है। जहाँ यह समझा कि जीव तो एक स्वच्छ ज्ञान स्वरूप है, उसमे जो यह विकार झलका, आया, सो वह कर्मोदयका निमित्त पाकर आया। कर्ममे स्वयमे उस प्रकारका अनुभाग खिला, वहाँ वहाँ क्षोभकी करतूत हुई और यहाँ जीवमे यह छाया आयी, तो यह जीवविकार नैमित्तिक है। मेरा स्वरूप नही है ऐसी एक अपनेमे स्वच्छताके प्रति रुचि और बल प्राप्त होता है। जहाँ यह समझा कि ये जीवविकार तो परनिमित्त पाकर हुए, सो परभाव हैं, ये निमित्तके अनुरूप प्रतिफलन है, निमित्त होनेपर ही होते है। निमित्त हटनेपर हट जाते है। निमित्तसे मेल है विकारका। निमित्तके होनेपर हुआ, न होनेपर न हुआ, और मेरेसे बेमेल है। मेरेमे तो एक चैतन्यस्वरूप है, उसका मेल तो शुद्धज्ञान, शुद्ध दर्शन, शुद्ध आनंद, शुद्ध शक्तिके साथ बनेगा। रागादिक विकारके साथ, मलिन परिणामके साथ मेरा मेल नही है। मैं तो सहज एक ज्ञायक भावस्वरूप हू ऐसा चिन्तन बनेगा, तब जब विकारका निमित्तके साथ सम्बन्ध सोचेंगे। तो ऐसा सोचनेसे कि जब ये रागादिक विकार निमित्त पाकर हुए, इसलिए निमित्त के खातेमें जावें ही मेरे खातेमे, मेरे स्वरूपमे यह नही है। मैं तो सहज एक ज्ञायक स्वभाव मात्र हूँ ऐसा चिन्तन जब होता है तो इसे अन्तस्तत्त्वका आश्रय मिलता है। जो मैं सहजस्वरूप हूँ उसका हमको सहारा, आश्रय मिलता है, इसमे मेरा उपयोग जाता है। तो ऐसे चिन्तन से, ऐसा अन्तस्तत्त्वका आश्रय पानेसे महान लाभ प्राप्त होता है।

(१७२) दो जिज्ञासाओका समाधान—अब पुनः समझो—जीवविकारकी घटना यह है कि कर्मोदयका निमित्त पाकर उपयोगमे जो प्रतिफलन हुआ उसका जो उपयोगमे

प्रभाव रहा उससे विपरीत होकर अपने ज्ञानस्वरूपसे च्युत होकर विकाररूप परिणमन यह जीव करने लगा। तो चूंकि जीव विकारका उपादान जीव है, निमित्त कर्मोदय है। तो अब यहाँ यह बात खोजी गई कि जीवविकारका सम्बध निमित्तके साथ मानें तो इस तरहसे अंतस्तत्त्वका आश्रय होता है और उस विकारका उपादानके साथ सम्बन्ध माने तो विवशता और कायरताके भाव दूर हो जाते हैं। अतः सही-सही समझना, एकान्तमे लाभ नही है। यथार्थ घटना जान-जानकर सभी तरहकी दृष्टियोसे, चिन्तनसे अपने आत्मस्वरूपके आश्रयका लाभ उठाना चाहिए।

••○○•••

(४०)

(१७३) आनन्दधाम ज्ञानचेतनाका आदर—आनन्दका स्थान क्या है ? आनन्दका आश्रय क्या है ? आनन्दका धाम क्या है ? इस विषयका विवरण इस प्रकरणमे है। इससे पहले आनन्दका मतलब समझें कि आनन्द कहते किसे हैं ? आनन्द आत्मामे चारो ओरसे विकास विकास ही, समृद्धि समृद्धि ही होना इसका नाम है आनन्द। कल्पित सुखका नाम आनन्द नही, दुःखका नाम आनन्द नही। कल्पित सुख तो कष्ट ही है, उनमे आनन्दका स्वरूप नही पाया जाता। कोई चीज इष्ट मिल गई। कल्पित सुख मान लिया, अब उस इष्ट चीजका वियोग होता है तो यह महान् कष्ट मानता है। तो बतलाओ कल्पित सुख जब माने तब भी यह आत्मा अपने स्वरूपकी ओर दृष्टि न कर सका था, क्योकि उस कल्पित सुखमे ही, उस बाहरी परभावमे ही इस जीवका उपयोग फसा रहा, इसने अनादि अनन्त सहज चैतन्यस्वरूपको दृष्टि न कर पायी थी। और आज इष्ट पदार्थका वियोग हुआ तो उसके सयोगकी चिन्ता चिन्तामे यह जीव अपने स्वभावकी दृष्टि न बने उन उन स्थितियोमे इस जीवका अकल्याण ही है, लाभकी बात कुछ नही है। संसारकी चीजें मिलें या न मिलें, उससे आनन्द और आकुलताका निर्णय नही, किन्तु अपने विकल्पमे, अपने परिणाममे परपदार्थका विकल्प आये, लगाव आये, उससे अपना हित मानें, उससे अपना बडप्पन मानें तो इसमें आत्माका हित है। तो पहले यह ही निर्णय कर लो कि आनंदधाम कौन है ? आनन्दधाम यह आत्मा है, सो आत्मा तो त्रिकाल है, क्यो नही इस जीवके त्रिकाल आनन्द पाया जा रहा ? ससार अवस्थामे यह व्याकुल रहता है। कहा आनन्द पाता है ? तो अब दूसरा उत्तर लो। आत्माकी वह परिणति बतलावो जहाँ आनंद ही आनंद पाया जाय। वह है ज्ञानचेतना। अब आनन्दविकासमे भी कुछ विभिन्नतायें पायी जाती हैं। कही कम आनद, कही विशेष आनद,

कही और कम आनन्द । करणानुयोग प्रक्रियासे भी जानें तो देखो अविरत सम्यग्दृष्टिके भी सम्यक्त्व होनेके कारण आनन्द प्रकट होता, मगर उससे अधिक व्रती पुरुषके आनन्द चल रहा । उससे अधिक श्रेणीमे रहने वाले योगियोके आनन्द बरस रहा है । उनसे अधिक वीतराग क्षीणमोह योगियोके आनन्द बरस रहा । उससे अधिक आनन्द है अरहंत प्रभुके, और अन्तमे उनके मलिनता भी नही रहनी है । वहाँ तो स्पष्ट आनन्द ही आनन्द है । तो जब आनन्दके स्थान ये अनेक हैं और आनन्दका मूल है ज्ञान चेतना, ज्ञान चेतनाके उपाय बिना आनन्द मिल नही सकता, तब हमे उस ज्ञानचेतनाकी पदवियाँ भी भिन्न-भिन्न सोचनी होगी ।

(१७४) अविरत सम्यग्दृष्टिकी ज्ञानचेतना—देखो सबसे पहले ज्ञानचेतनाकी स्थिति क्या है ? वहाँ यह निर्णय है, ऐसा ज्ञानका परिणमन है कि जहाँ यह स्थिति है कि ज्ञानस्वरूप मे ही यह मैं हूँ, ऐसे श्रद्धान स्वभावसे ज्ञान परिणमन कर रहा, यह आनन्दकी एक पहली सीढी है । अविरत सम्यग्दृष्टि जीवके ऐसा श्रद्धान रहता है ज्ञानस्वरूपको निरखकर, उस ज्ञानस्वरूपमे ही यह मैं हूँ, ऐसे श्रद्धानरूपमे ज्ञान परिणमता रहता है । यह व्रतका, सयमका विशेष ध्यानका पौरुष तो नही जग रहा, किन्तु श्रद्धान अकाट्य है । मैं ज्ञानस्वरूपमे ही यह मैं हू ऐसा श्रद्धान बन रहा, ऐसे श्रद्धान रूपसे ज्ञान परिणम रहा, यह ज्ञानचेतना होती है अविरत सम्यग्दृष्टि जीवका । और इसके अनुरूप वहाँ आनन्द भी बरसता है ।

(१७५) स्वानुभूतिरत अविरत सम्यग्दृष्टिकी ज्ञानचेतना—अब देखिये इस ही सम्यग्दृष्टि जीवके जब कोई स्वानुभूतिका समय होता है उस समय उसकी ज्ञान चेतनामे विशेषता जग जाती है, इस समय क्या स्थिति बनती है ? ज्ञानमे ज्ञानस्वरूपका ही जानना रहता है, यही कहलाता है ज्ञानानुभव । ज्ञानमे अन्य पदार्थ जाननेमे न आयें, केवल एक ज्ञान ही जाननेमे आये– ज्ञानस्वरूप । ज्ञानका काम है प्रतिभास चेतना, वह सामान्य संचेतन जब ज्ञान मे आ रहा है और उसके द्वारसे सहज ज्ञान स्वभाव ज्ञानमे आ रहा उस समय कहलाता है ज्ञानानुभूति । स्वानुभूतिमे ज्ञानानुभूतिके समय ज्ञानचेतनाका विशेष विकास चल रहा है, यह है आनंदलाभकी दूसरी सीढी, यहांपर अप्रत्याख्यानावरण आदिक कषायोका उदय चलता रहता है । उस ज्ञानी जीवके स्वानुभवमे, और किसी भी बाहरी पदार्थका विकल्प भी नही है, किंतु जो अप्रत्याख्यानावरणादिक कषायोका उदय चल रहा है तो उस उदयके प्रतिफलनमे इसके कर्मका आश्रय व बध भी चल रहा है । तो देखो है तो स्वानुभूति अविरत सम्यग्दृष्टि जीवके मगर अबुद्धि पूर्वक कषाय विकार हो रहा है और अबुद्धि पूर्वक कषाय विकारका निमित्त पाकर जितने अंशमे जो आश्रव बध होना चाहिए वह भी चल रहा है । तो इस बाहरी दृष्टिसे ये ज्ञानानुभूतिके समयकी ज्ञान चेतना भी एक दूसरे नम्बरकी सीढी ही कहला सकती है ।

(१७६) **व्रती सम्यग्दृष्टि आत्माओंकी ज्ञानचेतना**—अब उससे अधिक विकसित ज्ञान चेतना है व्रती पुरुषोके । इन व्रती पुरुषोके अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण कषाय नही जग रही इस कारण अब उनके स्थूल रागादिक विभाव नही आ रहे । जैसे कि अव्रती जीव के स्थूल रागादिक आते हैं अब वे स्थूल रागादिक इस ज्ञानी जीवके नही आ रहे तो ये स्थूल रागादिक विभाव दूर हो गए तो अब वहां पर ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानकी धुन विशेष स्थिर हो जाती है और जहाँ ज्ञानस्वरूपमे ज्ञानकी धुन स्थिर बन गई वहाँ आस्रव बंध आदिक अत्यन्त कम रहते है, ऐसी यह ज्ञानचेतना आनन्द पानेकी तीसरी सीढी है । चढते जा रहे हैं ऊपर तो उससे एक यह बात समझ लें कि अविरत सम्यग्दृष्टि स्वानुभूति भी कर रहा है फिर भी उससे अधिक निर्मलता है व्रती मुनि साधु पुरुषके जो कि उपदेश भी करता हो, दीक्षा शिक्षा भी देता हो, फिर भी उसकी निर्मलता स्वानुभव करने वाले अविरत सम्यग्दृष्टिसे अधिक है कारण कि स्वानुभवके समयमे अविरत सम्यग्दृष्टिके इस बातमे तो श्रेष्ठता है कि बाहरी पदार्थ का ख्याल नही है और केवल आत्माके सहज ज्ञानस्वरूपका ही ज्ञान चल रहा है । लेकिन अप्रत्याख्यानावरणादिक कषायसहित होनेसे वहां आस्रव बध चलता ही रहता है । और जहाँ स्थूल रागादिक नही है, अप्रत्याख्यानावरण कषायका विपाक नही है वहाँ ज्ञानस्वरूपमे ज्ञान बननेकी धुन बराबर अविचल चल रही है नही भी है ज्ञानानुभव फिर भी उन कर्मोका उदय न रहनेसे इस जीवमे विशेष स्थूल रागादिक सम्भव नही हो रहे ।

(१७७) **श्रेणिप्रविष्ट योगियोकी ज्ञानचेतना**—अब और अधिक उत्कृष्ट ज्ञानचेतना वहाँ है, जहाँ सूक्ष्म रागादिक भी दूर हो जाते हैं और ज्ञानस्वरूपके जाननेकी स्थिरता बन जाती है जैसे कि श्रेणीमे रहने वाले योगियोके, वहाँ कोई रागद्वेष नही चल रहा, जो चल रहा है वह अबुद्धि पूर्वक सूक्ष्म विकार है वह तो है, परंतु बुद्धि पूर्वक सूक्ष्म रागादिक विभाव भी नही हैं, ये भी जहाँ दूर हो गए वहाँ ज्ञानस्वरूपके जाननेकी स्थिरता चल रही है । ऐसी ज्ञान चेतना है श्रेणीमे रहने वाले उत्कृष्ट योगी जनोकी । वहाँ आनन्दका विकास अधिक है और उससे अधिक आनन्दका विकास है क्षीणमोह गुणस्थानमे जहाँ रागादिक विभावका बिल्कुल अभाव हो गया । अब विशुद्ध जाननकी परिणति चल रही है ऐसे निर्मोह वीतराग योगियोंके जो ज्ञानका परिणमन चलता है वह ज्ञान चेतना विशेष है । वहाँ आनन्द विशेष प्रकट है क्षीणमोह हो गया । रागद्वेष जरा भी नही रहे । ज्ञान ज्ञानरूप ही विकसित हो रहा । वहाँ अज्ञानका काम न रहा, ऐसी दशामे आनन्द विशेष है ।

(१७८) **परमात्म प्रभुकी ज्ञानचेतना**—छद्मस्थ जनोसे अधिक विशुद्ध ज्ञानचेतना है अरहन्त सिद्ध भगवानके । अरहंत प्रभुके ज्ञानका उत्कृष्ट वैभव प्रकट हुआ है, केवलज्ञान प्रकट

हुआ है, अनन्त ज्ञान प्रकट हुआ है, उसके साथ विशुद्ध ज्ञानवृत्तिका विलास चल रहा है। केवल ज्ञानचेतना जहाँ प्रकट हुई है वह अरहंत भगवान, वह परमात्मप्रभु अनन्त आनन्दके धाम है। तो देखो आनन्दका विकास उत्तरोत्तर कैसा बढता चला जा रहा है कि किसके सहारे बढ रहा ? ज्ञानचेतनाके सहारे। तो उससे शिक्षा यह लेना है कि हम अपनेको समझे कि मैं ज्ञान-ज्ञान स्वरूप हूं, ज्ञान ज्ञानमात्र हू। ज्ञानके सिवाय मे अन्य कुछ नही हू, ऐसी ज्ञानकी विशुद्ध वृत्ति जहाँ प्रकट हुई है वह है विकसित आनन्दधाम। तो ऐसे सत्य सहज आनन्दके लाभका उपाय है ज्ञानचेतना।

(१७६) **ज्ञानचेतना व अज्ञानचेतनाका विश्लेषण**—अब इसके एक साधारण रूप पर कुछ विचार करें—ज्ञानचेतना व अज्ञानचेतना कहते किसे हैं ? जहाँ ज्ञानचेतना नही है उसे कहते है अज्ञानचेतना। तो अज्ञानचेतना तो यह है कि ज्ञानको छोडकर अन्य भावमे मैं इसको करता हूँ, मैं इसको भोगता हू, यह मेरा स्वरूप है, ऐसा भाव बने तो अज्ञानचेतना है। जैसे मैं अमुक पुरुष है, व्यापारी हूँ घर बाल-बच्चो वाला हूँ अथवा मैं इतना पढ़ा-लिखा हूँ, इतना धर्म करता हूँ, ऐसी वृत्ति करता हूँ आदिक किन्ही परभावोरूप अपनेको मानना कि यह मैं हूँ अज्ञानचेतना है और इसमे यह समझें कि मैं इस भावका ही करने वाला हू, अज्ञान चेतना हो गई और इस भावका भोगने वाला हू सो अज्ञानचेतना हुई, अज्ञानचेतना जहाँ नहो है वहाँ ऐसा निर्णय रहता है कि मे ज्ञानमात्र हू। ज्ञानके सिवाय मैं अन्य कुछ नही हू, ज्ञान को ही करता हू। ज्ञानके सिवाय मैं अन्य कुछ करता नही हू। ज्ञानको ही भोगता हू, ज्ञान के सिवाय मैं अन्य कुछ नही भोगता हू, ऐसा ज्ञानमे ज्ञान समाया रहे, ज्ञानसे ही हमारा विशेष सम्बध रहे, ज्ञानमे ही हमारा उपयोग जुडा रहे तो यह कहलातो है ज्ञानचेतना, और ज्ञानचेतना ही सत्य सहज आनन्दके लाभका परम तत्र है, उपाय है। यह आनन्द किसी अन्य उपायसे नही आ सकता। मनुष्योका सारा जीवन क्यो कष्टमय गुजरता है ? यो गुजरता है कि अज्ञानचेतना लादे फिर रहे है, सारा जीवन कष्टमे जा रहा। बाहरी बातें, बाह्य पदार्थ, विकारभाव, कषायभाव इनमे ही अनुभव कर रहे, यह ही मैं हू, ये मिटे तो मैं मिट गया, जिनकी ऐसी अज्ञानबुद्धि है। उनको आनन्दका लाभ कहाँसे हो ? जिनको इस ही रूपसे अपनेको मानकर यश कीर्तिका भाव जग रहा हो उनको आनन्दका लाभ कहाँसे हो ? तो आनन्द न पा सकनेका कारण है अज्ञानचेतना। अपने आपको अज्ञानरूपमे यह जीव मान रहा है। बस यही सर्व दु:खोका मूल है। यदि सर्व सकटोसे छूटना चाहते हैं तो ज्ञानचेतना बलसे अज्ञानचेतना मिटायें और फिर भी इस विशुद्ध तत्त्वके आश्रयके प्रतापसे अपने आपमे ज्ञानानुभवका एक विशेष लाभ पायेंगे। तो यहाँ बताया है कि सभी जीव चाहते तो आनन्द है,

पर आनन्द पानेकी नियतसे ये बाहरी पदार्थोंमे उपयोग जुडाये फिरते है जो कि आनन्दके उपायसे विपरीत उपाय है। इन बाहरी पदार्थोंमे उपयोग न जुड़े तो इस जीवको कभी कष्ट नही हो सकता। तो जिसे आनन्द चाहिए वह बाहरी असार भिन्न चीजमे उपयोगको न अटकायें और अपने आपमे आराधना करें कि मैं ज्ञानमात्र हू, ज्ञानस्वरूप ज्ञान ही ज्ञान हू, ज्ञानज्योतिसिवाय मै कुछ नही हू। शरीरसे अत्यन्त निराला हू, ऐसा अपने आपके ज्ञानको जुडायें और यह जुडने वाला ज्ञान ज्ञानमे जब एक रस होकर अनुभव रूप बन जाता है बस उस समय भव-भवके बांधे हुए कर्म सकट दूर होते हैं और अपने आपमे अतिशय आनन्द प्रकट होता है।

(१८०) **ज्ञानमय आत्मामे निरंतर ज्ञानव्यापार**—जगतमे जितने भी पदार्थ हैं वे सब अपनेमे अपना होना रखते। पदार्थमे और व्यापार ही क्या है ? वह है और प्रति समय होता रहता है। नई-नई अवस्थाओंरूप होते रहना बस यही है पदार्थोंका व्यापार। तो आत्मा भी है ना कुछ। सभी समझते हैं अपने आपमे कि मैं हूं, सबको अह प्रत्ययका भान है, चाहे वे उल्टे रूपसे ज्ञान करें तो वहां भी यह भान है कि मैं भले ही करता हू, भोगता हू आदिक रूपसे अहकार हो, लेकिन उस सबके साथ लगा है और जो अहकारमे नही है वे भी इस मैं का अनुभव तो करते ही हैं, सहज स्वरूपके रूपमे। तो मैं यह आत्मा हू और अपने आपके परिणमनमे होता चलता जाता हू। तो आत्मा क्या ? स्वके भवन मात्र याने जो कुछ है उसमे वह होता रहे। मैं हू ज्ञानमय तो इसमे ज्ञान सदा होता रहे ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान होता रहे, इतना ही इस आत्माका तथ्य है। तो यह आत्मा जो कि स्वके भवनमात्र है वह करता क्या है ? जानता है, आत्मा है और उसमे जाननेकी वृत्ति जग रही है। यह जाननेका व्यापार किसी दूसरे पदार्थकी कृपासे नही हुआ, किंतु यह तो जाननेका स्वभाव रखता और जानने के विषय बनते है, इस लोकके पदार्थ। कोई भी पदार्थ तो विषय मात्र बनता है इस कारण व्यवहार किया जाता है कि आत्मा अमुक पदार्थको जानता है। बात यह भी सही है याने आत्मा के ज्ञानमे परपदार्थ विषय हुआ है और उसका जैसा जैसा स्वरूप है, रूप है, मुद्रा है, जो कुछ भी झलका है यहां उसीका ही वर्णन है। तो आत्मा वहां केवल जानता है और उस जाननेमे विषय बन रहे है बाह्य पदार्थ। पर बाह्य पदार्थ इनके जाननेकी परिणति नही कर रहे हैं। देखो वस्तुस्वातंत्र्य प्रत्येक पदार्थ अपने आपमे अपना ही काम करता चला जाता है। अब जाननेके प्रसगमे परपदार्थ होता है विषयमात्र और उत्पत्तिके प्रसगमे कोई भी अवस्था बने उसके प्रसगमे पर पदार्थ होता है निमित्त मात्र, किन्तु यह जानना कि कार्यमे ये बाहरी पदार्थ विषय मात्र रहते हैं, तो आत्मा क्या करता है ? जानता है। किसको जानता है ? परमार्थतः अपने

आपको जानता है, क्योकि आत्मामे जाननेका काम हुआ, प्रतिभास करनेका काम हुआ, तो यह जानना कही आत्माके प्रदेशोको छोडकर बाहर नही गया। जान रहा है। जाननेका काम, जानने की वृत्ति यहाँ ही उमड़ रही है। तो वस्तुतः हमने अपने आपको ही जाना। अब अपनेको कैसा जानता, यह आत्माकी एक कला है कि जैसा बाहरमे पदार्थ है वैसा यह जान लेता है। तो जाना अपनेको मगर विषयभूत हुआ बाह्य पदार्थ, तो ऐसा इस जीवने जाना।

(१८१) **आत्मामें आत्मवृत्तिकी षट्कारकता**—आत्माने अपनेको जाना तो किसके द्वारा जाना? अपने द्वारा जाना। देखो यद्यपि छद्मस्थ अवस्थामे हम अपने आपके जो जानन परिणमन है वह मन और इन्द्रियकी सहायतासे बनता है याने उत्पत्तिमे मन और इन्द्रिय के द्वारा नही जाना गया, किन्तु ज्ञानकी परिणतिके द्वारा जाना गया, क्योकि निश्चयसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणम नही सकता। फायदा किसने उठाया? प्रयोजन किसने लिया? चाहे वह दुःखरूप फायदा हो, चाहे सुख रूप हो, चाहे आनन्दरूप हो, आखिर वह होता किसके लिए? तो मैं ही प्रयोजन हू, मेरेमे ही परिणमन होता। जो कुछ जाना जाता है वह दूसरेके लिए नही जाना जाता। उसका प्रभाव अपने आपपर ही होता है। तो अपने लिए इस जीवने अपनेको अपने द्वारा जाना। हाँ जाना सही। तो जानना एक काम हुआ, जानना एक परिणति हुई। तो यह परिणति किससे निकली? इस आत्मासे निकली। यह आत्मा ही अपादान होता। जैसे वृक्षसे पत्ता गिरा तो जो गिरा वह है अनित्य और जिससे गिरा वह है स्थायी। दृष्टान्तमे जितना समझना चाहिए उतना समझ लेना ऐसे ही परिणति किससे निकली? किससे गिरी? आखिर परिणति हुई तो वह मिटती ही तो है। तो आत्माने परिणति हुई और आत्मासे गिर गई तो किसमे उत्पन्न हुई? इस आत्मामे उत्पन्न हुई। तो आत्माने जो किया वह अपनेसे किया। यह परिणमन दृष्टिसे अथवा निश्चयदृष्टिसे देखते जाइये। हाँ तो जाना हमने अपनेको, अपने द्वारा, अपने लिए और जाना कहाँपर? अपनेमें जाना। अविकार अधिकरण अनाधार यह स्वय है। तो ऐसा एक ज्ञानस्वरूप आत्मा अपनेमे जाननरूप वर्तना करता रहता है। अब उस स्थितिमें भला बतलाओ अपने आपको किस ढग से जाना? यह तो बताना होगा। तो जाननेमे विकल्प है, याने परग्रहण है अर्थात् अर्थग्रहण है। कुछ समझा ना, उसकी कोई मुद्रा बनती है। तो क्या जाना? बस जिस रूप जाना वह तो जो विषय हुआ बस उसको जाना ऐसा व्यवहारसे बोलते हैं। देखो चर्चा अपनी चल रही है, आत्मा क्या करता है? इसका विवरण चल रहा है। आत्मा किसी परपदार्थको नहीं करता, आत्मा किसी परकी परिणति नही करता, खुद है, खुदको जानता रहता है। प्रत्येक पदार्थ खुद अपने आपका काम करता रहता है। बस अन्तर इतना है कि जो शुद्ध परिणमन

है उसमे तो कोई परपदार्थ निमित्त नही होता। स्वप्राप्यक है, अपने आपके आश्रय मात्रसे है, किन्तु जो विभाव है, विपाक है, सुख दु.ख है, रागद्वेष है, पुद्गलमे भी है जो विकार है सो परिणमता तो है पदार्थ खुद ही उस रूप, लेकिन परपदार्थका निमित्त पाकर ही परिणमता है। निमित्तके अभावमे विकाररूप कोई परिणाम ही नही सकता। खैर यहां इतना अश ग्रहण करें कि प्रत्येक जीव प्रत्येक पदार्थ खुद अपनेमे अपने द्वारा अपनेसे परिणमता है।

(१८२) परमार्थदृष्टिसे आत्मामे षट्कारकताकी अप्रसिद्धि—हां तो परमार्थदृष्टिसे तो इतना भी नही बोला जा सकता है कि आत्मा आत्माको जानता, आत्माके द्वारा जानता, सत्ता कारककी योजना परमार्थदृष्टिमे। परमार्थदृष्टिसे तो बस एक सहज भाव ही आता, परमार्थ निश्चय दृष्टिसे बढकर दृष्टि है। निश्चयदृष्टिमे तो भेद है, कितने भेद हैं? तीन भेद हैं–(१) परमशुद्ध निश्चयनय, (२) शुद्ध निश्चयनय, (३) अशुद्ध निश्चयनय, और एक और भी समझ सकते है विवक्षित शुद्ध निश्चय। मगर परमार्थके भेद नही होते। परमार्थदृष्टिका कथन वह है जो परमशुद्ध निश्चयनयका विषय है। एक अखण्ड, शाश्वत सहजभाव अथवा एक अखण्ड पदार्थ। तो परमार्थदृष्टिसे तो आत्मामे ६ कारककी योजना भी नही है। यदि ६ कारककी योजना व्यवहारसे है अथवा कहो शुद्ध निश्चयसे है, अशुद्ध निश्चयसे है। तो यहाँ एक अध्यात्मदृष्टिसे अपने आपके एकत्वको, अद्वैतको परखते है। आत्मा तो जाननमात्र है। उसमे ६ कारक नही बनते, आत्माके निजस्वभावका अभ्युदय है। यह तो सारे पदार्थ इस जाननेमे आ जाते। देखो बात संक्षेपमे थोडी इतनीसी है कि आत्मा है और वह जानता रहता है। तो किस रूप जानता है। जाननेमे कुछ पदार्थ तो आया, कुछ तो बताना होगा, किस ढंगसे जाना, तो जिस ढंगसे जाना उसको बतानेके लिए व्यवहार कथन चलता है कि इन पदार्थोंको जाना। देखो जैसे दर्पणमे सामने रहने वाली चीजका सामने आयी हुई चीजका प्रत्यभिज्ञान हुआ वहाँ, और निश्चयसे यह कहा जायगा कि दर्पणमे स्वच्छताका ऐसा विकार हुआ, अब कहेगे कि स्वच्छताका कैसे विकार हुआ दर्पणमे? तो उसका उत्तर आयगा—परवस्तुका निमित्त लेकर जिसके अनुरूप प्रतिबिम्ब पडा है ऐसे ही आत्मामे घटित करो। आत्मा जानता है, क्या जानता है? अपनेको जानता है। कैसे अपनेको जानता है? जैसे यहाँ बाह्य पदार्थका एक छायाकार ग्रहण हुआ उस तरह जानता है। तो यह बात समझानेके लिए बाह्य पदार्थका नाम लेकर ही समझाया जा सकता है। तो आत्माने जाना, अपनेको जाना आदिक कारक एक शुद्ध व्यवहारसे है, और परमार्थसे ६ कारककी योजना भी नही है। यह तो अपने स्वरूपका एक अभ्युदय है कि जो भी पदार्थ है वह सब यहाँ झलकता है।

(१८३) आत्माकी विविक्तता व एकता निहार कर निर्विकल्प होनेका संदेश—

यह एक वास्तविकता है कि आत्माका अन्य कुछ नही है, तब अन्य द्रव्योका लगाव समझ कर अपने आनन्दधाम आत्मतत्त्वसे छूट जाना आकुलित होना यह महा मूढता है। देखो आत्माका सिवाय ज्ञानके और कुछ नही है। जिस जगह हम आप उत्पन्न हुए हैं या रहते है इस जगहसे कोई सम्बन्ध नही है। जगह-जगहमे है मेरेमे नही है। मै मेरेमे हू और यहां का जो समागम है वह कितने दिनोंका है ? अनादिकालसे काल चला आया है अनन्त काल तक चलेगा उस ही मे जब जो पर्याय होगी उस रूप यह अवस्था बनती है। तो यहा शिक्षा क्या मिली ? भेदविज्ञानकी। भेदविज्ञानको उत्कृष्ट समझानेकी बात चली है कि यह आत्मा परका करेगा क्या ? परसे सम्बन्ध क्या ? यह तो अपनेमे अपने आपकी परिणति करता रहता है यहां इतनी बात समझ लेना कि जो विभाव परिणमन है उसमे निमित्त तो कर्मविपाक है और जो व्यक्त विकार है उसमे विषयभूत परपदार्थका आश्रय है। यो बनता है विकार। हम दु खी कैसे होते है ? यह बात समझना आवश्यक है कि नही ? हम दुःखी किस ढगसे होते है यह बात जिसकी समझमे नही है वह दुःखको कैसे मेट सकेगा ? जैसे दु खी होते हैं उस तरहसे न चलें तो दु ख मिट जायें। दुःख कैसे होते है ? तो भाई उनका वास्तविक निमित्त तो है कर्मोदय उसे तो कोई जानता हो नही और जब जिसकी स्थिति पूरी होती है वे कर्म उदयमे आते हैं, उसे कोई समझता नही, मगर उस ही निमित्तके सन्निधानमे यह जीव जगतके इन बाहरी पदार्थोका आश्रय करके अपनेमे रागद्वेष विकार उत्पन्न करता रहता है। तो आपका पौरुष क्या है ? अगर विकार न चाहिए, सुख दु.ख न चाहिए तो बाहरी पदार्थोका आश्रय छोड दो, अपने आपके स्वरूपका आश्रय ग्रहण करो दुःख सब मिट जायेंगे। सकट सब दूर हो जायेंगे।

••○○○••

(४२)

(१८४) **जीवको अपने अपराधसे ही दुःखका प्रसग**—अब यह तो सामान्य कथन था जो ऊपरके निबधमे बताया। अब यह बतलाते है कि यहां जीव जो भी—दु.खी होना है वह अपने अपराधसे दुःखी होता है। कोई जीव किसी दूसरेके अपराधसे दुःखी नही होता। भले ही उसमे कुछ थोड़ा भेद है। कोई जीव अन्याय करता है और अन्याय नही देखा जा सकता है तो विकल्प जगते हैं, दु.खी होते हैं। उस अन्यायको दूर करने के लिए कुछ प्रयत्न भी करना है सो ठीक है करो प्रयत्न, कर्तव्य है। अगर यही एक कर्तव्य होता तो बडे योगी-जन चाहे कोई दूसरा कितना ही अन्याय करे पर वे तो अपने ध्यानमे रत रहते है। ध्या-

लिनो ने भखा, सिंहनी ने भखा, इतनी बडी बात होने पर भी वे अपने ध्यानसे चिगे नही तो चाहे किसी परिस्थितिमे विकल्प बनते हो, जब कभी कोई जीव दु:खी होता है तो अपने अपराधसे दु:खी होता है। दूसरेके अपराधसे दु:खी नही होता। इसी तरह कोई जीव अप-राध करता है तो अपना करता है। दूसरेका अपराध नही करता। कहते तो है व्यवहारमे मे ऐसा जरूर कि मैंने आपका अपराध किया, आपने मेरा अपराध किया, पर अपराध कोई किसी दूसरेका कर ही नही सकता। क्योंकि अपराध मायने क्या ? अप मायने अपगत दूर हो जाना और राध मायने राधा सिद्धि। सिद्धि जिस भावमे नही है उस भावमे लगे रहनेका नाम अपराध है, जहाँ निज सहज ज्ञान स्वभाव दृष्टिमे नही रहता है वहाँ यह जीव बाह्य पदार्थ विषयक विकल्प बनाता बस वही अपराध है। जो भी दु:खी होता है वह अपने अप-राधसे दु:खी होता है, दूसरेके अपराधसे कोई दु:खी नही होता। हो ही नही सकता।

(१८५) **किसीके द्वारा अन्यकी परिणतिकी अशक्यता**—वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि प्रत्येक वस्तु अपनेमे अपनी परिणति करता है, भले ही उनमे यह बात है कि कोई परि णति परनिमित्त पाकर होती, कोई परिणति अपने आपसे अपने सहज भावसे होती है। तो कोई जीव किसी दूसरेका अपराध करता नही, खुद अपने आपका अपराध कर सकता है। तो जैसे अपराध नही करता वैसे ही कोई भी नही करता। सीताका जीव आर्या बनकर सोलवें स्वर्गमे इन्द्र प्रतीन्द्र हो गया था और उसने अवधिज्ञानसे जब सोचा कि मेरे पूवभवके पति श्र राम जी ऐसे बडे तपश्चरणमे लग रहे हैं कि ये अभी निर्वाण चले जायेंगे, तो सोताका जीव सोचता है कि तो फिर दुनियामे हम अकेले ही रह जायेंगे। यह तो चले जायेंगे मोक्षमे, फिरी तो कोई आशा नही। जैसे यहाँके लोग कोई मर जाय तो उसकी आशा नही रखते, यह तो मर ही गया, उससे भी ज्यादह दो टूक बात यह है कि कोई जीव मुक्त हो जाय तो वह कभी मिलता नही। तो यह सोचकर सीताके जीवने श्री राम चन्द्र जी की तपस्यामे विघ्न डाला जाय और यह अपनी तपस्यासे चलित हो जायें तो यह अभी मोक्ष न जा सकेंगे, फिर हम और यह एक साथ मोक्ष चले जायेंगे। देखो यह भी कोई अपने घरकी बात है क्या ? खैर बुद्धि ऐसी जगी और आ करके पहले रागभावके काम किया, नृत्य किया, गायन किया, उससे भी जब न चिगे श्री राम भगवान मुनि महाराज तो और एक दृश्य दिखाया कि विक्रियाकी ऋद्धि तो होती है देवोमे, रावण सीताके झोटा (केश) पकडकर खीच रहा है, यह सब दृश्य दिखाया उस सीताके जीव प्रतीन्द्रने। कुछ रोने सी लगी, हाय-हाय करने लगी सीता बनकर और श्री रामको चिल्लाने लगी, ऐसा दृश्य देखकर भी राम चन्द्र जी अपने ध्यानसे चलित नही हुए। और देखो कि यहाँ तो इसका मन बहलावा था सीताके जीव प्रतीन्द्रका और मान लो श्री राम

उस समय विचलित हो जाते तो क्या उस समय कोई सीताके हाथकी बात है कि वह समृद्धि शाली रहकर ही मोक्ष जायें ? तो कोई कुछ कर डाले मगर कोई किसी दूसरेका न गुण कर सकता है, न अपराध कर सकता है। जो अपराध करेगा सो खुदका और जो गुण उत्पन्न करेगा सो वह खुदका। यह वास्तविकता दिखाई जा रही है, लोक पद्धतिमे, व्यवहारमे तो जैसे जो काम होता है लोग करते है, गम नही खाते, मगर वस्तु स्वरूप यही है कि किसी भी पदार्थ का कोई दूसरा पदार्थ कुछ कर नही सकता। तब देखो क्यो घरमे कोई विषाद उत्पन्न हो, ईर्ष्या जगे इसने काम कम क्यो किया ? काम इसके जिम्मे छोड रखा, यह तो बागोमे बडी सुन्दर-सुन्दर हवा खानेके लिए है इत्यादि विकल्प व्यर्थ है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपका परिणाम करता है, कोई किसी दूसरे का नही करता।

(१८६) **अभिन्नकारकत्वके परिचयसे प्राप्त शिक्षा**—अभिन्नकारकत्वके परिचयसे शिक्षा क्या लेना कि हम विकल्प करते, अपराध करते और दु खमे रहते, दु खी होते। जो यह जान जाय कि बाह्य मेरा कुछ नही, कषाय मेरी कुछ नही। तो अपने आपमे गुप्त जो एक सहज परमात्मतत्त्व है उसका विकास होगा, प्रकाश होगा, स्मरण होगा। तो यह जीव अपना ही अपराध करता है और अपना ही अपराध करके चारो गतियोमे भ्रमण करता और विकल्प कर करके क्लेश भोगता। मान लो किसीको इष्टवियोग हो गया, पति या पत्नी कोई गुजर गया तो उस समय उसे इतना अधिक विषाद होता कि पडोसी लोग, नाते रिस्तेदार लोग या जो बडे हितैषी लोग हैं वे समझाते है, पर उनको समझानेसे समझ थोडे ही बनती है, उसे धुन है, वही दिखता है, उसकी कल्पना बनती है। और यह जीव खुद विकल्प करके इस चतुर्गतिरूप ससारमे भटकता रहता है। सो कल्पनायें करता और कल्पनाका क्लेश भोगता। तो अब जरा यह तो विचारो कि इस बडे अपराधकी जड क्या है ? जो तरग उठती है मन यह जीव है, उपयोग कही घूमता है, ऐसी तरग और क्षोभ उत्पन्न होनेका इसमे मूल है क्या ? तो वह अपराध है क्या ? अपनी ही कल्पनासे विश्वकी तोड-फोड करता, तोड-फोड कोई कर नही सकता, मगर कल्पनामे सोच लिया यह ही बडा अपराध है। किसी पदार्थसे मिलता, किसीसे द्वेष यह ही तोड फोड है। तो यह जीव अपनी कल्पनामे सारे विश्व को तोड मरोड रहा है। तो जो इतना बडा अपराध करे, सारे विश्वकी तोड फोड कर तो उसको कितना फल भोगना चाहिए ? वह पायगा चतुर्गतिरूप ससारमे भ्रमण। हां तो दु.खी हुए तो क्यो हुए कि परपदार्थोंमे लगाव लगाया, उसमे इष्ट अनिष्ट बुद्धि की, परद्रव्यको ग्रहण किया, ये सब देख लो, इसको चोरी कहोगे कि डकैती ? हम बाहरी पदार्थोंमे जा-जाकर खुश होकर लगन रखकर उसका ही ध्यान रखते है और उसकी चिन्ता पौरुष प्रयत्न करते हैं तो

यह बतलाओ— यह चोरी है कि डकैती ? चोरी भी है डकैती भी, क्योंकि इसने अपनी कल्पनामे परपदार्थकी सीमाकी भीतको तोड दिया। टूटती नही है, मगर इसने तो मान लिया कि मैं इन पदार्थोको कर दूगा। तो जगतके समस्त पदार्थोकी सीमा वृत्तिको तोड देना और उनमे करनेका विकल्प करना यह एक ऐसा अपराध है कि जिसके फलमे इस जीवको इस चतुर्गतिरूप ससारमे भ्रमण करना पडेगा तो इसमे भी क्या किया ? हमने अपनेमे अपनी कल्पना की, यह है एक महान अपराध। इस अपराधकी आलोचना करें, इस अपराधकी आलोचना करें, इस अपराधका प्रायश्चित करें, उस अपराधका परित्याग करें, ऐसा किए बिना आनन्दका धाम जो निज स्वरूप है उस स्वरूपमे प्रवेश नही हो सकता, इसलिए आत्महित चाहिए तो क्या कर्तव्य है कि अपने आपके इस सहज शुद्ध सर्वविशुद्ध अपने आपकी ओर से केवल प्रतिभासमात्र अपने स्वरूपको दृष्टिमे लें, अनुभव करें, मैं तो स्वच्छ ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा अनुभव बढे तो यह ही कहलाती है परमात्मतत्त्वकी सहज उपासना। साराश यह है कि बाह्यपदार्थोकी ममता छोडें, रागद्वेष छोडें और अपने आपमे-अपने सहजस्वरूपका विलास लें, विकास लें यह है करनेका कर्तव्य इस मनुष्यभवमे आकर, सो यह तो करे नही और ममता रागद्वेष इनमे ही अपनेको लिपटाये रहे तो इसमे तो अपने इस अमूल्य जीवनकी बरबादी है।

—०—

(४३)

(१८७) प्रत्येक पदार्थका निज निजमे परिणमन—

जगतमे जो भी कार्य होते है उन कार्योकी विधियाँ समझ लेना। कैसे होते हैं, कहाँ होते है, इन सब विधियोकी समझ लेना एक बहुत बडा ज्ञानप्रकाश है, जिसके बलपर यह जीव खोटी करनीसे हटकर अच्छी करनीमे पहुँचता है। यह जानना है तो इसके लिए प्रथम दो बातें समझियेगा—उपादान और निमित्त। उपादान भी एक स्वतत्र पदार्थ है और निमित्तभूत भी एक स्वतत्र पदार्थ है। किसीका किसीके साथ सम्बध नही है। सब अपने-अपने स्वरूपमे अपना-अपना परिणमन रखते है, पर उपादानमे कला ही स्वयं ऐसी पडी है कि वह यदि अशुद्ध है, अयोग्य उपादान है, अशुद्धताके योग्य उपादान है तो वह अनुकूल परपदार्थका निमित्त पाकर अपनेमें विकार परिणमन कर लेता है। तो ऐसे विकार परिणमनकी बात भी वस्तुमे स्वतत्र पडी है, पर विधि यह है कि परसगका निमित्त पाकर उपादान अपनेमे परिणमन करता है। यह सब मेल, यह सब पद्धति अनादिसे चली आयी है, अनन्त काल

तक रहेगी। तो इस समय यहां यह जानें कि जितने भी पदार्थ हैं वे सब पदार्थ केवल अपना ही काम करते हैं, दूसरेका काम नहीं करते। कैसा ही उपादान निमित्त सम्बंध हो, निमित्त नैमित्तिक भाव हो, होती रहे किसीकी ही कैसी परिणतियां तिसपर भी प्रत्येक पदार्थ अपने आपके परिणमनको ही करता है, कोई दूसरेके परिणमनको नहीं करता। अच्छा कोई किसी दूसरेके परिणमनको करता है ऐसा माननेपर दो बातें मानी जा सकेंगी। एक तो यह मानें कि द्रव्य अपना परिणमन कुछ नहीं करता किन्तु कोई दूसरा इसको परिणतिको कर देता है। दूसरा यह मानें कि पदार्थ अपनी भी परिणति करता और दूसरे पदार्थकी भी परिणति करता, ऐसी ये दोनों बातें सही नहीं है। यदि ऐसा माना जाय कि कोई भी पदार्थ अपनी परिणति नहीं करता, मेरी परिणतिको दूसरा पदार्थ ही कोई करता। तब तो यहां अव्यवस्था बन जायगी। और परिणति भी क्या कहलायगी गुणकी ? दूसरे पदार्थने स्वतंत्र होकर जो किया वह परिणति मेरी कहलायगी या दूसरेकी ? ऐसा कहीं होता नहीं। सत्का लक्षण यह है कि जो स्वयं उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त हो तो यह बात तो बनेगी नहीं कि पदार्थ अपना परिणमन न करे, दूसरा ही कोई परिणमन करने लगे, और दूसरी बात भी सही नहीं रहती कि कोई पदार्थ अपनी भी परिणति करे और दूसरीकी भी परिणति करे, एक पदार्थ दो परिणतियोंको नहीं कर सकता। केवल अपनी-अपनी ही परिणतिको पदार्थ किया करता है और इसी प्रकार दो द्रव्य मिलकर एक परिणतिको नहीं करते, पर दो पदार्थ हुए, और उनकी कोई एक ही परिणति रहे ऐसा भी नहीं। जितने सत् है उतने ही उनमें कार्य हैं। सभी पदार्थ अपना अपना परिणमन करते हैं, यह बात एक तथ्यकी कही।

(१८८) विकारपरिणमनमें परसंगका ही निमित्तत्व—दूसरी बात सुनो—कोई भी पदार्थ विकाररूप परिणमे तो उसके विकाररूप परिणमनमें निमित्त वही खुद नहीं हो सकता। विकाररूप परिणमने वाले पदार्थ खुदके विकार परिणमनमें निमित्त बने एक तो उसका स्वभाव पर्याय कहलायगा, फिर उसके हटानेका कोई पौरुष भी न जगेगा। क्योंकि वह स्वप्रत्ययक काम बन गया, खुद ही उपादान खुद ही निमित्त। जिस पर्यायका बने वह पर्याय तो स्वतंत्र शुद्ध स्वभावरूप कहलायगी। उसमें निमित्त परसंग ही होता है। कोई पदार्थ विकार रूप परिणमे तो उस परिणमनमें परपदार्थका संग निमित्त होता है, ये दो बातें तथ्यकी सामने रखी गई है। पुनः स्मरण कर लो। पहली बात यह है कि प्रत्येक पदार्थ अपना ही परिणमन कर सकता है दूसरेका परिणमन नहीं। दूसरी बात यह है कि कोई पदार्थ विकाररूप परिणमे तो उसमें निमित्त पर-उपाधिका संग होता है। खुद निमित्त नहीं हो सकता। अब इन दो तथ्योंके आधारपर अब क्या समझ बनावें ? जैसे जीवमें रागादिक विकार हुए हैं तो उसमें उपादान तो यह जीव ही है जो रागादिक रूप परिणम रहा है। और निमित्त है राग परि-

णत्तिका उदय ।

(१८६) विकारके स्वामित्वकी समीक्षा—अब यहा यह सोचना है कि जो राग विकार जगा है तो यह राग विकार है किसका ? जैसी दृष्टि बनायेंगे वैसा उत्तर मिलेगा । रागादिक विकार चूंकि जीवका परिणमन है, यह विकार परिणमन उपादानकी परिणति है इस कारण यह कहा कि विकार उपादानका है जो जिस रूप परिणमा है वह परिणमन उसका विकार है । तो इस दृष्टिमे एक द्रव्यको देखा उसकी परिणति है, इस कारणसे यह निर्णय किया कि विकार परिणमन उपादानका है । अब दूसरे तथ्यकी दृष्टि कीजिए उपादानमे यह विकार परिणमन किया । अपने आपके स्वभावसे ही हो गया । नही, उसमे परसग निमित्त है और यह दृढताके साथ कह सकते है कि परसग बिना विकार नही हुआ करते । होता है खुदमे उपादान, लेकिन परसग बिना विकार हो ही नही सकता । जैसे रोज-रोज देखते हैं दर्पणमे बाहरी पदार्थका प्रतिबिम्ब आया, वह प्रतिबिम्ब रूप परिणमन दर्पणका है । लेकिन प्रत्यक्षरूप परिणमन बाहरी पदार्थका सन्निधान पाये बिना तो नही होता । एक भी उदाहरण न दे सकेंगे कि बाहरी पदार्थका सन्निधान न हो और यह उस अनुरूप प्रतिबिम्ब बना । एक भी बात नही दिखा सकते । सो दूसरा तथ्य भी मानकर कुछ बात बताना होगा । निमित्त सन्निधान बिना विकार नही होता । इस दृष्टिसे जब देखते हैं तो चूंकि निमित्त बिना नही हुआ, अतएव वह विकारपरिणमन निमित्तका है । दोनो प्रयोग सही है, और दोनो प्रयोगोसे दोनो प्रकारकी शिक्षा मिलती है । निमित्तका है यह विकार । इस विकारको निमित्तके खाते मे पहुचावो । मै तो विकारमे रहित शुद्ध चैतन्य हू ऐसी दृष्टि जगती है । अच्छा अब तीसरी दृष्टि देखिये—निमित्त बिना विकार नही हुआ और उपादान बिना परिणति नही हुई, तब यह निर्णय बनेगा कि दोनोकी वजहसे यह विकार बना । विकार उपादानके ढगसे बनना और निमित्त सन्निधान बिना बन ही नही सकता है । तो यह विकार दोनोका है । तीन बातें समझें । जैसे कोई बालकके बारेमे बात कहे कि यह बच्चा किसका ? तो गर्भमे आये बिना तो बच्चा बनता नही इसलिए माताका है और पुरुषसग बिना बच्चा बनता नही इसलिए पुरुषका है तो कह देना कि दोनोकी वजहसे होता तो दोनोका है । प्रतिबिम्बमे लगाओ । दर्पणमे लाल कपडेका प्रतिबिम्ब आया प्रतिबिम्ब परिणमन दर्पणका है इसलिए प्रतिबिम्ब दर्पणका है । यह प्रतिबिम्ब निमित्त सन्निधान बिना हो नही सकता इसलिए कपडेका है, और दोनो ही बातें बन रही है इसलिए दोनोका, इसलिए विकारके सम्बधमे ये तीन उत्तर आये । ये विधिरूप तीन बातें बतायी, अब जरा निषेध रूपसे निर्णय बनायें । विकार परिणमन उपादानका स्वभाव नही । जैसे दर्पणमे नाना प्रतिबिम्ब होना दर्पणका स्वभाव नही । तो यो

प्रतिबिम्ब दर्पणका नही, ऐसे ही रागादिक विकार जीवके स्वभाव नही, अतएव विकार जीव के नही । अच्छा अब दूसरे निषेधकी ओर चलो । विकार निमित्त पाकर तो हुए पर निमित्त की परिणति तो नही । निमित्त तो अलग अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमे बना हुआ है । तो निमित्तका परिणति न होनेसे वह निमित्तका भी नही । अब तीसरी बात भी देखिये—दोनो का एक परिणमन हो नही सकता । दो द्रव्य एक परिणतिको कर नही सकते, इस कारण विकार दोनोका नही ।

(१९०) **शुद्धनयकी दृष्टिमें विकारका अभाव**—अच्छा अब जरा एक दृष्टिसे भिन्न ही निराली बात समझिये । शुद्धनयकी दृष्टिमे विकार ही नही । झगडा किस बातका बनता शुद्धनय देखता है वस्तुको सहज स्वभावमय वह भेदकी दृष्टि नही करता है । तो शुद्धनयकी दृष्टिमे विकार ही नही । देखो इन सब दृष्टियोमे विचारने पर सब वस्तु तथ्य विदित हो जाता है । ऐसा सब जानकर इन सब वर्णनोसे क्या शिक्षा लेनी चाहिए ? सभी को यह शिक्षा मिलती है कि अपने आपका जो निरञ्जन विविक्त आनन्दधाम जो अतस्तत्त्व है उसकी आराधना करें । यह बात निरन्तर अपनेमे बनावें और इस जगतके संकटोसे पार हो जावें । कर्मोदयवश परिस्थिति है । परिस्थिति भी सही और उसके साथ-साथ अपने अन्दरमे अविकार ज्ञानस्वरूपकी आराधना बनावें, जीवन निष्फल न गमायें, आत्मस्वरूपकी आराधनाके बिना जीवन निष्फल जाता है । तो देखो जब यह समझा कि विकार उपादानका नही है तब दृष्टिमे क्या आया ? आत्मस्वभाव । यह है उपादानकी शाश्वत चीज । जब यह जाना कि विकार निमित्तका नही, तो लो उपादानका भी नही, निमित्तका नही, ऐसा फाल्तू हो गया यह विकार । जैसे किसी सडक पर कोई लडका बार बार यहाँ वहाँ फिरता है तो रिक्शा तागा वाले उसे देखकर कह बैठत हैं ना क्या तू फाल्तू लडका है ? बस ऐसे ही ये विकार फाल्तू हैं । वह सब हैरानी मचानेके लिए है । इसमे किसका लाभ ? उपादानका या निमित्तका ? अरे किसीका न बताओ जमकर रहे उसका बताओ । विकार उपादानमे जमकर रहते नही । ये निमित्तमे पाये जाते नही और निमित्तमे जो निमित्तका विकार जगता है वह भी निमित्त हो जायगा मगर रहता नही । तो जो जमकर न रहे, जो विद्युतवत् चचल है, जिससे मेरेको कुछ लाभ नही उसके आग्रहमे यह मानव जीवन क्यो खोया जाय ? दोनोका विकार नही और शुद्धनयकी दृष्टिमे विकार है ही नही, ऐसा निरञ्जन विविक्त आनन्दधाम अखण्ड चित्प्रतिभासको निरखना है ।

••••○●○••••

(४४)

(१६१) वस्तुस्वातन्त्र्य और निमित्तनैमित्तिक भावमे एकत्र अविरोध—अब तकके कुछ कथनोंमे, दोनो बातोंपर बहुत प्रकाश आया है कि वस्तुस्वातन्त्र्य भी है और निमित्त नैमित्तिक भाव भी है। अब इन दोनोंको जब समझा तो किसीको भी यदि यह शका हो कि दोनोका विषय कुछ जुदा जुदासा है, वस्तु स्वातंत्र्यमे वस्तुकी स्वतन्त्रता है, निमित्तनैमित्तिक भावमे एक दूसरेका सम्बन्ध है, ऐसी दो बाते एक जगह कह रहे हैं जिस किसी भी भाईको शका हो वह विवेकसे विचार कर समाधान कर ले। यह प्रसंग है विकारका, स्वभाव पर्यायमे तो निमित्तनैमित्तिक की चर्चा ही नही है। है एक कालद्रव्य निमित्त और सर्व-साधारण कही निमित्त पडा कहो न पडा, ऐसी निमित्तकी ही चर्चा की जाती है। और जो साधारण निमित्त है सर्वत्र कालद्रव्य है ही निमित्त परिणमनमे, जब वहां व्यतिरेककी गुजाइश नही तो उसको निमित्त मानकर वर्णन करनेकी पद्धति गौण हो जाती है। यह चल रहा है विकार भावका प्रसग। विकार भाव हो तो वहा विकार रूप परिणमने वाला पदार्थ खुद परिणमता है। यह तो है वस्तुस्वातन्त्र्य, और परसग बिना, निमित्त सन्निधान बिना फल परिणमता नही है। यह है निमित्तनैमित्तिक योग। तो ये दोनो बातें एक घटनामें अविरोध रूपसे चल रही है। जीव विकारके प्रसगमे उपादान और निमित्त क्या याने जिसमें काम हो सो उपादान और जिनके सन्निधान बिना काम न हो सो निमित्त तो हम आपके जो सुख दुःख रागद्वेषादिक उत्पन्न होते रहते हैं उसमे निमित्त है पुद्गलकर्म याने पुद्गलकर्म मे जो कर्मत्वपरिणमन हुआ, कर्मका विपाक हुआ, तो यह कर्मविपाक है विकारका निमित्त।

(१६२) कर्मकी अवस्थाओंका कर्ममे व्याप्यव्यापकभाव—देखो कर्मविपाक किसका परिणमन है ? कर्मका। कर्मोदयका उपादान कर्म है और ऐसी कर्मकी जो दशा बनी बंध उदय उपशम आदिक वे सब दशायें पुद्गल कर्मकी हैं। तो कर्मकी दशाओंका व्याप्य व्यापक भाव कर्ममे है। जैसे अंगुलीकी किसी भी चीजका व्याप्य व्यापक अगुलीमे है, अंगुली अगर टेढी सीधी हुई तो अगुलीमे ही तो हुई, अगुलीमे कोई रूप रस आदि बदल बने तो अगुलीमे ही बनती। तो प्रत्येक द्रव्यकी पर्यायका व्याप्य व्यापक सम्बध उसी द्रव्यमे है। तो कर्मकी भी जितनी दशायें होती हैं उनका व्याप्य व्यापक सम्बध कर्ममे है। तो अब कर्मविपाकमे उस विकारका निमित्त है और कर्मविपाककी विशेषतायें प्रथम तो चार हैं मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। और इनका विस्तार करें तो तेरह हैं। मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर सयोग केवली गुणस्थान तक। देखो जब विकारकी बात, कर्मविपाककी बात चल रही है तब उस समयमे विकासकी ओर दृष्टि न देना, किन्तु जहां जो कमी रह गई उस कमीको बताना वह वह है नैमित्तिक।

जैसे अरहत अवस्था है वहाँ अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्दका विकास है, सो तो भला है, प्रभुता है और यह ही आराधनाके योग्य है। पर यह आत्मा निर्लेप क्यो नहीं है? अभी शरीरके बन्धनमे है और इसमे अव्याबाध अवगाहना आदिक गुण अभी प्रकट नही हुए। इतनी कुछ कमी है ना? तो उस कमीका कारण है कर्मविपाक, घातिया कर्म का उदय वहाँ भी है देखो तत्त्व निर्णयकी बात। भगवानकी भक्तिके समयमे यह बात नही कही जाती कि हे भगवान तुम्हारे अघातिया कर्मोंका उदय है, तुम शरीरके बन्धनमे अभी पडे हो, ऐसा तो कोई नही कहता। यह तो एक निर्णयकी बात कह रहे हैं, प्रभुकी भक्तिमे यह कुछ न देखना चाहिए। वहाँ तो घातिया कर्मोंके विनाशसे होने वाला विकास बस यह ही इस धुनमे समाया रहता है। हाँ तो कर्मविपाकके विशेष हुए तेरह गुणस्थान मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। इन सबका व्याप्य व्यापक भाव है, पुद्गल द्रव्यकर्मके साथ। कर्मकी बात समझ ली।

(१८३) जीवकी अवस्थाओंका जीवमे व्याप्यव्यापक भाव—अब जीवकी बात समझिये। जीव द्रव्यकी जितनी भी अवस्थायें होती है वे जीवमे होंगी कि अजीवमे? आपका जो सुख दुःख होगा वह आपमे ही व्यापकर रहेगा कि मेरेमे उचट कर आयगा। भले ही हम आप के प्रति अनुराग रखते है तो आपके दुःखको देखकर हम भी दुःखी हो जायें फिर भी हम जो दुःखी हुए हैं तो हम अपने अलग दुःखमे व्यापकर हुए, और आप जहाँ दुःखी हो रहे है तो आप अपने ही दुःखमे व्यापकर दुःखी हो रहे है सब जीवोकी यही बात है, तो अब देखिये कि जीवका जो स्वाभाविक विकास है वह तो जीवमे व्यापता है, इसमे कोई दो राय नही रख सकता। अब चलो विकारभावमे कर्मविपाक और कर्मविपाकका भेद बनाकर बताये गए चार प्रत्यय—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, और उनके ही भेद बनाकर बताये गए तेरह विशेष प्रत्यय याने प्रथम तेरह गुणस्थान। इसको अभी कर्म की दशा रूप देखना। जीवकी बात नही कह रहे, याने जिस कर्मविपाकका निमित्त पाकर ये तेरह दशायें बनी उस कर्मविपाककी ओर दृष्टि दिला रहे है। यह तो कहलाता है सब निमित्त और इस निमित्तका सन्निधान होनेपर इसके अनुरूप होने वाले जो जीवमे आभास है, जीवमे परिणमन है, ज्ञान विकल्प है, इस विकल्पका व्याप्य व्यापक भाव जीवके साथ है।

(१८४) जीवदशा व कर्मदशाका स्वय स्वयमे व्याप्यव्यापक भाव होनेपर भी परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावका दिग्दर्शन—बात सीधी यो कही गई कि कर्मकी जितनी पर्यायें होती है उनका व्याप्यव्यापक भाव है कर्मके साथ और जीवकी जितनी परिणतियाँ होती हैं उनका व्याप्यव्यापक भाव है जीवके साथ। अब हुए ना दोनो, इतनेपर भी इन सबमे परस्पर

निमित्तनैमित्तिक भाव है। कर्मस्वरूप विकार कर्ममे होता तो जीवभावका निमित्त पाकर होता, विकार जीवमे होता तो कर्मविपाकका निमित्त पाकर होता, कर्म संवृत व निर्जीर्ण होता सो जीवभावका निमित्त पाकर, जीव शुद्ध होता तो कर्म क्षयका निमित्त पाकर। इतने पर भी वस्तुस्वातन्त्र्य कैसा अनूठा है कि कोई सम्पर्कमे भी प्रत्येक पदार्थका व्याप्यव्यापक भाव उस ही पदार्थकी परिणतिके साथ है, अन्यके साथ नही है। इस प्रकार देखेंगे कि विकारकी घटनामें वस्तुस्वातन्त्र्य और निमित्तनैमित्तिक भाव दोनो अविरुद्ध रूपसे रह रहे हैं, इनमे से एकका अपलाप करें तो विकारकी निष्पत्ति नही बन सकती। जैसे कोई कहे कि वस्तुस्वातन्त्र्य है ही नही। वस्तु क्या करे, निमित्त परिणति करता है, निमित्त उसपर हावी होता है, तो वस्तुस्वातन्त्र्य नही माना तब फिर बात ही क्या रही? उपादान ही नही तो फिर बात कहा जायगी? किसको दुःखी होना, किसको मुक्तिका उपाय चाहिए। कुछ बात ही नही जम सकती, कुछ चर्चा ही अब नहीं चल सकती। और कोई कहे कि निमित्तनैमित्तिक भाव नही, जीव ही स्वय अपनी योग्यतासे उस उस पर्यायरूप परिणमता रहता है, इस निमित्तसन्निधान की कोई बात ही नही है। तो देखो निमित्तसन्निधान बिना ये विकार होने लगें तब तो जीव के साथ विकारका पुछल्ला ही लग गया। अब उसकी निवृत्तिका क्या अवसर? अब तो होता चला जायगा। कोई कहे कि योग्यता नही है तो यह सब बात कैसे बनती? कभी यह योग्यता विकारकी रहती है और कभी नही रहती। योग्यता पर्याययोग्यताका नाम है, शक्तिका नाम नही। शक्ति द्रव्यमे होती, योग्यता पर्यायमे रहती। तो देखो वस्तुस्वातन्त्र्य और निमित्त नैमित्तिक भाव दोनोका सही-सही परिचय बनावें तो उससे लाभ क्या होगा कि अपने निर्लेप निरञ्जन सहज शुद्ध चैतन्यस्वभावके दर्शन करनेकी उमग जगेगी।

(४५)

(१९५) **व्यवहारचारित्रकी हेयता व उपादेयता विषयक चार प्रश्न**—यहां चार बातोपर प्रकाश डाला गया है। व्यवहारचारित्र हेय है या उपादेय है या कब हेय है और कब उपादेय है? व्यवहार चारित्रका अर्थ है जो निश्चय चारित्रके प्रयोजनसे चारित्रके अनुरूप मन, वचन, कायकी चेष्टायें होती है उनका नाम है व्यवहार चारित्र, और आत्मा आत्मस्वरूप मे लीन हो जाय उसका नाम है निश्चय चारित्र। तो संसारमे परिस्थितियां जीवोकी ऐसी हैं कि यह जीव अपने स्वरूपको प्रथम तो जानता ही नही। जान जाय तो उसकी धुन बनती नही। धुन भी बने तो उसमे लीन होते बनता नही। जब आत्मस्वरूपमे लीन हो सके तो

इसकी इष्ट सिद्धि कहलायगी, सर्वसिद्धि कहलायगी। अब लीन हो सकते नही, धुन बन पाती नही, ऐसी स्थितिमें यह जीव क्या करता है ? परिणति तो कुछ होगी ही। अगर व्यवहार चारित्रकी परिणति है, सयमरूप प्रवर्तन है तो यह पापसे बचेगा, कुगतियोसे बचेगा और यह परिणति भी न रहे तो पापमे लगेगा, असंयममें वर्तेगा। तो जहा आत्मस्वरूपमे मग्नता नही वहा यह जीव क्या करे ? जो करना पड़ता है उस ही का नाम व्यवहार चारित्र है। तो व्यवहार चारित्र जैसे ५ महाव्रत, ५ समिति, तीन गुप्तिका पालन करना, श्रावकोके बारह व्रतोका पालन करना यह सब व्यवहारचारित्र कहलाता है। सो देखो व्यवहार चारित्र यद्यपि प्राक् पदवीमे है, किन्तु उसके प्रति थोडी बहुत आस्था हो तब तो वह पा लेगा। मगर व्यवहार चारित्रके प्रति बिल्कुल आस्था ही नही हो और उन्हे घृणाकी दृष्टिसे देखें तो वह व्यवहार चारित्रको कैसे कर पायगा ? और आप जानते हैं कि व्यवहार चारित्रमे गुजरे बिना प्रभुताकी प्राप्ति नही होती। व्यवहार चारित्र छूटने पर प्रभुता मिली, पर साथ ही यह भी बात है कि व्यवहार चारित्रमे गुजरे बिना वह छूट न हो सकी जिसके छूटनेसे प्रभुता मिलती है। इसको सक्षेपमे कहो तो इन शब्दोमे कह लो कि व्यवहारचारित्र प्राप्त हुए बिना मुक्ति नही और व्यवहारचारित्र छोडे बिना मुक्ति नही। तो इस व्यवहारचारित्रकी बात कही ज रही है कि यह हेय है अथवा उपादेय ? इस प्रश्नके साथ ही दो प्रश्न और जुड़े है—हेय है तो कब हेय है, उपादेय है तो कब उपादेय है।

(१९६) व्यवहारचारित्रकी तीन भूमिकायें— बात पूछी जा रही है किसकी ? व्यवहारचारित्रकी। व्यवहारचारित्रका अर्थ है—शुभ प्रवृत्ति, अशुभमे निवृत्त होना, शुभमे प्रवृत्त होना इसे कहते है चारित्र। तो इस प्रश्नका उत्तर समझनेके लिए पहले यह बात समझें कि व्यवहारचारित्रकी भूमिकायें तीन प्रकारकी है जिन प्रकारोमे गत व्यवहारचारित्रको नजर रखकर इस समस्याका समाधान किया जा सकता। वे तीन भूमिकायें क्या हैं ? पहला—व्यवहारचारित्र, तो यह जो सम्यक्त्वसे पहले होता है। सम्यक्त्वसे पहले होने वाली शुभ प्रवृत्तिका नाम भी व्यवहारचारित्र है। उनका स्वरूप निराला है, उनका प्रभाव निराला है ये सब बाते आगे आयेंगी और दूसरे व्यवहारचारित्रकी बात है सम्यक्त्वके साथ होने वाला व्यवहारचारित्र। इस जीवके सम्यक्त्व है और उसके शुभ प्रवृत्ति होती है तो वह है सम्यक्त्व के साथ होने वाला व्यवहारचारित्र। और तीसरा है—सम्यक्त्व मिटने पर होने वाला व्यवहारचारित्र। देखो मुनि महाराज होते ना उनमे गुणस्थानोका परिवर्तन कैसे जल्दी जल्दी होता कि कहो आधा-आधा मिनटमे, अभी सम्यक्त्व है, अब सम्यक्त्व न रहा, क्षयोपशम सम्यक्त्व है। छूट गया तो क्या आधा ही आधा मिनटमे उन योगियोकी मन, वचन, कायकी प्रवृ

वैसा नादान जैसी हो जाती है ? उनका संस्कार है, उनका विवेक है, बुद्धि है, भीतर भले ही सम्यक्त्व, मिथ्यात्व परिवर्तित हो रहे हैं, लेकिन बाहरमे जो प्रवृत्ति है वह एकदम विरुद्ध नही बन पाती। जैसे मन, वचन, कायकी चेष्टायें सम्यक्त्वमे भी वैसी ही सम्यक्त्व न रहने पर भी है और थोडी देर बाद फिर सम्यक्त्व हो जायगा। परिणामोकी भीतरी गति विचित्र होती है तो इतनी ही जल्दी कही अज्ञानी जनो जैसी व्यसनी और पापी जनो जैसी प्रवृत्ति तो नही बन जाती। तो तीन प्रकारसे व्यवहारचारित्रके विषयमे जानकारी करनी है। ये तीन पद्धतियाँ क्या क्या ? सम्यक्त्वसे पहले होने वाला व्यवहार, दूसरा — सम्यक्त्वके साथ होने वाला व्यवहार, तीसरा— जो सम्यक्त्व नष्ट हो सकता है उसके नष्ट होनेपर होने वाला व्यवहार। ये तीन प्रकारकी व्यवहारकी बातें यहाँ समझना है।

(१९७) सम्यक्त्वप्राग्जात व्यवहारका दिग्दर्शन—पहला व्यवहार चारित्र मिथ्यादृष्टि के हैं, जिसके सम्यक्त्व नही है वह जीव मिथ्यादृष्टि है, लेकिन वह विवेकी है, सम्यक्त्वके लिए उत्साहित है, उद्यमी है, ऐसी योग्य स्थितिमे उसके मद कषाय होती है। तो है तो वह एक शुभ प्रवृत्तिकी बात मगर सम्यक्त्व न होनेसे वह मिथ्यादृष्टिका व्यवहार चारित्र कहलाता है। अब यही देख लो जो कोई व्रत सयम पालन करता है उस पुरुषमें कुछ यह परीक्षा करे, यह ज्यादह दिग्दर्शन करें कि इसके सम्यक्त्व है कि नही, अगर सम्यक्त्व हो तो हम इनके आगे बैठें, नम्र बनें, नमस्कार करें और सम्यक्त्व न हो तो इनसे क्या मतलब ? पीठ फेरकर चलना, ऐसी निगाह नही होती व्यवहारमे। व्यवहारमे है एक बाह्यभेष, बाह्य बात, बाह्य प्रवृत्ति ही निरखने मे आती है। यदि ऐसी भीतरी दृष्टि बनायी जाय तो तीर्थप्रवृत्ति नही चल सकती, फिर तो स्वच्छन्दता बनेगी। कोई एक लैन न रहेगी, कोई परम्परा नही रहती तो बाहरी द्रव्यलिङ्गकी प्रवृत्ति ही निरखी जाती है एक व्यवहार बनानेमे। भीतरमे इसका भावलिङ्ग है या नही, सम्यक्त्व है या नही है, इस बातकी मुख्यता नही होनी और कभी आचार्य सतोने कहा कि भुक्तिमात्र प्रदानेतु, केवल एक आहारदान करनेमे या व्यवहार करने मे उसकी भीतरकी सम्यक्त्वकी क्या परीक्षा करना. वहाँ ऐसा निर्णय नही करना है। यही बात मोक्षमार्ग प्रकाशकमे भी पं० टोडर मल जी ने लिखा है और जहाँ तत्त्वनिर्णयकी बात है वहाँ तत्त्व निर्णयकी बात करें, व्यवहारमे व्यवहारकी बात करें तो उस व्यवहार चारित्र की बात कह रहे हैं कि जिसके सम्यक्त्व तो नही है, पर प्रवृत्ति निर्बाध है, मद कषायरूप है। व्रत तप उपवासमे लगता है वह सब भी व्यवहार चारित्र है।

(१९८) सम्यक्त्वप्राग्जात व्यवहारकी उपयोगिता—एक बार ऐसी चर्चा हुई कि परलोक है कि नही है। याने मरकर इसके आगे कोई दुनिया है या नही ? तो एकने कहा

कि है परलोक और एकने कहा कि नही है, आखिरमे एक बात आयी कि यह तो बतलावो कि इस भवमे कोई जीव कुछ सुख साताससे रहता तो कैसे रहता क्रोध, मान, माया, लोभ न करें, दूसरोमे आस्था करें, जो उत्तम प्रवृत्तियाँ हैं करें, पापसे दूर रहे, व्यसनोमे न फंसे, ऐसी प्रवृत्ति कोई रखेगा वही तो इस जीवनमे सुखी हो सकता है। तो करते ही हैं लोग, और करना चाहिए, और ऐसा करते हुएमे यदि परलोक ही होता हो तो उसको फायदा है कि नही। परलोकमे भी अच्छा संस्कार लेकर जायगा। तो ऐसे ही यह समझिये कि पापसे दूर होना, व्यसनोसे दूर होना यह ही तो है व्यवहार चारित्र। अच्छे आचरणमे रहना, कषायें मंद रखना यह ही तो है व्यवहारचारित्र। अच्छे आचरणमे रहना, कषायें मंद रखना, यह ही तो है व्यवहारचारित्र। अगर सम्यक्त्व न हो और यह बात हेरते रहे कि सम्यक्त्व हो तो हम अपनी कषायें मंद करें नही तो फायदा क्या ? सम्यक्त्व हो तब हम भगवानकी भक्ति करें नही तो फायदा क्या, क्योंकि सम्यक्त्व बिना भक्ति करे या व्रत करे, तपश्चरण करें तो वह बेकार चीज है ऐसी बात हरें और ऐसा मनसे सोचें तो क्या, यह स्वच्छताका भाव है, यह धर्मपरिपाटीका भाव नही। व्यवहारचारित्र सम्यक्त्व आदिके लाभके प्रयोजनसे किया जाता है। तो देखो जैसे लोक परलोकका एक दृष्टान्त दिया इसी तरह व्यवहारचारित्रकी भी बात समझलो। नही है सम्यक्त्व, मिथ्यात्व है और मद कषाय करें, कोई पापसे अलग हटे कोई व्यसनोसे दूर रहे तो इस लोकमे भी अशुभसे बचा और परलोक मिलेगा सो उत्तम तो मिलेगा, सुगति तो होगी, जो कमी रह गई सम्यक्त्वके धर्मके प्रसगमे उसकी वहाँ सम्भावना तो है और कोई तीव्र राग रखे, पापमें लीन रहे, आर्त रौद्रध्यान बनाये रहे, मोह करे और हो गए पेड पौधे, रहे मिथ्यात्वमे और सम्यक्त्व न हुआ तो फिर बताओ वहाँ क्या करोगे ? इसलिए सम्यक्त्वके लिए उद्यम करें, वह तो है एक उत्सर्ग मार्ग। तत्त्वज्ञान बनावें, आत्मध्यान बनावें। सहज आत्मस्वरूपकी दृष्टि बनावे, इससे पीछे न हटें। इसके बिना मोक्षमार्ग न मिलेगा। निश्चय सम्यक्त्व, निश्चयज्ञान, निश्चयचारित्र बिना मुक्ति नही मिलती, लेकिन इस ही की बात सोचते रहे कि ऐसा भाव हो तब ही सदाचार करेंगे तो उसकी स्थिति क्या होगी, इसलिए व्यवहारचारित्र जिनके होता है उनके सम्यक्त्व भी नहीं हो तो भी पापकी उपेक्षासे तो फायदेकी ही बात है इसलिए उससे हटना नही, उसमे रहकर उद्यम करें आत्मदर्शनका, आत्मज्ञानका, आत्मानुभवका। यह और बनाओ उद्यम, तो ऐसी ही स्थितिमे वह पहली बात बतायी जायगी कि मिथ्यादृष्टिके व्यवहारचारित्र होता है तो उसके सम्बन्धमे ये चार समस्यायें आयेंगी। उत्तर होगा कि क्या वह हेय है, क्या वह उपादेय है, वह कब तक हेय है, कब तक उपादेय है ? इसका वर्णन अगले निबंधमे आवगा। अभी तो इन तीन प्रकार

की बातोकी एक प्रस्तावना समझायी। तो जो सम्यक्त्वप्राग्जात व्यवहारचारित्र हैं वे बाह्य प्रवृत्तियोकी समानता होनेसे उपचरित है। वह यथार्थ चारित्र तो नही है। जो अज्ञानीके व्यवहारचारित्र हैं वे यथार्थ न होनेपर भी उपचरित हैं और उससे भी किसी अंशमे लाभ है तो ऐसा उपचरित व्यवहारचारित्र है प्रथम भूमिकाका।

(१९९) सम्यक्त्वसहभावी व सम्यक्त्वविलपजात व्यवहारचारित्रकी भूमिका—दूसरा व्यवहारचारित्र बतलाया था क्या? सम्यक्त्व सहभावी, सम्यक्त्वके साथ होने वाला व्यवहार चारित्र। सम्यक्त्वका अर्थ है समीचीनता, स्वच्छता याने आत्मामे विपरीत अभिप्राय न रहे और एक स्वच्छ आशय बन जाय उसे कहते हैं समीचीनता। तो जो व्यवहार चारित्र जो सम्यक्त्वके साथ रहता है उसके सम्बधमे चार प्रश्नोका समाधान होगा कि वह हेय है या उपादेय है, या कब तक हेय है, कब तक उपादेय है। तीसरा व्यवहार चारित्र बताया गया जो सम्यक्त्व नष्ट होनेपर होता। यह अधिक विलम्बके बादकी बात नही कह रहे कि सम्य-क्त्व नष्ट हुआ हो दस हजार वर्ष पहले और बादकी बात कह रहे हो। क्षायिक सम्यक्त्व तो सदा रहता है, शेष सम्यक्त्वका और मिथ्यात्वका तो कुछ पता नही क्षण-क्षणमे परिवर्तन होता है मगर उस योगीकी मुद्रा प्रवृत्ति वचन सब योग्य बनती है, सही बनती है, ऐसा नही है कि व्याख्यान दे रहा कोई योगी और आधा मिनटमे ही सम्यक्त्व न रहे तो वह कोई व्य-सनी पापी जीवो जैसा बोलने लगे, ऐसा तो नही हो सकता है। तो सम्यक्त्वके नष्ट होते ही शीघ्र ही तुरत बाद ही जो चारित्र चल रहा है उस व्यवहारचारित्रके सम्बधमे भी चार प्रश्न उठेंगे कि वह हेय है या उपादेय है या कब-कब हेय है, कब कब उपादेय है, तो ऐसा जो यह तृतीय व्यवहार चारित्र है यह है सस्कार रूप। वह तो आता ही है। जो आता ही है। जो अपनी बाह्य निर्ग्रन्थ मुद्रामे अपना तपश्चरण कर रहा, कभी सम्यक्त्व है, कभी नही है। ऐसा होनेपर भी जिस काल सम्यक्त्व नही है उस कालमे भी जो उसकी प्रवृत्ति है शुभ प्रवृत्ति है वह व्यवहारचारित्र है। सस्कारवश आपतित है, होता ही है इस तरह तीन प्रकारके व्यवहार चारित्रके सम्बधमे प्रश्न होगे। उनके उत्तर भिन्न-भिन्न आयेंगे।

•••○○•••

(४६)

(२००) सम्यक्त्वप्राग्जातव्यवहारकी उपयोगिताका दिग्दर्शन—सम्यक्त्वसे पहले होने वाले व्यवहारचारित्रके बारेमे उत्तर लीजिए, वह हेय है या उपादेय? या कब हेय है व कब उपादेय? तो पहले यह समझिये कि ऐसे व्यवहारचारित्रका मालिक कौन? मिथ्यादृष्टि

जीव। तो ऐसे व्यवहारचारित्रका आरम्भ करने वाले मिथ्यादृष्टि जीवको आवश्यकता क्या थी जो ऐसा शुभ प्रवृत्तिरूप व्यवहारचारित्र पाल रहा है। आवश्यकता तो है। कमसे कम इतनी बात तो मिले कि अशुभोपयोगसे बच जाय, पापोसे, व्यसनोसे, क्रूरतावोसे बच जाय। इसके लिए भगवानकी भक्ति, भगवानकी पूजा ये सब करना है। कौन? यह बोल रहे है मिथ्यादृष्टिकी बात। जिसके विवेक जगा है, कुछ उमग जगी है, कुछ सुन्दर भाव रहते है और नही है सम्यक्त्व, ऐसा जीव जो प्रभुभक्ति करे, तपश्चरण आदिक करे वह व्यवहारचारित्र कहलाता है। तो इस चारित्रमे रहकर इतना लाभ तो स्पष्ट नजर आता है कि वह पापसे बचा, व्यसनोंसे बचा। तो अशुभोपयोगसे बचनेके लिए और पापके क्षोभसे बचनेके लिए तीव्र कषाय के सतापसे बचनेके लिए यह व्यवहार चारित्र होना सो उनको यह व्यवहारचारित्र उपादेय है। कितना उपादेय है कि पापसे बचें, अशुभोपयोगसे बचें, इस दृष्टिमे यह व्यवहारचारित्र उपादेय है जिसका फल यह मिलता है कि नरक आदिक दुर्गतियोके कारणभूत पापसे बच जाता है महापाप इसके नही बँधता, नरक आदि खोटी गतिमे जन्म लेनेकी नौबत इसके नही आती और उससे लाभ क्या है कि तीव्र सक्लेशसे असातासे यह दूर हो जाता है। तो सब लोग देखते ही है, जो प्रभुभक्तिमे लगे, जो पुरुष तप सयममे लगे उसके अनेक सताप बच सकते है, दूर हो जाते है। और उस समय एक बहुत सुन्दर वातावरणमे रहनेका मौका मिलता है। साधु संतोका समागम मिलता है। प्रभुदर्शन प्राप्त होता है सच्चा उपदेशका अवसर भी मिलता है। एक जैसे मोटी बात भी समझ लो कि जो कभी मन्दिर भी नही आते, उनको अधिक त्यागी व्रती सतोका सग नही मिलता तो उनको अवसर मिलना कितना कठिन है, और जिनको सत समागम मिलता रहता है उनको अपने आत्मोद्धारका अवसर पाना सुगम है। और उस समय सम्यक्त्वका लाभ पा सकते है। और फिर सम्यक्त्वका लाभ मिलनेपर व्यवहारचारित्र जो बसेगा उसका यथार्थ चरित्र बन जायगा। तो देखो किन्ही अशोमे लाभ है ना व्यवहार सयम रखने से। यह पहली बात है।

(२०१) **सम्यक्त्वप्राग्जात व्यवहारचारित्रकी उपादेयताकी अवधि**––अब दूसरी बात समझो कि यह व्यवहारचारित्र उपादेय है याने जो प्राप्त करने योग्य है सो कब तक पालने योग्य है? क्या सदाके लिए? इसका समाधान तो साधारण शब्दोमे समझा, जहाँ पुजारी भगवानकी पूजा कर चुकता है और अन्तमे जब विदाई लेता है तो वह स्तवन करता है—'तव पादौ मम हृदये, मम हृदय तव पदद्वयलीन। तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाण सम्प्राप्ति॥" याने हे प्रभो! जब तक मेरेको निर्वाणको प्राप्ति न हो तब तक तुम्हारे चरण मेरे हृदयमे रहे, मेरा हृदय आपके चरणोमे रहे। आप सोचेंगे कि भगवानको भक्तिने, और ऐसी

अवधि बता दी तो इसके मायने है खुदगर्जी। जब तक मुझे मोक्ष न मिले तब तक हे भगवान मेरा हृदय आपके चरणोमे रहे और आपके चरण मेरे हृदयमे रहे। कब तक? जब तक मोक्ष न मिले। और मोक्ष मिले फिर? तो जैसे लोग कहते हैं—अंगूठा दिखा दिया, कोई समझे कि यह इस ढगसे प्रभुसे बोल रहा है, लेकिन इसमे भी भक्ति है यानि प्रभुके स्वरूप को निरख रहे हैं कि कैसा आनन्दमय निरपेक्ष शुद्ध स्वच्छ स्वरूप है उसकी ही तो भक्ति कर रहे हैं और उसकी भक्ति करनेमे यह ही कहे कि अनन्तकाल तक प्रभुके चरणोमे मेरा हृदय रहे। तो इसके मायने हैं कि प्रभुका स्वरूप ही नही समझ पाया। तो वह तो प्रभुस्वरूपकी समझका ही समर्थन है। उससे हो आप समझ लीजिए कि जहां भक्तिको यह बताया कि यहां तक उपादेय है तो ऐसे ही इस व्यवहार चारित्रकी तो बात ही क्या कहे? यह तो अज्ञान अवस्थामे होने वाला है। तो यह कब हेय है और कब उपादेय है? तो देखो उपादेय तो तब तक है जब तक सम्यक्त्वका लाभ न हो, यथार्थ पंथ न मिले, विशुद्ध चारित्र न जगे तब तक यह व्यवहारचारित्र उपादेय है। अन्यथा सम्यक्त्व तो जगे नही और व्यवहारचारित्र करे नही, तो क्या स्थिति होगी इस जीवकी। इससे यह व्यवहारचारित्र तब तक उपादेय है जब तक इस जीवकी गैल ठीक नही लगती, सम्यक्त्व नही जगता, यथार्थ चारित्र नही बनता और ऐसी ही तीर्थकी प्रवृत्ति चलती है। तो यह व्यवहारचारित्र सम्यक्त्वसे पहले है ना? तो मोक्षमार्गका साधक नही है। अज्ञान अवस्थामे होता है यह व्यवहारचारित्र। इससे मुक्ति का मार्ग नही मिलता, फिर भी यह सम्यक्त्वप्राप्तिका एक बाह्य साधन तो है ही। अच्छे सयमसे रहे, मद कषायसे रहे और उमंग बनायें मोक्षकी तो ऐसी बात वहां जगती है तो सम्यक्त्व लाभकी पात्रता तो है वहां। जो व्यवहार सयममे रह रहा यह जरा अतः और पुरुषार्थ बनाये। भेदविज्ञानका, अपने सहज शुद्ध अंतस्तत्त्वके ध्यानका और उस ही परिस्थिति मे रहकर इसे सम्यक्त्व जग गया तो यह टोटेमे रहा क्या? कही व्यवहार चारित्र होनेसे सम्यक्त्वका विरोध नही होता कि यह तो तपश्चरणमे, भक्तिमे लग गया, अब सम्यक्त्व कैसे हो? वह तो एक अन्त पौरुष द्वारा साध्य बात है। तो सम्यक्त्वकी पात्रता बनानेका वह साधन है। तब? जब तक आत्मदर्शन नही है तब तक तो यह व्यवहारचारित्र उपादेय है। देखो सभीने ऐसा ही कुछ व्यवहार किया। जो बडे ज्ञानी बन गए, जो बडे परम शुद्धनयकी बात करें उन्होने भी ऐसा ही किया था। व्यवहारचारित्रमे भक्ति वगैरह सब कुछ करते थे, सत्सग मिला, समाधान मिला, ज्ञान जगा, सम्यक्त्व हुआ। इन सभीको ऐसी ही बात समझना चाहिये। तो यह व्यवहारचारित्र सम्यक्त्व न जगने तक, आत्मदर्शन न होने तक इस जीवके चलना चाहिए। तो तब तक यह उपयोगी है और सम्यक्त्व होनेपर यह चारित्र स्वय

हेय हो जाता है। फिर अज्ञानपूर्वक जैसा कुछ चारित्र चलता था वह नहीं रहता, फिर तो सम्यक्त्व सहभावी व्यवहारचारित्र चलेगा। देखो अपनेको मिलना चाहिए कल्याणमार्ग। वह जैसे मिले वैसा करें, उसीके लिए यह उद्यम है कि व्यवहारसंयम व्यवहारचारित्र पाकर और भीतरमें आत्मज्ञान, आत्ममग्न होनेकी कोशिश करें, इस प्रकार सम्यक्त्व हुए बाद यह व्यवहारचारित्र हेय हो जाता है और फिर यथार्थ व्यवहारचारित्र कथंचित् उपादेय बन जाता है।

—०—

(४७)

(२०२) सम्यक्त्वसहभावी व्यवहारचारित्रकी उपयोगिता—यहाँ यह बतला रहे है कि सम्यक्त्वसहभावी व्यवहारचारित्र हेय है या उपादेय ? हेय है तो कब हेय है तो कब उपादेय है। इस समस्याका समाधान पानेसे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि सम्यक्त्वसहभावी व्यवहार चारित्रका मूल प्रयोजन है क्या ? इस चारित्रका प्रयोजन यह है कि सम्यक्त्वने जिस स्वरूपका अनुभव किया है उस स्वरूपका अनुभव स्थायी हो जावे। सम्यक्त्व उत्पन्न होता है ज्ञानानुभूतिपूर्वक। सम्यक्त्वसे ज्ञानानुभूतिका सही बोध बना, राग स्वरूपका अनुभव ही तो किया, और शान्ति साता भी इस जीवको तभी है जब यह अपनेमें ज्ञानस्वरूपका सही अनुभव बना ले। यद्यपि कुछ अच्छी परिस्थितियोंमें लगता भी है कि मैंने बड़ी दुर्लभतासे यह मानव जीवन पाया है, धर्माराधनामें शान्ति मिलती जाती, मेरेको आत्माका अनुभव बनता है, किन्तु बहुत सी जगह मात्र कल्पना है, जब तक जीवके चित्तमें मूलमें मोह बसा है, किसी भी परद्रव्यके प्रति आस्थाका भाव है, इस परवस्तुके निमित्तसे इस इसकी सिद्धि होनेसे मेरा बड़प्पन है, ऐसा जब तक चित्तमें मूलमें मोह बसा हुआ है तब तक भले ही ऐसा लगे कि मैं धर्मको

व्यवहारचारित्र स्वय हेय हो जाता है। व्यवहारचारित्र हेय है ऐसी बुद्धि बनाकर कोई व्यवहारचारित्र पाले तो कैसे पाल सकता है ? हाँ प्रयोजन जरूर समझे। व्यवहारचारित्रका प्रयोजन यह है कि आधि व्याधि उपाधि रहित जो आत्माका समाधिभाव है उसकी प्राप्ति हो जाय उसके लिए ही यह प्रवृत्ति चल रही है। तो वहाँ स्वय ही यह बात आ जाती है कि यह व्यवहारचारित्र तब तक ही उपादेय है जब तक कि व्यवहार चारित्रसे विविक्त सहज समाधिभाव प्राप्त नही हो जाता। समाधिभाव होने पर यह व्यवहार चारित्र स्वय हेय हो जाता है यह जीव व्यवहारचारित्रका पालन करता हुआ भी चूकि इसके सम्यग्ज्ञानका अभ्युदय हुआ है सो ऐसा ज्ञायकभाव रूपतामय अपनी प्रतीति रखता है कि जो व्यवहारचारित्रके विकल्पसे विविक्त है। सहज स्वभावकी श्रद्धा है, व्यवहार चारित्रके विकल्पसे विविक्त सहज ज्ञायक स्वभावकी प्राप्तिकी धुनमे उसकी प्रवृत्ति ऐसी शुभ हुई कि वृत्ति पापोसे छूट गई। व्यसनोसे छूट गई और सदाचारमे लग गई। यह ज्ञानी जीव है इसने अपनेमे सम्यक्त्वका अभ्युदय पाया है। तो यह अब धुन रख रहा है कि यह मै इस सहज चैतन्यस्वभावमे मग्न होऊँ। यह उपयोग अपने स्वभावको छोडकर अन्य किसी बाह्य पदार्थमे लगता है तो यह बडा कष्ट पाता है। और कष्ट पानेकी बात प्राकृतिक है कि अपने स्वरूपको, अपने स्वभावको तो छोड दिया अर्थात् निज सहज स्वरूपमे तो आत्मस्वरूपका परिचय नही बनाया और यहासे हटकर बाहरी पदार्थोंमे ही उपयोग लगे तो इसे कष्ट होना स्वाभाविक ही है। तो अज्ञानी जीव ही बाहरी पदार्थोंकी ओर निरखते है।

(२०३) **सम्यक्त्वसहभावी व्यवहारचारित्रविषयक समस्याओके समाधानका निष्कर्ष**— जो ज्ञानी जीव है सम्यग्दृष्टि पुरुष है वे तो अपने आपके स्वरूपमे ही धुन रखते है, ऐसी धुनमे रहने वाला यह ज्ञानी जीव चूंकि मन, वचन, कायकी चेष्टासे तो अलग हुआ नही, ऐसी योग्यता है, ऐसी कमजोरी है कि मन, वचन, कायकी चेष्टा होती चले तब दो स्थितियां सामने हैं, निज ज्ञानस्वभावमे मग्न होनेकी धुन है और मन, वचन, कायकी चेष्टा हो रही है तो ऐसी दो स्थितियोमे अतरग स्थिति है आत्ममग्न होनेकी धुन, बाह्य परिस्थिति है मन, वचन, कायकी चेष्टा, ऐसी स्थितिमे इस ज्ञानी जीवको क्या चेष्टा होती है कि वह व्यवहारचारित्रका पालन करने लगता है। पाप तो बन नही सकता। असदाचार, दुराचार तो उससे हो नही सकता, क्योकि निज ज्ञानस्वभावमे मग्न होनेकी इसकी धुन बन गई। और चेष्टायें होती अवश्य हैं। तो वहाँ मन इस प्रकार प्रवृत्ति करता है, जहाँ प्रभुके स्वरूपकी भक्ति रहे, सर्व जीवोमे मैत्रीभाव रहे गुणी जनोको देखकर हर्षभावका अभ्युदय हो, दुखी ससारी जीवोको देखकर उनमे प्रमोद भाव जगे और विपरीत बुद्धि वालेको देखकर माध्यस्थ भाव रहे। ऐसी परिस्थितिमे यही तो

व्यवहारचारित्र है और वृद्धिगत होता है। पापसे विरक्त हो गए, व्रत तप संयममे प्रगति हो गई, यह सब हो रहा है इस धुनमे कि इस निज ज्ञानस्वभावमे मग्न होवें। देखिये प्रयोजन जिसका सच्चा है उसकी प्रवृत्ति उस अनुरूप होती है, और कदाचित् कुछ थोडा लाईनसे भी बाहर हो जाय तो भी प्रयोजन सच्चा होनेसे वह सब सही बात बन जाती है। जो कुछ वहां त्रुटि है वह दूर हो जाती है और अपने आपके सही मार्गकी वृत्ति जग जाती है। लोकव्यवहारमे यह भी तो बात देखी जाती है कि जिसका अभिप्राय मित्रताका है, दूसरे मित्रके प्रति हितका परिणाम है और उस हितकी चेष्टामे कोई चेष्टायें ऐसी हो जायें कि उसमें हितसे अलग लाईन बन जाय तो भी वह मित्र उसको क्षमा करता है। उससे द्वेष नही रखता है। जानता है कि आशय तो एक ही प्रकारका है तो मोक्षमार्गका जिसका आशय बन गया है वह पुरुष मोक्षमार्गकी धुनमे ही व्यवहार-चारित्रका पालन करता है और मेरी तो दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार आदि सभीके प्रति यही भावना है कि हे दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार, तुम्हारे प्रसादसे मैं तुम्हारे विकल्पसे रहित सहजस्वभावमें मग्न हो जाऊँ इसके लिए मैं तुम्हारी तब तक उपासना करता हू जब तक कि मैं निर्विकल्प न हो जाऊँ। समझ गए अब कि व्यवहार चारित्र निर्विकल्प अवस्था न प्राप्त होने तक उपादेय हैं और जब व्यवहारचारित्रके प्रसादसे विविक्त निष्क्रिय चैतन्यस्वभावमें मग्नता होती है तो यह व्यवहार चारित्र भी स्वयं हेय हो जाता है। इस प्रकार इन चार प्रश्नोका यह उत्तर आया कि सम्यक्त्व सहभावी चारित्र चूंकि एक विकलपरूप है इस कारण हेय है और समाधिभावकी धुनमे हुआ है इसका प्रयोजन समाधिभाव है, इस कारण यह उपादेय है। जब तक समाधिभाव न हो जाय, निर्विकल्पदशा न हो जाय तब तक यह उपादेय है और जब निर्विकल्प दशा हो जाती है तब यह व्यवहार चारित्र स्वयं हेय हो जाता है।

(२०४) **सम्यक्त्वपाश्चाज्जात व्यवहारचारित्रका निर्देश**—जब तक क्षायिक सम्यक्त्व नही होता तब तक सम्यक्त्व नही होता तब तक सम्यक्त्वकी स्थिति निष्कम्प नही होती। सम्यक्त्व तीन प्रकारके होते है—१– उपशमसम्यक्त्व, २– क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और ३– क्षायिक सम्यक्त्व। अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति, इन ७ प्रकृतियोके उपशमसे होने वाले सम्यक्त्वको उपशमसम्यक्त्व कहते हैं, जो अनादि मिथ्यादृष्टि जीव है व सम्यक्त्व पाकर हटकर जो सम्यक्त्वप्रकृतिकी व मिश्रप्रकृतिकी उद्वेलन कर चुके जीव है तो उनके ५ प्रकृतियोका उपशम होता है। उपशम सम्यक्त्वके दो भेद हैं—(१) प्रथमोपशम सम्यक्त्व और (२) द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। मिथ्यात्वके बाद जो उपशम सम्यक्त्व है वह प्रथमोपशम सम्यक्त्व है और क्षयोपशम सम्यग्दृष्टिके उपशम सम्यक्त्व हो तो

उसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं । क्षयोपशमसम्यक्त्व अनन्तानुबंधी चार कषाय और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति इन ७ प्रकृतियोंका उदयाभावी क्षय हो और उनका भावी का उपशम हो सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय हो उसे क्षयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं । इसमे भी दो विधियाँ हैं, इसका दूसरा नाम वेदकसम्यक्त्व है, तो वेदकसम्यक्त्व तो बहुत काल तक चलता है और अन्तमे जब क्षायिकसम्यक्त्व होनेको हो तो अन्तिम अन्तर्मुहूर्तमे चूकि सम्यक्प्रकृतिका उदय नही रहता, क्षयके लिए ही बात चलनी है, उस समय इसका शुद्ध नाम है क्षायोपशमिक सम्यक्त्व । तो ये दोनो सम्यक्त्व अस्थिर हैं । क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी मिट जाता है । अब किसी योगीके सम्यक्त्व हुआ और व्यवहारचारित्रमे भी चल रहा है, व्रत, समिति, गुप्ति का पालन कर रहे तब सम्यक्त्व है, क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि है और क्षण भरमे क्षयोपशम सम्यक्त्व न रहा, मिथ्यात्वका उदय आ गया तो ऐसे भीतरी परिणामके बदलनेसे अभी उसकी बाहरी बाह्य क्रियावोमे अतर नही आ पाया । भले ही अव्यक्त आशय कुछ है लेकिन जो तपश्चरण व्रत पालन समितिका पालन आदिक जो कुछ भी चल रहा था उसका बराबर संस्कार है और वह सस्कारवश वैसा ही व्यवहार क्रियाकाण्ड कर भी रहा है । तो अब मूल दृष्टिसे देखें तो सम्यक्त्वके साथ रहने वाला व्यवहारचारित्र वह सम्यक्त्व सहभावी यथार्थ है, और सम्यक्त्व न रहनेपर हुआ जो व्यवहार चारित्र है वह जैसा आत्मामे आशय है इस प्रकार नही है फिर भी याने मिथ्यात्वका उदय होनेपर सम्यक्त्व नष्ट हो भी गया तिसपर भी सस्कारवश प्रवृत्ति पूर्वक व्यवहार चारित्र चलता रहता है ।

(२०५) **सम्यक्त्वपाश्चाज्जात व्यवहारचारित्रकी उपयोगिताका दिग्दर्शन**—हाँ तो यह जो व्यवहारचारित्र हुआ, सम्यक्त्वका विलय होने पर जो व्यवहारचारित्र चल रहा है इसमे भी लाभ है कि नही, यह भी विचारें । यह तो परिणामोकी बात है । नही रहा सम्यक्त्व और है योगीनिर्ग्रन्थ साधु, अपने आवश्यक कार्योंका पालन कर रहा है तो उसकी प्रवृत्ति क्या पापमय हो जायगी ? क्या दुराचाररूप हो जायगी ? नही । वही व्यवहारचारित्र करता है और उस व्यवहारचारित्रके प्रसादसे उसमे ऐसी योग्यता पात्रता रहती है कि पुनः सम्यक्त्व पैदा कर ले, मोक्षके मार्गमे फिर लगे, ऐसा अवसर मिलता है । और जो उल्टा ही क्रियाकाण्ड कर बैठे तो यह मोक्षमार्गसे बिल्कुल उल्टा हो हो जायगा । तो सम्यक्त्व न रहा तिसपर भी कोई व्रत, समिति, गुप्तिका पालन करे तो वह उसके लिए लाभके लिए ही है, हानि उसे नही है, जो टूटा भीतरमे सम्यक्त्व वह फिर बनेगा, मोक्षमार्गमे लगेगा और प्रगति कर लेगा इस कारणसे सम्यक्त्व पाश्चाज्जात व्यवहारचारित्र भी होता ही है, होना ही चाहिए, क्योकि उसके प्रसादसे फिर वह अपने भावकी सभाल करने लगेगा । उस

व्यवहार चारित्रमे मंदकषाय रहती है । देखो व्यवहारमे भी क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें न जगें तो इस जीवको कल्याण है और क्रोध मान माया लोभ आदि कषायें जगती हैं, तो चूँकि कषाय एक ऐसा आन्तरिक दुराचार है कि कषायमे कषाय बढ़नेका ही उत्साह मिलता है । कषायसे निवृत्त होनेकी बात कषायमे नही आ पाती है इसलिए कषायका अश भी जगे तो भी जीवके अहितके लिए है । सो व्यवहार चारित्र जो यह बन रहा है साधुजनो के वहाँ सम्यक्त्व नही है तब भी लाभके लिए ही है । सम्यक्त्व हो तो मोक्षमार्गके लाभके लिए है । सम्यक्त्व न होने पर व्यवहार चारित्र हो तो विशुद्ध वातावरणके लाभके लिए है । तो यह व्यवहार चारित्र हेय है या उपादेय है जो सम्यक्त्वके विलय होने पर व्यवहार चारित्र किया जा रहा है वह भी कदाचित् उपादेय है किन्तु उसे न करें और अशुभरूप प्रवृत्ति बने तब तो जीवका अकल्याण ही है । ऐसी स्थितिमे व्यवहार चारित्र उसके ऐसे वातावरणको बनाता है कि जिसमे सम्यक्त्वका लाभ हो और मोक्षमार्गमे गति हो, इसलिए यह व्यवहारचारित्र पुन. सम्यक्त्वलाभ होने तक उपादेय है । फिर तो सम्यक्त्व जगे तब इसके सम्यक्त्व सहभावी व्यवहार चारित्र हो जायगा । सो वह भी समाधिभाव न हो तब तक इसको उपादेय है । अर्थात् जो सम्यक्त्व उत्पन्न होनेपर चारित्र जगा वह तो यो उपादेय है कब तक ? समाधिभाव न प्राप्त होने तक कि उस व्यवहार चारित्रके प्रसादसे यह जीव व्यवहार चारित्रके विकल्पसे रहित सहज ज्ञानस्वभाव समाधिमे लग जायगा और सम्यक्त्वका विनाश होने पर होने वाला व्यवहार चारित्र उपादेय है, कब तक जब तक कि सम्यक्त्व नही जगता क्योकि उस व्यवहार चारित्रसे वातावरण विशुद्ध बनता है, धार्मिक प्रसग प्राप्त होता है और तत्त्वज्ञानस्वाध्याय आवश्यक आदिक क्रियावोमे लगता है, तो उस उपयोगमे रहकर यह जीव पुन. मोक्षमार्गमे आ सकता है । ऐसी वहाँ विशेष भावना है, इसी कारणसे सम्यक्त्व विलयजात व्यवहार चारित्र भी मोक्षमार्ग न पाने तक उपादेय है ।

(२०६) **धर्मपालनका प्रयोजन सकलसंकटोसे मुक्ति**—यहाँ सक्षेपमे यह समझना कि जीवका हित पापसे हटनेमे है मोहसे हटनेमे है, कषायसे दूर होनेमे है । इस जीवने अनादिकालसे अब तक मोह कषाय विषय पाप इनमे ही प्रवृत्तिकी है और इस प्रवृत्तिके कारण यह जीव विकट कर्मबध करता रहा और उनके उदयकालमे उनकी वैसी ही बुद्धि जगती रही और यह जीव अपना अनर्थ करता रहा । अब इस जीवको कल्याण चाहिए तो अपनी पुरानी कुटेवोसे अलग होना पडेगा । सर्वप्रथम बात यह है कि अपने आत्मस्वरूपका ऐसा अनुभव करें कि मै सबसे निराला धन सम्पदासे भी निराला, शरीरसे भी निराला केवल चैतन्य स्वरूपमात्र हू । अरे भव छूटनेपर जो जीव अकेला जाता है उसका ही निर्णय बना लें

कि जो चीज जीवके साथ नही जाती वह चीज इस जीवकी कुछ नही है और फिर अधिक अन्तदृष्टि करके निहारो कि जीवके साथ जो उपाधि या और कषाय सस्कार चल रहे हैं वे भी मुझ जोवके नही है। मेरा तो वह स्वरूप है जो मेरे साथ सदा रह सकता है। वह है ज्ञान और दर्शन उपयोग यह ही मेरा स्वरूप है। तो इस रूप हम आपको अनुभव बने तो प्रवृत्ति इसके अनुसार बनेगी। और इस रूप अपनेको न अनुभव करे, ससारकी अनेक दशाओरूप अपने को माने तो उसमे उल्टी प्रवृत्ति चलेगी। इससे भाई एक अपने आपको ऐसा अनुभव करे कि मैं अमुक गाँवका नही, अमुक नही, किसी का दादा बाबा नही, किसीका मैं कुछ नही शरीर भी मेरा नही। सबसे निराला एकस्वरूप मात्र, चैतन्यस्वरूपमात्र, परमार्थ सत् आत्मपदार्थ हूँ। उस आत्मपदार्थकी भावना बनायें और ऐसी ही दृष्टि रखकर सर्वसकटोके दूर होनेका पौरुष कीजिए। धर्मपालनका प्रयोजन यह ही सकट हीन दशा है। मगर सकट दूर नही हो सकते जिस पौरुषसे वह पौरुष करना व्यर्थ है, और उसका धर्म नाम नही हो सकता। धर्म तो कहते ही उसे हैं जो ससारी जीवोको दुःख से छुडाकर उत्तम आनन्दमे पहुचा दे उसका नाम है धर्म। कौन पहुचा दे? तो धर्मका स्वरूप ही बताता है। धर्म कहते हैं उसे जो जिसका स्वभाव हो। पदार्थ अपने आपके जिस स्वभावको धारण करता है वह उसका धर्म है। मैं आत्मा चैतन्यस्वभावमय हू। मेरा धर्म चैतन्यस्वरूप है और चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि बनाना, उस रूप अपनेको अनुभवना यही धर्म पालन है। ऐसा धर्मपालन जो जीव करता है उसको नियमसे सकल सकटोसे मुक्ति प्राप्त होती है।

••○○•••

(४९)

(२०७) **देह, कर्म व विकारसे छुटकारा पानेके उद्यममे प्रथममे पौरुष मलत्रयविविक्त अविकार अन्तस्तत्वका अवलोकन**—इस जीवकी भलाई है मोक्ष पानेमे जहा शरीर कर्म, विकार इन तीनोसे छुटकारा हो जाता है और केवल ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा ही रह जाता है, वहा वास्तविक कल्याण है, अब उनको कोई संकट नही। तो आत्माकी भलाई है मोक्षमे और मोक्षमे ही अनाकुलताका उत्तम सुख है। और अनाकुलता किसको व कैसे मिले वह मुक्ति भी किसको व कैसे मिले इसके लिए क्या आवश्यक है आत्म द्रव्यमे सो एक युक्तिसे विचारें। जैसे चौकी पर कूडा बीट सब कुछ पडा हुआ है तो उसे देखकर मनमे इच्छा हुई कि इसको साफ किया जाय? तो कौन साफ करेगा? जिसको यह श्रद्धा होगी

कि चौकीका स्वरूप तो चौकीमे है, यह बीट कूडा जो पडा है यह बाहरकी चीज है। यह चौकीकी निजकी चीज नही है, और जब यह चौकीकी निजकी चीज नही है बीट कूडा वगैरह तो थोडे उद्यमसे ही इसे हटाया जा सकता है। जिसको यह श्रद्धा है वही तो चौकी को धोता है। तो ऐसे ही समझिये कि जिन तीन मलोका अभाव हुआ है सिद्ध भगवानमे कौनसे तीन मल ? शरीर, कर्म और विकार और ये ही हम आपके तीनो चल रहे हैं, शरीर भी लदा है, कर्म भी बँधे हैं, विकार भी चल रहा है, तो इन तीनोकी सफाई हुए बिना, इन तीनोसे छुटकारा पाये बिना जीव मुक्त नही होता। तो किसे मुक्त होना चाहिए ? कौन होगा ? जिसको यह श्रद्धा बनी हो कि मैं जो आत्मा हू सो मैं आत्मा स्वरूपतः इन तीन बातोसे जुदा हू। मेरे स्वरूपमे देह नही, मेरे स्वरूपमे कर्म नही। मेरे स्वरूपमें विकार नही, ये तीनो ही बाह्य चीजें है, पर और परभाव है, ऐसी जो श्रद्धा रखता हो वही इन तीनोको साफ कर सकता है। तो देखो यहाँके कूडा बीटको साफ किया गया पानीसे और साफ किया किसी पुरुषने, पर यहांका जो एक कूडा करकट है शरीर कर्म विकार इनको साफ किस चीजसे किया जायगा ? किसी औजारसे नही। किसी बाह्य प्रवृत्तिसे नही, किन्तु अपने ज्ञान बलसे ज्ञान हुआ कि ये तीनो पर है, परभाव है, इनसे निराला मैं ज्ञानस्वभाव हू, तो ज्ञानस्वभावमे यह मैं हू इस प्रकारका जो अनुभव है यही अनुभव इन तीनोकी सफाई का कारण है। तो क्या बात चाहिए ? हमको स्वभावका दर्शन चाहिए। मैं सहजस्वभाव क्या हू, यह परिचय चाहिए।

(२०८) आत्महितके लिये विभावनिवृत्ति व स्वभाववृत्तिके प्रयोगकी आवश्यकता—देखो अपने सहज स्वरूपके परिचयके लिए दो नयोका उपयोग बताया है—निश्चयनय, व्यवहारनय। या कहो शुद्धनय, अशुद्धनय। निश्चयनय और उनमे भी लीजिए परमशुद्ध निश्चयनय। उससे तो स्वभावका दर्शन हुआ, परिचय बना, मैं ऐसा निरपेक्ष चैतन्यस्वभावमात्र हू और व्यवहारनयसे यह परिचय मिला कि ये रागद्वेषादिक विकल्प परभाव हैं, इनसे हटना चाहिए, ये मेरे स्वरूप नही है। देखो जरूरत दोनोकी है, विकारसे हटना, स्वभावमे लगना। विकारसे हटनेमे प्रमुख सहयोगी है व्यवहारनय और स्वभावमे लगनेमे प्रमुख सहयोग है परमशुद्ध निश्चयनयका। विकारसे कैसे हटें ? कौन सा ज्ञान किया ? वह ज्ञान यही हुआ कि मेरे उपयोगमे जो विकार चल रहा है यह विकार मेरे स्वभावका नही किन्तु पौद्गलिक कर्मके विपाकके सन्निधानका निमित्त पाकर हुआ है। देखो व्यवहारनय एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यका कर्ता नही कहता, किन्तु वह घटना बताता है कि अमुक उपादान अमुक निमित्तको पाकर अमुक परिणतिसे यो परिणम गया। व्यवहारनयका सही विषय है घटना बताना, और, जो यह कहा

जाता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता है यह व्यवहार नयसे कहा है। तो यहाँ उपचारके एवजमे व्यवहारका नाम लिया गया है। कुछ जानकार पुरुषोमे अलग-अलग शब्द नही बताये जाते कि यह उपचार वाला व्यवहार है, या प्रमाणके अंश वाला व्यवहार है। व्यवहार दो जगह प्रयुक्त होता है। एक तो प्रमाणके दो अंश हैं—निश्चय और व्यवहार। ७ नयोमे जितने भी नय हैं सब सत्य हैं, तो व्यवहार एक तो प्रमाणका अंशरूप है और एक उपचार रूपसे। उपचार भाषामे कहा जाता है कि यह उसका कर्ता है, ऐसा उपचार मिथ्या है। याने उपचारने जिस भाषामे बोला उस भाषामे ही बात समझे तो मिथ्या है, पर व्यवहार-नयका विषय परकर्तृत्व आदि नही। वह घटना बताता है जो कि प्रमाणका अंशरूप है। जैसे दूध नाम गाय भैसके दूधका भी है और आक, वड, पीपल इनके दूधका भी नाम दूध है। तो कोई कहे कि दूध खराब है, खाना पीना न चाहिए, तो वह आक आदिकके दूधको ध्यानमे रखकर कहा जा रहा है। कही गाय, भैसके दूधकी बात नही कही जा रही। तो इसी प्रकार जहाँ बताया जाय कि व्यवहार स्वय जैसा कहता है वैसा सत्य नही है तो यह बात उपचार वाले व्यवहारकी है। प्रमाणके अंशरूप व्यवहारनयकी बात नही है। आप यहाँ यह परखें कि जब निश्चयनयमे स्वभावका दर्शन होता है तो वह तो एक साक्षात् उपाय है, पर निश्च-यनयकी ऐसी पात्रता हममे आये कि हम एक दृष्टि करें और अपने स्वभावका दर्शन पायें। उसके लिए क्या करना होता? उसके लिए बताया है अभूतार्थनय। ७ तत्त्व, ९ पदार्थ आदिक जो भी वर्णन है, द्रव्य, गुण, पर्याय, वह सब वर्णन अभूतार्थनयसे होता है। अभूतार्थनय प्रतिपादक नही है, वर्णन करने वाला नही है किन्तु वह तो एक ममझे समझाये तत्त्वको निगाहमे लाने वाला है। तो इस प्रकरणमे एक यह बात कही जा रही है कि निमित्तनैमित्तिक भावके ज्ञानसे हम विकारसे हटकर स्वभावमे किस तरह पहुचते हैं? तो पहले कुछ वर्णन सुनो उनका।

(२०९) जीवविकारकी व्यक्तिमे निमित्तका द्वैविध्य—निमित्त बताये गए दो प्रकार के– (१) उपादान कारण-और (२) निमित्त कारण। निमित्त सब जगह दो ही प्रकार बताये गए है—(१) उपादान और (२) निमित्त। लेकिन जीवके जब प्रकट विकार उत्पन्न होता है वहा दो प्रकारके निमित्त होते हैं विकारके प्रसगके अलावा सर्व स्थितियोमे निमित्त एक ही प्रकारका है—अन्वयव्यतिरेकी। वहाँ दो भेद नही पडते, लेकिन जीवमे जब रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभादिक व्यक्त विकार बनते हैं तो वहा दो प्रकारके निमित्त होते हैं—एक अन्वयव्यतिरेकी और दूसरा उपचरित निमित्त। कर्मका अनुभाग खिला, कर्मका उदय हुआ, यह तो है अन्वयव्यतिरेकी निमित्त, अतरग निमित्त और पुत्र मित्र धन वैभव आदिक जिन-

जिनको ख्यालमे लाकर कषाय जगे वे कहलाते है उपचरित निमित्त। उपचरित निमित्तका अर्थ यह है कि उनमे उपयोग जोडें तो वे निमित्त कहलाते है, न उपयोग जोडें तो वे निमित्त नही कहलाते। इसको कह लीजिए काल्पनिक निमित्त। झूठा निमित्त, क्योकि उनमें अन्वय व्यतिरेकपना नही है। तो जीव जब व्यक्त विकार करता है तो वहा दो प्रकारके निमित्त होते है—(१) अन्तरग निमित्त, (२) बहिरग निमित्त। बहिरग निमित्तमे उपचरितपना है। हम उनकी कल्पना करे तो निमित्त बनते है, हम उनकी कल्पना न करें तो निमित्त नही बनते। लेकिन कर्मोदयमे कल्पनाकी कुछ भी बात नहीं है। हजारों लाखो करोड़ो वर्ष पहले कर्म बधे हुए थे, वे सत्तामे है। उनकी स्थिति पूर्ण हो ले, उदयमे आये सो जब उदयमे आया तो अनुभाग खिला उसका परिणाम मूलत कर्ममे है, पर उसकी छाया, माया, प्रतिफलन, यह उपयोगमे हुई। जैसे दर्पणके आगे लाल कपडा किया तो लालिमा तो कपडेमे है, पर उसका सन्निधान पाकर दर्पणमे भी लाल प्रतिबिम्ब है। तो ऐसे ही जब कर्मका उदयकाल आया तो कर्मकी बात कर्ममे हुई और उपयोग है चूँकि स्वच्छस्वरूप वाला, इसमें झलक गई वह सब कषाय जो कर्ममे प्रकट हुई। अब यह कहलाने लगी जीवरूप कषाय और वह कषाय कहलाती अजीवरूप कषाय। तो यह जो जीवकषाय है यह कषाय नैमित्तिक है। कर्मोदयका निमित्त पाकर हुआ है। मेरा स्वरूप नही है। मेरेको क्या इससे मतलब। जिसको सम्यक्त्व जगा। जिसको ज्ञानप्रकाश जगा वह सोचता है कि यह परभाव है, औपाधिक है। नैमित्तिक है। यह मेरा स्वरूप नही है। जैसे समयसारमे कहते कि कर्मोदय निष्पन्न है और भी कहते कि कर्मोदयसे ही जीवको सुख दुःख होता, तो यह नैमित्तिक भाव है। इससे मेरेको क्या मतलब मैं तो ज्ञानस्वरूप हू, चैतन्यस्वरूप हू। यो परिचय पाकर अपने अभेद ज्ञानप्रकाशमे आता है।

(२११) **जीवविपाककी व पुद्गलविपाककी कर्मके निमित्तत्वका विश्लेषण**—जीवविकारके निमित्तकी बात चल रही है कि देखो जो कर्म बाधे वे चार प्रकारके है—(१) जीवविपाकी, (२) पुद्गलविपाकी, (३) क्षेत्रविपाकी और (४) भवविपाकी। जीव विपाकी कर्म वे कहलाते है जिनका फल जीवमे रहता है। जैसे कषाय जगी तो यह जीव विपाकी कर्मोदयके निमित्तमे हुई। पुद्गलविपाकी कर्म वे कहलाते कि जिनका फल पुद्गलमे होता है, शरीरमे होता है। इस शरीरमे जैसे शरीरका रग बने, स्पर्श बने, लम्बाई चौडाई बने, इसकी मजबूती बने जो जो बात शरीरकी बने उसका निमित्तभूत है पुद्गलविपाकी कर्म। बात बताई जा रही है इस आत्मप्रदेशमे होने वाली विडम्बनाकी। तो जीव विपाकी प्रकृतिका विपाक मोह कषाय और आवरण आदिक रूपमे होता है। जैसे कपडा लाल है ना

और दर्पणमे सामने आया तो दर्पण भी लाल, तो लालिमा दो जगह है, ऐसे ही यह समझिये कि जो रागद्वेष क्रोध, मान माया, लोभ आदिक कहते हैं ना, वे बातें दो जगह है (१) कर्ममे भी है (२) जीवमे भी हैं। कर्ममे जो परिणाम है उनका उपादान कर्म है। जीवमें जो विकार हैं उनका उपादान जीव है, किन्तु वे विकार नैमित्तिक है। जीवके स्वरूपसे उठ कर नही आये तो जीवविपाकी कर्ममे जो मोह जगा, कषाय जगो वह तो कर्ममे हैं और उसका जो प्रतिफलन हुआ विकार प्रतिबिम्ब उपयोगमे आया, उपयोगने फिर उसे भाव्य बन कर या वेदक बनकर भोगा। भाव्य बननेके मायने है अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जैसी वृत्तिसे भोगना मोही उन कर्मोंके प्रतिबिंबोमे एकमेक हो जाता है, अपने स्वरूपका भान नही रखता यह तो कहलाता है भाव्य बनकर भोगना और भेदविज्ञान भी रहे। किन्तु कर्मका ऐसा ही उदय है कि यह अपने स्वरूपमे स्थिर नही हो पाता और बाह्य पदार्थोंमे उपयोग जोडता है तो यह कहलाता है वेदक बनकर भोगना। सो दोनो विधिसे इस जीवने लगाया तो उपयोग मलिन तो हुआ यह।

(२११) **विभावोकी नैमित्तिकताके परिचयसे प्राप्तव्य शिक्षा**—देखो परख लिया, जीव विपाककी कर्मका उदय होनेपर होने वाले विकारकी हालत। यहां शिक्षा लेना है कि बहिरंग निमित्तका परिचय तो इसलिए है कि तुम इन इन्द्रियोके विषयभूत पदार्थोंमे उपयोग मत जोडो। इसका सबध हुआ चरणानुयोगसे। चरणानुयोग यह ही तो कहता है कि तुम त्याग करो इसमे उपयोग मत जोडो। इससे उपयोग हटावो। कैसे हटे उपयोग ? तो इसका क्षेत्रसे परिहार करें और ज्ञानको प्रबल बनावें। और इसमे उपयोग मत जोडें। और जो अन्तरग निमित्तका परिचय मिला है कि कर्मका उदय है उस समय यह उपयोग हुआ है, तो यहां यह समझें कि ये नैमित्तिक हैं, मेरे स्वरूपकी चीज नही, मेरे स्वभाव नही। ऐसा जानकर उससे हट जायें और शुद्धनयका अवलम्बन करके, परम शुद्ध निश्चयनयका आश्रय करके अपने ज्ञानस्वरूपमे मग्न होइये। देखा, जीव विपाकी कम किस तरह अपना कार्य करता है और कैसे विकारका निमित्त बनता है।

(२१२) **पुद्गल विपाकी**—अब पुद्गल विपाकी कर्म देखिये यह बात एकदम सहसा नही दृष्टिमे आती। कितनी ही बातें ऐसी है जो समयसारमे इगित है और वहांसे झट पकड मे आती हैं। अजीवाधिकारमे जहां यह लिखा है कि बादर पर्याप्त अपर्याप्त आदिक ये सब नाम कर्मकी प्रकृतियोसे रचे गए हैं, वहां भाव क्या है कि देखो शब्द तो यह बतलाते हैं कि मानो शरीरका कर्म ही उपादान बन गया, ऐसा वहां शब्द डाला। नामकर्मकी प्रकृतिसे निर्वर्त्यमान है। उदाहरण ऐसा दिया कि जैसे लोहेसे रची गई तलवार लोहामय है, श्री अमृतचन्द्र

सूरिने दृष्टान्त दिया है यह, तो उससे तो ऐसा विदित होता कि मानो इस शरीरका उपादान ही कर्म है, लेकिन इसका रहस्य जानना होगा कि कितना सहयोग है उससे। जैसे कुम्हार ने घडा बनाया उपचारमे तो कहा ही जायगा तो वहाँ घडा तो बना मिट्टीसे ना? घडेका उपादान मिट्टी है। लेकिन उसमे पानी लगाया, मिट्टीको गीला किया और उसका घडा बना। घडा बना चुकनेपर सूखनेपर पानीका अश वहाँ जरा भी नही रहता, लेकिन जैसे घडेके बनने मे पानीका सहयोग है, इसी प्रकार शरीरके बननेमे उपादान तो है शरीरकी वर्गणा, लेकिन यहाँ इस नामकर्म प्रकृतिका तो सहयोग है और क्षणमात्रको थोडा उससे चिपट रखकर फिर अलग होकर अकर्मरूप हो जाता है, इसीलिए पुद्गल विपाकी कर्मप्रकृति नामसे कही गई है। यहाँ निमित्त दो प्रकारके नही हुए। यह बात बताते हैं शरीर रचनेमे नामकर्म निमित्त है सो वहाँ उपचरित निमित्त कुछ भी नही होता। उपचरित निमित्त केवल जीवके कषाय विकार के प्रसगमे हो हुआ करता है। सो देखो उपचरित निमित्तमे उपयोग मत जोड़े। ये कल्पित निमित्त है। उपयोग जोडें तो निमित्त बनते हैं, न जोड तो नही बनते। अच्छा, और जो अतरग निमित्त है उसका उदय होनेपर अव्यक्त विकार होता तो जरूर, पर इसको मेटनेका उपाय क्या है? व्यक्त विकार न किया जाय। उपचरित निमित्तमे उपयोग न जोडें। व्यक्त विकार न हो तो वहाँ सम्वर और निर्जरा होती है। सो उन कर्मोंमे एक सम्वर निर्जरा होने से क्षीणता होती है।

(२१३) **पारतन्त्र्यविनाश व स्वातन्त्र्य लाभके लिये व्यवहारनयका विरोध न कर निश्चयनयका आलम्बन लेकर ज्ञानानुभवके उपायकी अविफलता**—यहाँ मुख्य दो बातें कही जा रही है कि जैसे कोई देश आजाद होता है तो उसमे दो उपाय अपनाये जाते है कि विदेशी वस्तुओका तो असहयोग करें और अपने देशका आग्रह करें ऐसे ही जब अपनेको मुक्ति चाहिए, इन झझटोसे छुटकारा चाहिए जो अनादिकालसे अब तक बंधन चले आये हैं उससे निवृत्त होनेके लिये भी दो उपाय चाहिए कि परभावमे तो असहयोग और स्वभावका आग्रह बनायें। परभाव क्या है? रागादिक विकार। इनका तो असहयोग बनायें, ये मेरे नहीं है, मुझे इनसे मतलब नही, इनसे तो हमारी परतंत्रता बढती है। जब भारत आजाद हुआ तो बहिष्कार किया, विलायतकी चीजें मत खरीदें, उनसे हमारा देश निर्बल होता है। तो इस प्रकार जो परभाव हैं कषाय है, इनको मत अपनावें, इनको समझें परभाव है, मेरे स्वरूप नही है। इनसे सहयोग मत करें। इनसे पीठ मोडें और स्वभाव क्या है, अपना पारिणामिक भावमय अनादि अनन्त निरपेक्ष ज्ञानस्वभाव उसको समझें कि यह मैं हू। जो मैं हूं सो मेरा, सो ही मेरा शरण। यह मैं हूं, इस प्रकारका यहाँ आग्रह बनावें। तो निवृत्ति और प्रवृत्ति ये

दोनो ही आवश्यक हो गए इस मुमुक्षुको, इस ज्ञानी सतको, तो विभावनिवृत्तिकी शिक्षा मिलो निमित्तनैमित्तिक भावके यथार्थ परिचयसे और स्वभावके आग्रहकी शिक्षा मिली परम शुद्ध निश्चयनय अथवा कहो शुद्धनयसे, इसके आलम्बनसे। इसी कारण बताया है प्रवचनसारमे कि व्यवहारनयका विरोध न कर, मध्यस्थ होकर निश्चयनयका आलम्बन लेकर मोहको दूर करना चाहिए। यह ही एक आम्नायकी निधि है कि जिससे यह जीव अब इस विकारसे हटकर परभावमे मग्न हो सकता है? क्या झट ध्यान दिया जाय? कैसे हम झट अपनी दृष्टि लाये? ये विकार जो हममे झलकत है, उछलते है, प्रतिबिम्बित होते है ये मेरे स्वरूप नही। यह तो कर्मविपाककी छाप है। कहा ना समयसारमे, यह सब कर्मका नाच है तो नचो। इसमे मेरा कुछ नही। मैं तो इनसे निराला एक चैतन्यस्वरूप मात्र हू।

(२१४) जिनवचनामृतसिन्धुसे सहजसिद्धज्ञानस्वभाव सुधारसकी धाराका प्रवाह— जैन सिद्धान्तके जितने भी वचन है उनका प्रयोजन है अपने सहजस्वरूपका परिचय पावो और यहाँ ही यह अनुभव करो कि यह ही मैं हू अन्य सब कुछ तो विडम्बना है, औपाधिक है। नैमित्तिक है, प्रासगिक है, यह सब मेरा स्वरूप नही, यो विभावसे असहयोग करके अपने स्वभावमे आनेको धर्म पालन कहते हैं। अब ऐसा समझ तो लिया हमने और यह भी जान रहे हैं कि जैसा हमने जाना वैसा हम इसी समय क्यो नही कर डालते? बडी उमग भी हो तब भी नही कर पा रहे। तो इसका कारण क्या कि मैंने पहले जो अज्ञानमें वासनायें रखी थीं सो अज्ञान तो मिटा मगर अभी वासना नही मिटी। उससे हम कलुषित होकर बाहरी विषयोको अपनाते हैं। उनमे दिल लगाते हैं। तो हमको भेदविज्ञान करना है कि जिनमे हम दिल लगाते ये तो प्रकट भिन्न हैं और काल्पनिक हैं। इनका मेरे विकारके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नही कि इन चीजोंके होनेपर राग हो और न होने पर राग न हो, ऐसा कोई नियम नही है। देखो कोई ज्ञानी विरक्त हो गया, मुनि हो गए। कभी खुदकी पूर्वकी स्त्री ही आहार दे रही, पर मुनिके विकार नही होता। तो अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध भी न रहा और कहीं स्त्रीको त्याग भी दिया हो और ख्यालमे स्त्री लाये तो वहाँ उसे विकल्प जगता। जैसे पुष्पडालमुनिका कथानक है। तो वहाँ कल्पनासे निमित्त बना। सो इसमे उपयोग न देना। यह बल बनावें भेदविज्ञान करके और सीधे जो विडम्बना और प्रहार हो रहा है भीतर उपयोगमे कषाय प्रतिफलनका वहाँ भेदविज्ञान बनावें। यह मेरे स्वभावकी चीज नहीं। ये तो नैमित्तिक है, परभाव हैं, औपाधिक है, मेरे स्वभाव नही। उससे हटना और शुद्धनयका आलम्बन लेकर अपने स्वभावका आश्रय करना, बस यह ही काम पडा है, किन्तु नही कर पाते हैं, वासनायें सताती हैं। उन वासनाओंको मिटानेके लिए

या उस समयका आक्रमण रोकनेके लिए हम अपना व्यवहार ऐसा पवित्र बनायें, सदाचार का व्रत, सयम, साधनाका कि जिसमे हमारा उपयोग पापमे व्यसनमे न जाय। किसी देव, शास्त्र, गुरुके सत्सग और भावनामे लगें ताकि हमारी पात्रता रह सके कि हम शुद्ध स्वभाव का दर्शन पा लें। तो जितना भी वर्णन है वह आत्माके स्वभावकी उपासनाके लिए होता है। हम प्रत्येक वचनसे यह शिक्षा लें कि मैं अपनेमे यह पहचान बना लूँ कि मैं यह ज्ञान स्वभावरूप हू।

—o—

(५०)

(२१५) **व्यवहारसयमसे अपनी पात्रता बनाकर सहजज्ञानस्वभावकी अनुभूतिकला से चैतन्यचन्द्रका विकास पानेका संदेश**—ससारके संकटोसे छूटनेके लिए अपनेको काम क्या करना है कि अपना जो सहज स्वभाव है उसमे अनुभव करना है कि यह मैं हूँ। ऐसी दृष्टि, प्रतीति, अनुभूति हो तो इसकी दृढताके प्रतापसे सर्वसकट दूर हो जाते हैं। अब दूसरी बात देखो—मैं अपने आत्माके सहज स्वभावका दर्शन करूँ, इसके लिए क्या चाहिए ? तो साक्षात् तो दृष्टि ही चाहिए पर और क्या करना चाहिए कि सारे विकल्प छोड़ देना चाहिए। जब तक किसी भी वस्तुके बारेमे कोई विकल्प रहता है तब तक आत्माके ज्ञानस्वभावका अनुभव नही बनता। अच्छा इन सारे विकल्पोको छोडनेके लिए क्या चाहिए ? एक बार कुछ क्षण स्वभावकी झलक चाहिए, क्योकि उपयोग कहाँ लगे कि ये सारे विकल्प झड जायें ? यह उपयोग तो कही न कही लगेगा। अच्छा तो अपने स्वभावकी झलक आये उसके पहले पात्र तो बनें। उस पात्रताके लायक तो हम बनें कि जिसने हम अपने स्वभावकी झाँकी ले सकें। तो उसके पात्र बननेके लिए दो बातोका ध्यान रखना जरूरी है—(१) अन्तरंग बातका और (२) बहिरंग बातका। अतरग तो यह है कि वस्तुके स्वरूपका अभ्यास बनावें। आत्मा क्या वस्तु है ? एक परमार्थ सत् है। मैं हू, वह अवक्तव्य हैं, अभेद है, पर उसका परिचय पानेके लिए भेदप्रतिपादक अभूतार्थनयसे द्रव्य गुण पर्याय शक्तियां, इन सबको जानना चाहिए। वस्तुस्वरूपके यथार्थ अभ्यास द्वारा स्वभावको झलक होती है। अब वस्तुस्वरूपका हम यथार्थ अभ्यास कर सकें और स्वभावकी झाँकी ले सकें, इसके लिए बहिरगमें चाहिए कि अपनी शक्ति माफिक व्यवहारचारित्रमे रहे। कोई पुरुष रात्रिको भी खाये, अभक्ष्य भी खाये, व्यसन मे रहे तो ऐसी उद्दण्ड प्रवृत्ति वाला कही स्वभावकी झाँकी लेनेका पात्र हो सकता है ? बस

पापका त्याग करना, गुणी जनोको देखकर हृदयमे हर्ष लाना, विनम्र भावसे रहना, यह है हमारा एक सद्व्यवहार जिसमे हमको मदकषाय बनी रहे और हम स्वभावदर्शनके पात्र हो सके। मदकषाय होना बहुत आवश्यक है। और मद कषायके ही साधक है ये सब हमारे नियम व्रत, तप सयम। वैसे भी देखो कि इस शरीरके द्वारा हम अपनी इन्द्रियविषयोकी पूर्ति के लिए बडे-बडे कष्ट भी सह डालते है। कामोमे जगह-जगह डोलते हैं और कष्ट भी सहते हैं, और चाहते हैं कि मेरा यह शरीर बडे आराममे रहे। जिसको शरीरको आराममे रखनेकी इच्छा नही है वह ही पुरुष नियम सयममे प्रवृत्ति कर सकता है और जिसको शरीरका लोभ लगा है, मेरे खानेमे बाधा न आये। मेरे आराममे फर्क न पडे, अनेक बार झट झट प्यास लगे तो पानी पियें ऐसे जो अपने शरीरके बहुत आरामके लोभी है उनसे सयम नही बन सकता, और जब उनसे कुछ सयम नही बन सकता, और जब उनसे कुछ सयम नही सध सकता तो दूसरोकी दृष्टिमे हम गिर न जायें इसके लिए ऐसा ही तो समझायेगा कि सयम विष है, व्रत विष है, इनसे पार नही होते, क्योकि खुद तो शरीरके लोभके कारण सयमको आकाक्षा नही रखते तो दूसरोकी दृष्टिमे हम कैसे महान् कहला सकें उसके लिए यह ही वर्णन किया जा सकेगा, चाहे दूसरोका अनर्थ हो तो हो, पर एक अपने आपकी बढवारी हो।

(२१६) **असंयमकी आसक्ति व उच्च कहलवानेकी आकाक्षा इन दो दुर्भावोके सगम मे स्वपरविध्वसक प्रवृत्तिया**—कोई समय था जब कि एक उच्च वर्ग बहुत नियम सयमसे रहता था और तब ही तो भरत चक्रवर्तीने ब्रह्मवेदी वर्ण बनाया था कि जो खासकर त्यागी, ज्ञानी, विरक्त सन्यासीसे थे सबके गुरु बना दिए गए थे। कुछ दिन ऐसा ही चलता रहा, बाद मे वे गृहस्थ बने, बाल बच्चे हुए, कमाईकी आवश्यकता हुई, दूसरे सब काम करते गए, करते करते कुछ उनको मास खानेकी इच्छा जगी। सोचा कि लोकमे हम बडे कहलाते हैं सो ऐसा यत्न करें कि जिससे लोकमे हमारी पूज्यता भी बनी रहे और हम मासभक्षण भी करते रहे, फिर सोचा कि अगर हम मरे हुए जीवका मांस खाते हैं तो इसमे तो लोकनिन्दा होगी इस-लिए ऐसा उपाय रचा कि जिन्दा ही जीव अग्निमे झोक दें, उसे यज्ञका (धर्मकार्यका) नाम दे दें और उन जिन्दा ही अग्निमे भूने हुए मासका प्रसाद नाम देकर उनका भक्षण करें, यही यत्न उनका चलता रहा। जिन्दा ही घोडा, बकरा, भेड आदि पशुओको अग्निमे होम दिया जाता था और उनका मास प्रसादरूपमे भक्षण किया जाता था। यो प्रवृत्ति उनकी चली। तो जो बडे पुरुष होते हैं और उनके मनमे कोई खोटा काम करनेकी इच्छा होती है तो उसका ऐसा रूपक बनाते हैं कि दुनियामे हम गिर न जायें और हम अपना काम बनायें।

(२१७) **सयमके सर्वशा विफलत्वकी असंभावना**— भैया ! सोचो अपने अपने हितकी बात । मेरा देह, यह बेकार घिनावना शरीर, यो ही जायगा । इसको छोडकर जाना पड़ेगा । हम शुद्ध खान पानसे रहे तो । कुछ नियम धर्मसे रहे तो इसे फोकट ही जान लें तो भी क्या हर्ज है ? जहाँ दसो ही काम फोकट करते है वहाँ एक सयमका काम कर लें, जिसे बेकार समझते । तो हमारे सैकडो काम तो बेकार चल रहे है विषय साधनोके लिए, एक और सही बेकार, मगर एक पद्धतिमे परम्परामे रहनेसे कुछ तो लाभ होगा, मंद कषाय होगी, सुगतिका लाभ होगा, आगे स्वलक्ष्यमे बढेंगे, हाँ वस्तुस्वरूपके ज्ञानका अभ्यास न छोडें । इन दो बातोको खूब ध्यानमे रखें कि हम शक्ति अनुसार बाहरमे कुछ सयम रखें । रात्रिको न खावें, अभक्ष्य न खावें, शुद्ध भोजन करने आदिक हमारे व्यवहार ठीक रहे और भीतरमे हम अपने सहज ज्ञानस्वरूपकी उपासना बनाये रहे, क्योकि निश्चयतः तो यह ही करना है ना । ये तो बाहरके साधन है सो एक जरूरत पड गई । उन साधनोको करते है, उन पर साधनोसे चिपटकर तो नही रहना है याने दृष्टि लक्ष्य इन बाहरी प्रवृत्तियोपर नहीं रखना है, पर इतना साफ स्वच्छ ज्ञान बने कि क्रिया कलाप हमारा सहज चलता रहे । उसमे अधिक दिमाग नही लगाना पडता और भीतरमे अपने स्वरूपकी आराधनाका काम करते रहे । इस तरह स्वभाव की झाँकी होगी और स्वभावका हम अनुभव कर सके, एक तो ऐसा मनुष्य, और दूसरा ऐसा मनुष्य जो तीव्र कषाय रखता है, अधिक क्रोध, अधिक घमड, अधिक मायाचार और अपने स्वार्थका लोभ, तो ऐसी जो तीव्र कषाय रखता है, देखो शरीरको ऐश आराममे रखे रहनेका भाव बनाना भी तीव्र कषाय है । यह न समझें कि क्रोध ही तीव्र कषाय है । क्रोध तो द्वेष रूप तीव्र कषाय है । सो वह लोगोको दिख जाता है, मगर तृष्णा, लोभ, देहमे यशकी चाह यह भीतरी कषाय है जो दूसरोको नही दिखती मगर यह कषाय क्रोधसे भी तीव्र कषाय बन सकती है । इसलिए सोचो, देहको मुझे आराममे रखना है क्या ? नियम कुछ भी न करना, रात्रिको न खाना । भूख लगे तो तुरन्त खाना, चार-पाँच बार खाना, क्या यह जरूरी है ? अरे जब चाहे खाया, जो चाहे खाया, रात दिन न देखा, भक्ष्य अभक्ष्यका कुछ विचार न किया, ऐसी प्रवृत्ति जिनकी होती है, जरा सोचो तो सही कि देहमे आत्मबुद्धि है तब ही तो यह प्रवृत्ति होती है ? यह देह आराममे रहे, इसे कष्ट न हो, ऐसी जिनकी प्रवृत्ति है उनकी ही अविरतकी प्रवृत्ति ज्यादह रहती है । तो इस शरीरमे इतना मोह न रखें, इसे ऐश आराम मे बनाये रखनेकी बुद्धि न रखें । होने दो कष्ट । जब पापका उदय आता और बडे बडे कष्ट इसको झेलने पडते तो वहाँ तो इसे कुछ ध्यान होता है और यहाँ एक मद कषायके लिए भी कुछ कष्टसहिष्णु न होना चाहे तो भाई क्या हालत होगी सो आजकी दशा ही प्रमाण है ।

दो बातें अवश्य ध्यानमे रखें, हमारी व्यवहार परम्परा जो आगम चला आया उसमे गडबडी नही है और परम्परामें रहते हुए हम भीतरमे अपने ज्ञानस्वभावकी उपासना करे, यह ही ता काम करना है। सो भीतरका काम तो छोड दिया और कषाय भी जगा लो कि बाहर बाहर ही देखते रहना, यह दोष है, अमुक यो है, यह यो है, यह यो नही है। यह उपयोग प्रमाद है। अरे बाह्य एक मिनटमे निपट लें, अपने सद् व्यवहारमे रहकर और भीतरमें निरन्तर अपने स्वभावकी साधना करें, यह कहलाता है विवेक और भीतरका लक्ष्य छोड दें और बाहर ही बाहर घृणा, अमुक तमुक, इनमे उपयोग लगायें तो- अपनी बात सोचो, अपने कल्याणका मार्ग ऐसा नही है। हां तो जो तीव्र-कषायका लोभी है, जिसके तीव्र कषाय जग रही है वह तो नियम, तप, व्रत कुछ नही ले सकता। वह तो व्यवहार चारित्रका भी अपात्र ही रहता है। वह वस्तुस्वरूपके तथ्यको नही प्राप्त हो सकता तो वह स्वभावका दर्शन कैसे करेगा ?

(२१८) **अपनेको नियन्त्रित कर ज्ञानमे नियन्त्रित होनेका कर्तव्य**—एक बात चित्त मे रखो इस जगतमे हम केवल अकले है, अपने ही हम जिम्मेदार हैं। अपना ही हम बुरा कर लें, भला कर लें, पाप करें, पुण्य करें, धर्म करें, संसारमे रुलें, मोक्ष पायें, सब हमको अकेले ही करना है। मेरा कोई दूसरा सहायक नही है। तो अपनी वृत्ति ऐसी बनायें कि उलझनमे न रहें, शल्यमें न रहे और अपने ज्ञानस्वभावकी आराधनामे उत्तरोत्तर बढत रहे। इसके लिए अगर कोई ज्यादह ज्ञान नही पा रहा तो भी घबडानेकी बात नही। इतना भर जान लें कि ससारके सारे समागम बेकार हैं असार है, मैं इनको चित्तमे न बसाऊंगा। इतनी भर बुद्धि जगे और भीतरमे ऐसा पुरुषार्थ करें कि मुझे कुछ भी पदार्थका चित्तमे नही बसाना, ऐसा उद्यम करें और जिस क्षण चित्तमे कोई बाहरी पदार्थ न बसे उस क्षण अपने आप अपने भीतर स्वभावका दर्शन हो जायगा। मद कषायसे रहनेमे बहुत गुण हैं और मंद कषायका ही नाम व्यवहारधर्म है। मंदकषायका ही नाम शुभोपयोग है तो शुभोपयोगमे रह कर हम अपनेको पात्र बनाते है, लायक बनाते है कि हम अभेदज्ञानवृत्तिके बलसे स्वभाव का दर्शन कर सकें और ज्ञानका अनुभव बनायें। तो जो पुरुष ज्ञानदृष्टिका पात्र ही नही है वह विकल्पको छोड कैसे सकेगा ? वह स्वभावका अनुभव नही कर सकता। तो अब देखो निष्कर्षमे एक तो ऐसा कहना, कहते ही रहना जिन्दगीभर कि देखो कुछ भी नियम मत लो सम्यक्त्व पहले पैदा हो तब कोई नियम लेना। तो सम्यक्त्व पैदा होनेका कुछ ठिकाना नही चिन्ह भी नही, पहिचान भी नही। हां पहिचान तो है कि जिसे सम्यक्त्व हो जाय उसको सयमकी ओर चटापटी लगी रहती है। कब सयम लें, कब भवसे पार हो ? तो वे चिन्ह भी नही दिखतें और कुछ ज्ञानकी कोई बात भी न बनी और सयम भी कोई व्यवहारमें नही लिया, एक तो ऐसा पुरुष जो यह गाता ही रहे कि सब झूठ है, सब बेकार

है। सम्यक्त्व लें, पीछे व्रत करना। तथा दूसरा ऐसा पुरुष जो सम्यक्त्व प्राप्त करनेके उद्यम मे लगा है, ज्ञानस्वरूपकी उपासनाके प्रयासमें लगा है, निरन्तर वस्तुस्वरूपका अभ्यास बनाये रहता है और व्यवहारमे भी अपने नियमसे चलता है। अभक्ष्य पदार्थ नही खाना, रात्रि-भोजन नही करता, देवदर्शन करता, गुरुजनोका, ज्ञानी जनोका विनय करता, उनमे नम्रताका परिणाम रखता, साधु सतोकी वैयावृत्तिका भाव रखता, यह भी कर रहा है और भीतरमे सम्यक्त्वका उद्यम भी चल रहा है, ज्ञानसाधनाका काम भी कर रहा है। अब देखो यदि इस संयमप्रवृत्त पुरुषको ज्ञान जग गया, सम्यक्त्व हुआ तो वह सयम मोक्षमार्गका साधक बन जायगा, और सम्यक्त्व न हो तो भी उसका इतना तो परिणाम है कि उसे नरकगतिमे न जाना पडेगा। कोई धर्म प्रसंग वाली गति मिल गयी तो वह वहाँ मोक्षोपयोगी बाकी काम कर लेगा, जो धर्मके लिए काम करना है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इनकी पूर्ति करना है तो वहाँ कर लेगा। तो यहाँ यह देखो कि व्यवहारधर्ममे शुभोपयोगमे कोई रहता है तो उसका बुरा तो नही हुआ। जितना हो सकेगा उतना भला तो होगा पर बुरा न होगा।

(२१९) शुभोपयोग करते हुए शुभरागसे भी निवृत्तिका ज्ञानीका लक्ष्य—हाँ इतना ज्ञान अवश्य रखें कि शुभोपयोग और आत्मध्यान ये ही नही करते रहना है। यह तो एक ऐसी औषधि है कि जिसके बलसे ये औषधिके काम छूटें। जैसे कोई रोगी है तो वह दवा पीता है, कडवी हो या मीठी हो, उसे पीता है। उसके पीनेमे वह राग भी करता है। दवा मिलनेमे जरा देर हो गई तो वह बहुत झुझलाता है। पर यह बताओ कि क्या उसका आशय यह रहता है कि मुझे ऐसी ही औषधि जीवनभर पीनेको मिलती रहे? अरे उसे न पीना पडे इस आशयसे वह पीता है, बस यही स्थिति एक ज्ञानी पुरुषकी होती है। ज्ञानी भी तो रोगी है। वह अभी मोक्षमे तो नही पहुच गया। वह अभी बडे फसावमे है, अनेक उलझनोमे, परेशानियोमे उसे आना पडता है। घर भी लगा हुआ है। तो यह ज्ञानी शुभोपयोगको औषधि की तरह पालन करता है और तब ही तो देखो सवेरा होते ही मंदिरमे आता, पूजा करता, गुरुजनोकी यथाशक्ति सेवा करता, बड़ोसे नम्र बनकर र ता, इन सब शुभोपयोगोका पालन कर रहा, औषधि पो रहा यह ज्ञानी गृहस्थ। मगर मनमे यह भाव नही रखता कि ऐसा शुभोपयोग मैं अनन्तकाल तक करता रहूं। वह तो यही चाहता कि शुभोपयोगसे छूटकर मै कब शुद्धोपयोगमे रहूं। जैसे औषधि छूट जाय इसके लिए औषधि पी जाती, ऐसे ही सब प्रकारके राग छूट जायें इसके लिए ही शुभोपयोगको सेवता है। तो आप यह बतलावो कि कौनसा बेकार काम होगा? आप १०० काम तो बेकार करते और यहाँ सद्व्यवहारसे घृणा करनेका सकल्प बनाया, शुभोपयोगको पुण्यकी बात कहकर या सुनकर एक अपना चित्त ऐसा विकृत बनाया कि शुद्धोपयोगकी चर्चामे उतना समय नही देते जितना निन्दामे ही उ योग

रखते, संयमकी भावना भी न रही, तो बतलावो कौनसा बडा काम कर लिया ? और संयम मे रहकर भीतरमे ज्ञानस्वभावकी उपासना बनायें, उसका ज्ञान जग गया तो यह ही संयम मोक्षमार्गका साधक रहेगा। ज्ञान न जगे तो कमसे कम इस संयमके प्रतापसे सद्गति तो मिलेगी। तो मुक्तिके लिए जो काम मेरा रह गया था उसे हम वहाँ सम्हाल लेंगे। तो इस तरह व्यवहार विशुद्ध रखना होगा।

(२२०) सद्व्यवहारसे आत्माको सुरक्षित कर ज्ञानानुभूतिके परमपौरुषका कर्तव्य—भीतरमे अपने आत्मस्वभावकी दृष्टि बनावें। खूब सर्वमे समता भाव रखते हुए भीतरमे अपनी स्वभावदृष्टि बनावें। गुणी जनोंको देखकर हर्ष उमग उठे, ऐसी प्रकृति बनाकर आप अपने ज्ञानस्वभावकी उपासनामे लगें, ऐसा अपने आप काम कर सकेंगे भीतर, मगर दूसरेमे विरोध रखकर ज्ञान आराधनामे लगें यह बात न बन सकेगी। गुणी जनोंसे घृणा रखकर इस ज्ञानाराधनामे लगे, यह बात नही बन सकती। इसलिए व्यवहार सद्व्यवहार तो आपके लिए ढालकी तरह है कि आप सुरक्षित तो रह लेंगे, और सुरक्षित रहकर भीतरमे अपने इस ज्ञानको उपासनाके बलसे आप अपनेमे ज्ञान विकास करें, निर्विकल्प बने, ज्ञानानुभूति करें। इस तरहकी वृत्ति बनायें। दुनियामे कोई हमारा शरण नही, खुद ही खुदके शरण है, इसलिए खुदकी रक्षा और खुदका विकास जिस पद्धतिमे हो उस पद्धतिसे चलें। देह छूटेगा। आगे कुछ भविष्य अच्छा बने और ऐसा धर्मप्रसग मिलता रहे कि जिससे हम पार हो जायें। अब देखो पूजाके बाद आचार्यदेवने बताया है—समाधिभक्तिमे पूज्यपाद स्वामीने कि ७ भावनायें शास्त्राभ्यासो जिनपतिनति सगति सर्वदार्यैः। सद्वृत्तानां गुणगण कथा दोषवादे च मौन। सर्वस्यापि प्रिय हितवचो भावना चात्मतत्त्वे। संपद्यतां मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गः अर्थात् शास्त्रका अभ्यास, जिनेन्द्रदेवकी भक्ति, सदा सज्जनोंकी सगति, गुणियोंके गुण बखानना, किसी के दोष न बोलना, सबसे हितमित प्रिय वचन बोलना और अपने आत्मस्वभावकी भावना बनाये रहना। हे प्रभो, ये ७ बातें मुझे भव भवमे मिलें, जब तक कि मेरी मुक्ति न हो। तो ये ७ बातें एक ऐसी रक्षाको उपाय हैं कि जिनसे यह जीव धैर्य, शान्ति, संतोष, समता, ज्ञानानुभव आदि सभी अभीष्ट तत्त्वोंको प्राप्त करता है। इससे जो आचार्य संतोंके उपदेश हैं—सबमे मित्रता रखें, गुणियोंमे हर्षभाव रखें, दुखियोंको देखकर दयाका भाव लायें, अज्ञानी जनोंमे मध्यस्थता रखें, आवश्यकोंका पालन करें, ऐसा हम व्यवहार बनाकर सुरक्षित रहे और भीतरमे ज्ञानस्वभावकी खूब उपासना बनायें। निश्चयसम्यक्त्व, निश्चयज्ञान, निश्चयचारित्रके लाभके लिए अपने स्वभावका आलम्बन लें, भीतरमे काम अपना बनायें, भीतरमे अपनी रक्षाका साधन बनायें, ऐसी वृत्तिसे हम आप सबका अवश्य कल्याण होगा।

॥ सहजानन्द वस्तु-तथ्य प्रवचन समाप्त ॥

हर्षपूर्ण विज्ञप्ति

आध्यात्मिक संत न्यायाचार्य पूज्य श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसाद जी वर्णीके पट्टशिष्य अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी सहजानन्द जी महाराजने १६४२ ई० से समाजमे उपदेश, अध्यापन, चर्चा, शिक्षासस्थान-स्थापन आदि द्वारा जो समाजका उपकार किया है, उससे समाज सुपरिचित है। इसी बीच अपने अनेक आध्यात्मिक, दार्शनिक व धार्मिक विज्ञान सम्बन्धित ग्रन्थोका सरल रीतिसे निर्माण किया है तथा विशिष्ट ग्रन्थोपर आपके जो प्रवचन होते रहे है, उनको नोट कराया जाता रहा था, सो उनका भी सकलन हुआ है। कठिनसे कठिन ग्रन्थोपर जो सरल रीतिसे प्रवचन हुए है, उनको पढ़कर कल्याणका मार्गदर्शन व सत्य आनन्द प्राप्त हो जाता है। इसी कारण समाजने साहित्य-संस्थायें स्थापित की और उन सस्थाओ द्वारा महाराजश्री के ५४५ ग्रन्थोमे से करीब ३०० ग्रन्थ प्रकाशित हो गये।

अब समाजने ज्ञानप्रभावनाके लिये भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्यमन्दिरकी स्थापना की है, जिसका उद्देश्य स्वाध्यायार्थी बन्धुवो, मन्दिर एव लाइब्रेरियोंके लिये उक्त साहित्यको पौनी लागतसे भी कममे वितरित कराके ज्ञानप्रसार करना है। यदि किसी वर्ष शास्त्रदानमे अधिक रकम प्राप्त हो जाती है तो यह उक्त साहित्य तिहाई, चौथाई लागत तकमे भी वितरित किया जाता है। हमारी कामना है कि आत्महितैषी बधु इस साहित्यका अवश्य अध्ययन करके इस दुर्लभ मानवजीवनमे वास्तविक मायनेमे जीवनकी सफलता प्राप्त करें, जिससे कि सदाके लिये जन्म-मरणका सकट छूटे और सहज ज्ञान एव सहज आनदका निर्बाध पूर्ण अनत लाभ बना रहे। जो ग्रन्थ अभी छपे नही है उनकी प्रकाशन-व्यवस्था चालू है। श्री सहजानद साहित्य अभिनन्दन समिति २१/२७ शक्तिनगर दिल्ली, श्री भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिर व सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ, इनमे से किसीके भी सदस्य ५००) से लेकर ५०००) तक शुल्क वाले आजीवन सदस्य होते है। इन सदस्योको 'वर्णी प्रवचन प्रकाशिनी सस्था' मुजफ्फरनगरसे प्रकाशित मासिक पत्र 'वर्णी प्रवचन' भी भेंटस्वरूप प्रति माह भेजा जाता है। उक्त तीन सस्थावोमे किसीके भी कमसे कम ५००) शुल्क वाला आजीवन सदस्य बनने वालेको अब तकके प्रकाशित उपलब्ध ग्रथ भेंटमे दिये जाते हैं तथा भविष्यमे प्रकाशित सभी ग्रन्थ भेंटमे दिये जायेंगे। इस ही कोषसे ग्रन्थ प्रकाशित होते रहते है।

खेमचन्द जैन

मत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उ० प्र०)